छायावाद का सौन्दर्यशास्त्रीय अध्ययन

डॉ० कुमार विमल

आचार्य देवेन्द्रनाथ शर्मा
को

प्रस्तावना

प्रस्तुत ग्रन्थ में चार प्रमुख कला-तत्त्वों—सौन्दर्य, कल्पना, बिम्ब और प्रतीक का सौन्दर्यशास्त्रीय अध्ययन छायावादी कविता के विशेष सन्दर्भ में उपस्थित किया गया है। सर्वप्रथम 'छायावादी कविता की सामान्य पीठिका' शीर्षक अध्याय में यह बताया गया है कि किन कारणों से प्रमुख कला-तत्त्वों के सौन्दर्यशास्त्रीय अध्ययन को हिन्दी साहित्य की पृष्ठभूमि में परीक्षित और आलोचित करने के लिए छायावादी कविता सर्वोत्तम सन्दर्भ प्रदान करती है। इस अध्याय की स्थापनाओं से यह सिद्ध होता है कि कविता के सौन्दर्यशास्त्रीय अध्ययन के लिए काव्येतर ललित कलाओं के साथ उसका जो तात्त्विक अन्तःसम्बन्ध अपेक्षित है, वह छायावादी कविता में अन्य युगों की कविता की अपेक्षा अधिक मात्रा में उपस्थित है।

प्रमुख कला-तत्त्वों के सौन्दर्यशास्त्रीय अध्ययन को छायावादी कविता के विशेष सन्दर्भ में देखने का एक कारण यह भी है कि हिन्दी कविता के विभिन्न काल-खण्डों के बीच छायावाद, अन्य पक्षों के अलावा, एक कलात्मक आन्दोलन रहा है। यत्नज और अयत्नज कला की शोभा से छायावाद भूरिशः समृद्ध है। यहाँ यह विप्रतिपत्ति की जा सकती है कि रीतिकाल हिन्दी कविता में इससे भी बढ़कर कला-काल था। इसलिए काव्यकला के प्रमुख तत्त्वों का सौन्दर्यशास्त्रीय अध्ययन रीतिकाल के सन्दर्भ में किया जाना चाहिए। किन्तु, मेरे विचार से छायावाद इस कारण सौन्दर्यशास्त्रीय अध्ययन के अधिक अनुकूल पड़ता है कि छायावाद रचना और आलोचना—दोनों ही दृष्टिकोणों से सौन्दर्यशास्त्रीय पीठिका के निकट है। आलोचकों ने छायावादी कविता के विवेचन-विश्लेषण में क्रोचे और हीगेल जैसे सौन्दर्यशास्त्रियों के विचार-दर्शन की पर्याप्त चर्चा की है तथा छायावाद के अधिकांश प्रमुख कवि भी कांट, हीगेल और क्रोचे के दर्शन से सुपरिचित होने के साथ ही अंग्रेज़ी तथा बंगला के उन रोमांटिक कवियों की कृतियों से परिचित थे, जिन पर सौन्दर्यशास्त्रीय कला-चिन्तन का प्रभूत प्रभाव था। इस तरह यह निर्विवाद है कि छायावादी कवि और कविता का पाश्चात्य सौन्दर्यशास्त्र और सौन्दर्य-बोध से निकट परिचय रहा है। प्रसाद, पन्त और महादेवी की भूमिकाओं तथा निबन्धों से कांट, हीगेल और क्रोचे की सौन्दर्यशास्त्रीय मान्यताओं के साथ उनका पूरा परिचय प्रमाणित होता है।

इतना ही नहीं, छायावादी कविता के सौन्दर्य-बोध और कल्पना-विधान पर भी पाश्चात्य साहित्य का असंदिग्ध प्रभाव है। पन्त ने स्पष्ट लिखा है कि "द्विवेदी-युग के काव्य की तुलना में छायावाद इसलिए आधुनिक था कि उसके सौन्दर्य-बोध और कल्पना में पाश्चात्य साहित्य का पर्याप्त प्रभाव पड़ गया था।"[1] इसलिए छायावादी कविता के कलात्मक तत्त्वों के विवेचन-विश्लेषण में पाश्चात्य सौन्दर्यशास्त्रीय मान्यताओं का प्रसंगानुसार उपयोग अनुचित नहीं है। तदनन्तर चित्रात्मकता, संगीत-चेतना इत्यादि के मधुर मिश्रण के कारण छायावादी कविता में ललित कलाओं के तात्त्विक अन्त:सम्बन्ध के अनेक प्रमाण मिलते हैं, जिनका विस्तृत विवेचन 'छायावादी कविता की सामान्य पीठिका' शीर्षक अध्याय में प्रस्तुत किया गया है। प्रमुख छायावादी कवियों के बीच केवल जयशंकर प्रसाद सैद्धान्तिक धरातल पर (व्यवहारत: नहीं) काव्य को कलाओं में परिगणित करने के विरोधी थे, जिनके तर्कों का निरसन यथास्थान किया गया है।

इस प्रबन्ध के अन्तर्गत छायावादी कविता के विवेचन-विश्लेषण में इन चार कवियों— प्रसाद, निराला, पन्त और महादेवी को विशेषत: ध्यान में रखा गया है तथा सौन्दर्यशास्त्रीय मान्यताओं को उदाहृत और विवृत करते समय इन्हीं कवियों की रचनाओं का उपयोग किया गया है। एक सीमित क्षेत्र में गहराई से विचार करने के लिए तथा छायावाद की प्रतिनिधि प्रवृत्तियों के अतिरिक्त अनावश्यक प्रसंगान्तरों से बचने के लिए इसमें 'वृहत्तर' छायावाद या 'गौण' छायावादी कवियों की रचना का विशेष उपयोग नहीं किया गया है। इतना ही नहीं, विवेचन-विश्लेषण को अधिक केन्द्रित रखने के लिए इन चार प्रमुख छायावादी कवियों की भी छायावादोत्तर या छायावादेतर कृतियों को अधिक महत्त्व नहीं दिया गया है। जैसे, पन्त के प्रसंग में 'गुंजन' के बाद की प्रगतिशील कविताओं को मुख्यत: दृष्टिपथ में नहीं रखा गया है। इसी तरह निराला के काव्य की विवेचना करते समय 'कुकुरमुत्ता' और 'नये पत्ते' जैसी रचनाओं का विशेष उपयोग नहीं किया गया है। आशय यह है कि छायावाद के

---

१. पन्त, आधुनिक कवि, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, छठा संस्करण, 'पर्यालोचन', पृ० १७। इसी 'पर्यालोचन' की इन पंक्तियों से भी पन्त के उक्त मन्तव्य की पुष्टि होती है—"पल्लव-काल में मैं उन्नीसवी सदी के अंग्रेजी कवियों—मुख्यत: शेली, वर्ड्स्वर्थ, कीट्स और टेनिसन—से विशेष रूप से प्रभावित रहा हूँ; क्योंकि इन कवियों ने मुझे मशीन-युग का सौन्दर्यबोध और मध्यवर्गीय संस्कृति का जीवन-स्वप्न दिया है। रवि बाबू ने भी भारत की आत्मा को पश्चिम की, मशीन-युग की, सौन्दर्य-कल्पना में ही परिधानित किया है।"—वही, पृ० १९।

उक्त प्रमुख कवियों में भी इनकी उन्हीं रचनाओं का अधिकतर उपयोग किया गया है, जो रचना-विधान, प्रवृत्ति, विषय-चयन और अभिव्यक्ति-भंगिमा की दृष्टि से छायावादी काव्य का प्रतिनिधित्व करती हैं।
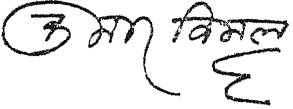
अब तो यह माना जाने लगा है कि किसी भी काव्य-कृति या काव्य-प्रवृत्ति का आलोचनात्मक अध्ययन तभी परिपूर्ण और उत्तम हो सकता है, जबकि वह काव्यशास्त्र या साहित्यालोचन के साथ ही सौन्दर्यशास्त्र के अधीत तत्त्वों तथा निर्धारित मान्यताओं से आलोक ग्रहण कर निष्पन्न हो। इसलिए आधुनिक आलोचना में सौन्दर्यशास्त्रीय या कलाशास्त्रीय मान्यताओं को स्वायत्त करने की बलवती प्रवृत्ति पैदा हो गई है। विकास-क्रम की दृष्टि से आलोचना पहले नाट्यशास्त्र, तब काव्यशास्त्र, उसके बाद साहित्यशास्त्र और अन्त में सौन्दर्यशास्त्र (कलाशास्त्र) बनती है। अतः इस समय विश्व-साहित्य में आलोचना को काव्यशास्त्रीय मानदण्ड के अलावा एक सुचिन्तित सौन्दर्यशास्त्रीय आधार देने की प्रच्छन्न अथवा प्रकट चेष्टा चल रही है। सौन्दर्यशास्त्रीय आधार के बिना किसी भी साहित्यिक कृति के कलात्मक एवं साहित्येतर तत्त्वों का सम्यक् विश्लेषण नहीं हो पाता है। विशेषकर काव्यालोचन के लिए कलाशास्त्रीय आधार की आवश्यकता और भी गहरी है, क्योंकि कविता का अन्य ललित कलाओं के साथ गहन तात्त्विक अन्तःसम्बन्ध है। इसीलिए अब साहित्यालोचन, विशेषकर काव्यालोचन को काव्यशास्त्रीय धरातल से ऊपर उठकर कलाशास्त्रीय धरातल पर प्रतिष्ठित होना चाहिए। दूसरी ओर, इस लक्ष्य की पूर्ति के लिए सौन्दर्यशास्त्र को व्यावहारिक आलोचना के धरातल पर उतरना चाहिए। व्यावहारिक आलोचना के धरातल से दूर रहना सौन्दर्यशास्त्र के लिए भी हितावह नहीं है, क्योंकि व्यावहारिक आलोचना की प्रवृत्ति के बिना सौन्दर्यशास्त्र ललित कलाओं के दार्शनिक विकल्पों और समस्याओं का सैद्धान्तिक निरूपण-मात्र बनकर रह जाता है। अब वह समय आ गया है, जबकि सौन्दर्यशास्त्र और आलोचनाशास्त्र को समीप आ जाना चाहिए। अब तक सौन्दर्यशास्त्र के बीच बहुत भ्रामक दूरी रखी गई है। इस दूरी ने सौन्दर्यशास्त्र और आलोचनाशास्त्र—दोनों का अपकार किया है। यह दूरी इसलिए भी भ्रामक है कि आलोचक को अपने कार्य की सम्यक् सिद्धि के लिए सौन्दर्यशास्त्र का और सौन्दर्यशास्त्री को अपने व्यावहारिक विश्लेषणों की वस्तुनिष्ठ परिणति के लिए आलोचनाशास्त्र का सहारा लेना पड़ता है। जब एक सौन्दर्यशास्त्री किसी कलाकृति की निपुणता, उच्चावच शोभा या अभिव्यक्ति-लाघव का विश्लेषण करता है, तब वह किसी आलोचक से भिन्न नहीं रहता है और जब कोई आलोचक आलोच्य कृति के विवेचन-विश्लेषण के बाद सूक्ष्म सैद्धान्तिक

धारणाओं या दार्शनिक प्रत्ययों को प्रस्तुत करता है, तब वह किसी सौन्दर्य-शास्त्री से भिन्न कार्य नहीं करता है। सच यह है कि सौन्दर्यशास्त्र आलोचना के धरातल पर उतरकर निकष बन जाता है और आलोचना सौन्दर्यशास्त्रीय स्तर पर पहुँचकर ज्ञान-कोष बन जाती है। अतः इस ग्रन्थ में इन दोनों को एक अयुतसिद्धावयव स्वरूप देने का विनम्र प्रयास किया गया है।

इस शोध-प्रबन्ध के सैद्धान्तिक अंश 'सौन्दर्यशास्त्र के तत्त्व' को हिन्दी के गम्भीर पाठकों एवं देश-विदेश के सौन्दर्यशास्त्र के विशेषज्ञों का जो स्नेह मिला, उससे निश्चय ही लेखक को अपने श्रम की सार्थकता का अनुभव हुआ है। यों लेखकअपनी सीमाओं से परिचित है, जिनके अपाकरण के लिए वह निरन्तर प्रयत्नशील है। इस दिशा में लेखक को सौन्दर्यशास्त्र के गम्भीर अध्येता और बिहार के वर्तमान राज्यपाल आदरणीय श्री नित्यानन्द कानूनगो से जो प्रेरणा मिली है, उसके लिए वह उनका सदैव आभारी रहेगा।

पटना,
२६ जनवरी, १९७०

विषय-सूची

प्रथम अध्याय

छायावादी कविता : सामान्य पीठिका

छायावादी कविता : सामान्य पीठिका

ललित कलाओं का तात्त्विक मिश्रण, विशेषकर काव्य, चित्र और संगीत को परस्पर निकट लाकर उनके कुछ प्रमुख तत्त्वों का अधिकतम एकीकरण स्वच्छन्दतावाद (रोमाण्टिसिज़्म) की एक विशिष्ट प्रवृत्ति है। अत: स्वच्छन्दतावादी प्रकृति से निकट पड़ने के कारण छायावादी कविता में भी काव्येतर ललित कलाओं के तात्त्विक समावेश की विशेष रुचि है। जब-कभी काव्य-जगत् में स्वच्छन्दतावादी लहर चलती है, तब उसमें ललित कलाओं का मधुमेल छा जाता है। सच तो यह है कि काव्य ही नहीं, सभी कलाएँ अपने रोमाण्टिक युग में अन्य भगिनी कलाओं से अधिक प्रभावित रहती हैं। फलस्वरूप, स्वच्छन्दतावादी (रोमाण्टिक) युग की कविता भी काव्येतर कला के प्रमुख तत्त्वों और विधाओं को अपनी सीमारेखा में समाविष्ट करने की विशेष प्रवृत्ति रखती है। इसलिए प्रस्तुत अध्याय में छायावादी कविता की सामान्य पीठिका इस रूप में प्रस्तुत की जा रही है कि छायावादी कविता में व्याप्त कला-संगम की प्रवृत्ति तथा सौन्दर्यशास्त्रीय अध्ययन के लिए अपेक्षित, काव्येतर कलाओं के साथ इसके तात्त्विक अन्त:संबंध का उद्घाटन हो सके।

इस उद्देश्य की सिद्धि के लिए यहाँ समाजशास्त्रीय, काव्यशास्त्रीय, मनोवैज्ञानिक अथवा अन्य एतादृश दृष्टियों को छोड़कर छायावाद का अध्ययन केवल पाँच दृष्टियों से किया जाएगा—

१. छायावादी कवियों के द्वारा कविता में काव्येतर ललित कलाओं के पारस्परिक अन्त:संबंध की सिद्धान्तत: स्वीकृति।

२. रोमाण्टिक प्रवृत्ति की दृष्टि से छायावाद।

३. यूरोपीय साहित्य, विशेषकर, अंग्रेज़ी कविता का रोमाण्टिक आन्दोलन और छायावाद।

४. इस तुलनात्मक दृष्टि से छायावाद की निजी विशेषताएँ, प्रधानत: छायावाद की पृष्ठभूमि में काम करनेवाली स्वदेशी सांस्कृतिक अन्तर्धारा।

५. व्यावहारिक धरातल पर विभिन्न ललित कलाओं, विशेषकर काव्य, चित्र और संगीत के तात्त्विक अन्त:संबंध की दृष्टि से छायावाद।

छायावादी कवियों के द्वारा कविता में काव्येतर ललित कलाओं के पारस्परिक अन्तःसंबंध की सिद्धान्ततः स्वीकृति अनेक रूपों में मिलती है। कारण, छायावादी कवियों ने अपने गद्य-लेखों में यत्र-तत्र कलाओं के सामान्य स्वरूप पर मौलिक ढंग से सोचने का प्रयास किया है तथा ललित कलाओं के तात्त्विक अन्तःसंबंध को सैद्धान्तिक धरातल पर स्वीकार किया है। जैसे, कविता तथा काव्येतर कलाओं के स्वरूप पर **निराला** ने 'काव्य में रूप और अरूप'[1] तथा 'कला और देवियाँ'[2] शीर्षक निबन्ध में, **प्रसाद** ने 'काव्य और कला'[3] शीर्षक निबन्ध में, **'पन्त'** ने 'कला का प्रयोजन'[4] शीर्षक लेख तथा **'पल्लव'** की भूमिका

---

१. 'प्रबन्ध-पद्म', निराला, गंगा पुस्तकमाला, लखनऊ, संवत् २०११, पृ० १५१।

२. 'चाबुक', निराला, निरुपमाप्रकाशन, प्रयाग, १९६२, पृ० ६५।

३. 'काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध', प्रसाद, भारती भण्डार, प्रयाग, सं० २०१०, पृ० २७। इसके अलावा प्रसाद ने अन्य रचनाओं में भी यत्र-तत्र ललित कलाओं के अन्तः-संबंध का संकेत किया है। जैसे, मातृगुप्त के इस कथन में,—"कवित्व वर्णमय चित्र है, जो स्वर्गीय भावपूर्ण संगीत गाया करता है।"—प्रसाद, 'स्कन्दगुप्त विक्रमादित्य', भारती भण्डार, प्रयाग, दसवाँ संस्करण, प्रथम अंक, पृ० २१।

४. 'गद्य-पथ', सुमित्रानन्दन पन्त, साहित्य भवन, इलाहाबाद, १९५३, पृ० १४१। इस लेख के अलावा पन्त ने यत्र-तत्र अपनी कविताओं में भी ललित कलाओं के दर्शन पर विचार किया है। जैसे, 'शिल्पी' शीर्षक काव्य-रूपक में। (द्रष्टव्य—'शिल्पी', पन्त, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, पृ० १३) अथवा 'इन्द्रधनुष' शीर्षक कविता की इन पंक्तियों में—

> ललित कलाओं से धरती का रूप बने मनुजोचित,
> शोभा के स्रष्टा हों जन, जीवन के शिल्पी जीवित।
> भावी स्वप्न दृगों में, उर में ही सौन्दर्य अपरिमित,
> काव्य चित्र संगीत नृत्य से जन जीवन सुख स्पन्दित।
>
> —पन्त, 'स्वर्णकिरण', भारती भण्डार, इलाहाबाद, प्रथम संस्करण, पृ० ९१।

पन्त ने 'ज्योत्स्ना' नाटिका के उत्तरार्द्ध में भी अपने कला-दर्शन को यत्र-तत्र स्पष्ट किया है। इनकी पहली मान्यता यह है कि लोक-मंगल की दृष्टि से सभी कलाएँ समान हैं, क्योंकि कलाकार को "काव्य, संगीत, चित्र, शिल्प द्वारा मनुष्य के सम्मुख जीवन की उन्नत मानवी मूर्तियों को स्थापित करना है।" 'ज्योत्स्ना', भारती भण्डार, इलाहाबाद, द्वितीय संस्करण, पृ० ५०) इनकी दूसरी मान्यता यह है कि सभी कलाओं का मूल वह सौन्दर्य है, जो अनेकता में एकता के अन्वेषण से पैदा होता है— "......अनेकता में जीवन की एकता का आभास दिखाना कवि, चित्रक एवं कलाकार का काम है। और, यही कला का सौन्दर्य है। मुट्ठी-भर धूल में कला समस्त ब्रह्माण्ड के दर्शन करा देती है। अनेकता के असमंजस में खोए हुए हृदय को एकत्रित कर कला उसे मनुष्य की आत्मा में केन्द्रित कर देती है।" (वही, पृ० ८३) तदनन्तर, इनकी तीसरी मान्यता यह है कि श्रेष्ठ कला के सौन्दर्य में सत्य और जीवन के सजीव यथार्थ का समावेश रहता

में और **महादेवी** ने **'सांध्यगीत'** तथा **'दीपशिखा'** की भूमिका और **'क्षणदा'** के कुछ निबन्धों में तात्त्विक और दार्शनिक दृष्टि से विचार किया है; साथ ही, काव्य को अन्य कलाओं के विस्तृत सन्दर्भ में रखकर देखने-परखने की चेष्टा की है।

छायावादी कवियों के बीच **महादेवी वर्मा** ने काव्य एवं ललित कलाओं के स्वरूप पर तात्त्विक दृष्टि से सर्वाधिक विचार किया है। इनके कला-चिन्तन पर **हीगेल** का स्पष्ट प्रभाव लक्षित होता है। ललित कलाओं की पारस्परिक उत्कृष्टता का विश्लेषण करते हुए इन्होंने लिखा है, "जो कला भौतिक उपकरणों से जितनी अधिक स्वतंत्र होकर भावों की अधिकाधिक व्यंजना में समर्थ हो सकेगी, वह उतनी ही अधिक श्रेष्ठ समझी जाएगी। इस दृष्टि से भौतिक आधार की अधिकता और भाव-व्यंजना की अपेक्षाकृत न्यूनता से युक्त वास्तुकला हमारी कला का प्रथम सोपान और भौतिक सामग्री के अभाव और भाव-व्यंजना की अधिकता से पूर्ण काव्यकला उसका सबसे ऊँचा अन्तिम सोपान मानी जाएगी। चित्रकला वास्तुकला की अपेक्षा भौतिक आधार से स्वतंत्र होने पर भी काव्यकला की अपेक्षा अधिक परतंत्र है; कारण वह देश के ऐसे कठिनतम बन्धन में बँधी है, जिसमें चित्रकला बने रहने के लिए उसे सदा ही बँधा रहना होगा।"[1] स्पष्टतः यहाँ **हीगेल** के कला-सिद्धान्त का प्रभाव **महादेवी** के विचार पर लक्षित होता है। इसी तरह विभिन्न ललित कलाओं के विविध स्वरूप-गुण पर **महादेवी** ने गहन चिन्तन किया है। इन्होंने श्रव्य और चाक्षुष कलाओं के बीच प्रेषणीयता तथा ग्राह्यता के स्तर-भेद को इंगित करते हुए लिखा है कि "कलाओं में काव्य जैसी श्रव्य कलाओं की अपेक्षा चित्र जैसी दृश्य कलाओं की ओर मनुष्य स्वभावतः अधिक आकर्षित रहता है। मूर्तिकला, चित्रकला आदि दृश्य कलाएँ एक ही साथ हमारे नेत्र, स्पर्श और मन की तृप्ति कर सकती थीं, इसी से वे हमें अधिक सुगम और तात्कालिक आनन्ददायिनी जान पड़ीं। विशेषकर चित्रकला मूर्तिकला के काठिन्य से रहित और रंगों से सजीव होने के कारण अधिक आदृत हो सकी। यह बोधगम्य इतनी अधिक है कि शैशव में कठिन-से-कठिन ज्ञान इसके द्वारा सहज हो जाता है।······प्राचीन

है—"कला अपना अस्तित्व जीवन में लय कर जब तक उससे तदाकार नहीं हो जाती, उसके मूर्त्त हाथ सत्य की ज्वाला को नहीं पकड़ सकते। सर्वोच्च कलाकार वह है, जो कला के कृत्रिम पट में जीवन की निर्जीव प्रतिकृतियों का निर्माण करने के बदले अस्थि-मांस की इन सजीव प्रतिमाओं में अपने हृदय से सत्य की साँसें भरता है, उन्हें सम्पूर्णता का सौन्दर्य प्रदान करता है।" (वही, पृ० ८४)

१. महादेवी, 'सांध्यगीत', भारती भण्डार, प्रयाग, संवत् २००९ वि०, अपनी बात, पृ० १२-१३।

काल में इसने मनुष्य के निकट कितना सम्मान पाया, इसका निदर्शन अजन्ता तथा एलोरा के गह्वरों में अंकित चित्र हैं। पुरातन काल की सभी पौराणिक कथाएँ चाहे विरही यक्ष से संबंध रखती हों, चाहे राजा दुष्यन्त से......बिना इस कला के मानो पूर्ण ही न होती थीं।"[१] इन श्रव्य और दृश्य कला-प्रकारों पर भेद-दृष्टि से सोचने के अलावा **महादेवी** ने कलाओं के समग्र रूप पर विषय और विधान के महत्त्व की दृष्टि से भी विचार किया है। सौन्दर्यशास्त्र की यह एक बहुचर्चित समस्या है कि कला-जगत् में विषय (कॉन्टेंट) अधिक महत्त्वपूर्ण है अथवा विधान (फॉर्म)। अर्थात्, किसी कलाकृति की उत्कृष्टता उसके विषय के महत्त्व पर निर्भर करती है अथवा उसके विधानगत सौष्ठव पर। कला-चिन्तन के इस पुराने प्रश्न पर **महादेवी** तथा **निराला** के विचार **क्रोचे** से मिलते-जुलते हैं। और, यह स्वाभाविक भी है, क्योंकि हिन्दी के एकाधिक आलोचकों की दृष्टि में **क्रोचे** के अभिव्यंजनावाद ने छायावादी कवियों की कला और चिन्तन-सरणि को प्रभावित किया है। **महादेवी** ने कला में विषय और विधान के महत्त्व की विवेचना करते हुए लिखा है, "विषय पर कोई कला निर्भर नहीं रहती। सच्चे चित्रकार की तूलिका भगवान् बुद्ध की चिर-शान्त मुद्रा अंकित करके भी धन्य हो सकती है और कन्धे पर हल लेकर घर लौटनेवाले कृषक का चित्र बनाकर भी अमर हो सकती है। कलाकार अमरता का विधायक स्वयं हो सकता है; परन्तु, तभी, जब उसकी कला उसकी अनवरत साधना में तप-तप कर खरा सोना बनकर निकलती है।"[२] ठीक ऐसी ही मान्यता **निराला** ने अपने अभिव्यक्ति-सिद्धान्त को निरूपित करते हुए स्थापित की है, "उक्ति की उच्चता का विचार ही ठीक होता है, कोई ईश्वर पर लिखे या प्रिया पर।"[3] इस प्रकार ललित कलाओं के क्षेत्र में विषय और विधान के महत्त्व पर छाया-वादी कवियों के विचार **क्रोचे** की धारणा के निकट हैं।

महादेवी ने ललित कलाओं के तात्त्विक पक्ष पर **'दीपशिखा'** की भूमिका ('चिन्तन के कुछ क्षण') में गम्भीर विचार किया है, जिसके विश्लेषण से यह पता चलता है कि कलाओं के तात्त्विक पक्ष और सौन्दर्यशास्त्रीय स्वरूप पर **महादेवी वर्मा** छायावादी कवियों के बीच सर्वाधिक जागरूक हैं। उक्त भूमिका में **महादेवी** ने ललित कलाओं की उत्पत्ति और विकास, ललित कला और उपयोगी कला का स्वरूप-भेद, विविध ललित कलाओं का बाह्य पार्थक्य और उनका पारस्परिक तात्त्विक अन्तःसंबंध—इन सभी सौन्दर्यशास्त्रीय समस्याओं

---

१. महादेवी वर्मा, 'क्षणदा', भारती भण्डार, इलाहाबाद, संवत् २०१३, पृ० ५१-५२।

२. वही, पृ० ५५।

३. निराला, 'प्रबन्ध-प्रतिमा', भारती भण्डार, इलाहाबाद, १९४०, पृ० २७९।

पर गहन दृष्टि से विचार किया है। जैसे, कलाओं की उत्पत्ति के संबंध में **महादेवी** की धारणा यह है कि "वहिर्जगत् से अन्तर्जगत् तक फैले और ज्ञान तथा भाव-क्षेत्र में समान रूप से व्याप्त सत्य की सहज अभिव्यक्ति के लिए माध्यम खोजते-खोजते ही मनुष्य ने काव्य और कलाओं का आविष्कार कर लिया होगा। कला सत्य को ज्ञान के सैकत-विस्तार में नहीं खोजती, अनुभूति की सरिता के तट से एक विशेष बिन्दु पर ग्रहण करती है।"[१] तदनन्तर, ललित कलाओं के विकास के संबंध में **महादेवी** का कथन है कि एक ही प्रकार के सांस्कृतिक सृजन की इच्छा से सभी ललित कलाओं का विकास हुआ है। ज्यों-ज्यों मनुष्य के मन में उद्वेलित होनेवाली सांस्कृतिक सृजन की इच्छा सूक्ष्म से सूक्ष्मतर होती गई, त्यों-त्यों सूक्ष्म से सूक्ष्मतर कला-प्रकारों की सृष्टि भी होने लगी। इसी तरह मनुष्य ने वास्तुकला से काव्यकला तक के सृजन की सांस्कृतिक यात्रा तय की।[२] कलाओं की उत्पत्ति और विकास के अलावा **महादेवी** को लालित्य और उपयोगिता के आधार पर कलाओं के विभाजन की समस्या ने अधिक झकझोरा है। उपयोगी कला और ललित कला के दो टूक विभाजन की समस्या ने पाश्चात्य सौन्दर्यशास्त्र में **अरस्तू** और **प्लेटो** के काल से ही अपनी जड़ जमा ली थी। किन्तु, **महादेवी** की तात्त्विक दृष्टि को उपयोगी और ललित कलाओं का यह स्फीत पार्थक्य स्वीकार नहीं है, क्योंकि उपयोगिता और लालित्य में कोई अनिवार्य स्थितिबाध अथवा अन्योन्याभाव संबंध नहीं है।[3] अतः इनका मत है कि "उपयोग की कला और सौन्दर्य की

---

१. 'दीपशिखा', महादेवी वर्मा, भारती भण्डार, इलाहाबाद, संवत् २०११, पृ० ४।

२. "सत्य पर जीवन का सुन्दर तानाबाना बुनने के लिए कला-सृष्टि ने स्थूल-सूक्ष्म सभी विषयों को अपना उपकरण बनाया। वह पाषाण की कठोर स्थूलता से रंग-रेखाओं की निश्चित सीमा, उससे ध्वनि की क्षणिक स्थिति और तब शब्द की सूक्ष्म व्यापकता तक पहुँची अथवा किसी और क्रम से यह जान लेना बहुत सहज नहीं। परन्तु शब्द के विस्तार में कला-सृजन को पाषाण की मूर्तिमत्ता, रंग-रेखा की सजीवता, स्वर का माधुर्य—सब-कुछ एकत्र कर लेने की सुविधा प्राप्त हो गई। काव्य में कला का उत्कर्ष एक ऐसे विन्दु तक पहुँच गया, जहाँ से वह ज्ञान को सहायता दे सका।"
—'दीपशिखा', भारती भण्डार, इलाहाबाद, संवत् २०११, पृ० ७-८।

३. इस मान्यता की विवृत्ति करते हुए महादेवी ने लिखा है—"कला शब्द से किसी निर्मित पूर्ण खण्ड का ही बोध होता है और कोई भी निर्माण अपनी अन्तिम स्थिति में जितना सीमित है, आरम्भ में उतना ही फैला हुआ मिलेगा। उसके पीछे स्थूल जगत् का अस्तित्व, जीवन की स्थिति, किसी अभाव की अनुभूति, पूर्ति का आदर्श, उपकरणों की खोज, एकत्रीकरण की कुशलता आदि का जो इन्द्रजाल रहता है, उसके अभाव में निर्माण की स्थिति शून्य के अतिरिक्त कौनसी संज्ञा पा सकेगी। चिड़िया का कलरव कला न होकर कला का विषय हो सकेगा, पर मनुष्य के गीत को कला कहना होगा।

कला को लेकर बहुत-से विवाद संभव होते रहे, परन्तु कला के ये भेद मूलतः एक-दूसरे से बहुत दूरी पर नहीं ठहरते ।"[1]

तदनन्तर, **महादेवी** की सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण मान्यता काव्य एवं काव्येतर ललित कलाओं के तात्त्विक अन्तःसंबंध से सम्बद्ध है। प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध के प्रथम खण्ड[2] के प्रथम अध्याय में ललित कलाओं के तात्त्विक अन्तःसंबंध की सैद्धान्तिक विवेचना की जा चुकी है और यह देखा गया है कि दृश्य कलाओं के बीच चित्रकला से काव्य का निकटतम संबंध है ।[3] **महादेवी** की भी मान्यता है कि "कलाओं में चित्र ही काव्य का अधिक विश्वस्त सहयोगी होने की क्षमता रखता है । मूर्त्ति कठिनतम सीमाओं में बँधी होने के अतिरिक्त रंगों की पृष्ठभूमि असंभव कर देती है। उसमें एक ही भाव को मूर्त्तिमत्ता दी जा सकती है और वह भी रंगहीन।"[४] इस प्रकार इन्होंने काव्य के लिए चित्र के सर्वोपरि विश्वस्त सहयोगी होने के कारण का स्पष्टीकरण करते हुए लिखा है, "माध्यम की दृष्टि से चित्र सूक्ष्म और स्थूल के मध्य में स्थिति रखता है । देश-सीमा के बन्धन में रहते हुए भी वह रंगों की विविधता और रेखाओं की अनेकता के सहारे काव्य को रंगरूपात्मक साकारता दे सकता है। अमूर्त्त भावों का जितना मूर्त्त वैभव चित्रकला में सुरक्षित रह सकता है, उतना किसी अन्य कला में सहज नहीं; इसीसे हमारे प्राचीन चित्र जीवन की स्थूलता को जितनी दृढ़ता से सँभाले हैं, जीवन की सूक्ष्मता को भी उतनी ही व्यापकता

एक में वह सहज प्रवृत्ति मात्र है। पर दूसरे ने सहज प्रकृति के आधार पर अनेक स्वरों को विशेष सामंजस्यपूर्ण स्थिति में रख-रखकर एक विशेष रागिनी की सृष्टि की है जो अपनी सीमा में जीवनव्यापी सुख-दुखों की अनुभूति को अक्षय रखती है। इस प्रकार प्रत्येक कलाकृति के लिए निर्माण-सम्बन्धी विज्ञान की भी आवश्यकता होगी और उस विज्ञान की सीमित रेखाओं में व्यक्त होनेवाले जीवन के व्यापक सत्य की अनुभूति की भी। जब हमारा ध्यान किसी एक पर ही केन्द्रित हो जाता है, तब दोनों को जोड़ने वाली कड़ियाँ अस्पष्ट होने लगती हैं।" —वही, पृ० ८ ।

१. 'दीपशिखा', महादेवी वर्मा, भारती-भण्डार, इलाहाबाद, पृ० ८ ।

२. 'सौन्दर्यशास्त्र के तत्त्व', राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, १९६७ ।

३. श्री मुकुटधर पाण्डेय ने जबलपुर से प्रकाशित 'श्री शारदा' के १९२० ई० के जुलाई, सितम्बर, नवम्बर और दिसम्बर के अंकों में 'हिन्दी में छायावाद' शीर्षक निबन्ध-माला में सर्वप्रथम छायावादी कविता के कला-संगम को निर्दिष्ट करते हुए लिखा था कि "छायावादी कविता में चित्रकारी और संगीत का अपूर्व एकीकरण है।" —'श्री शारदा', वर्ष १, १३ सितम्बर, १९२०, संख्या ६, पृ० ३४२। किन्तु, इन्होंने सितम्बर, १९२० में छायावादी काव्य की जिस कला-संगमवाली प्रवृत्ति को संकेतित किया, उस पर अब तक विस्तृत और व्यवस्थित कार्य नहीं हो सका है।

४. 'दीपशिखा', महादेवी वर्मा, भारती भण्डार, इलाहाबाद, संवत् २०११ विक्रम, पृ० ६०।

से बाँधे हुए हैं ।"[1] किन्तु, यहाँ हम ललित कलाओं के तात्त्विक अन्तःसंबंध की दृष्टि से यह निर्देश करना चाहेंगे कि **महादेवी** की कविताओं में जहाँ चित्रकला से अत्यन्त निकटता का निर्वाह है, वहाँ मूर्त्तिकला की ईषत् छाया भी है; कारण, **महादेवी** ने स्वयं लिखा है कि "कुछ अजन्ता के चित्रों पर विशेष अनुराग के कारण और कुछ मूर्त्तिकला के आकर्षण से, चित्रों में यत्र-तत्र मूर्त्ति की छाया आ गई है । यह गुण है या दोष—यह तो मैं नहीं बता सकती, पर इस चित्र-मूर्त्ति-सम्मिश्रण ने मेरे गीत को भार से नहीं दबा डाला है, ऐसा मेरा विश्वास है ।"[2]

इस तरह उपर्युक्त विवेचन से यह सिद्ध है कि छायावादी कवियों के पास ललित कलाओं के स्वरूप पर एक सुचिन्तित दृष्टिकोण था और वे ललित कलाओं के तात्त्विक अन्तःसंबंध के प्रति पूर्णतः जागरूक थे । इसलिए ललित कलाओं की तात्त्विक पटभूमि पर छायावादी कविता का सौन्दर्यशास्त्रीय अध्ययन किया जाना अपेक्षित है । किन्तु, यहाँ हम उक्त विवेचन के आधार पर छायावादी कविता के सौन्दर्यशास्त्रीय अध्ययन के औचित्य को प्रतिपादित कर यह प्रसंग प्रस्तुत अध्याय के अन्तिम अंश के लिए स्थगित करते हैं, जिसमें विविध कलाओं, विशेषकर संगीत और चित्रकला के तात्त्विक अन्तःसंबंध की दृष्टि से छायावादी कविता का व्यावहारिक अध्ययन उपस्थित किया जाएगा ।

उपरिनिर्दिष्ट अध्ययन को सांगोपांग और परिपूर्ण बनाने के लिए परम्परा (क्लासिसिज़्म) और स्वच्छन्दता (रोमांटिसिज़्म) की दृष्टि से छायावादी कविता पर विचार करना आवश्यक है, क्योंकि जब किसी कला में 'रोमांटिक' प्रवृत्तियाँ फैलती हैं, तब उसमें इतर कलाओं से तत्त्व-ग्रहण की प्रवृत्ति भी बढ़ जाती है। अतः इस विशिष्ट मान्यता को तर्कसम्मत और सुनिर्णीत बनाने के लिए रोमाण्टिक प्रवृत्तियों की दृष्टि से छायावादी कविता के स्वरूप को समझ लेना आवश्यक है । हिन्दी आलोचना-साहित्य में छायावादी कविता की तुलना प्रायः यूरोपीय, विशेषकर अंग्रेज़ी 'रोमाण्टिक' कविता के साथ की जाती रही है, किन्तु, विचारकों ने इस ओर नगण्य ध्यान दिया है कि छायावादी कविता के कलात्मक निवेश में 'रोमाण्टिक' प्रवृत्तियों के कारण कौन-सी तात्त्विक विशेषताएँ समाविष्ट हो गईं ।

कला-जगत् में 'क्लासिकल' और 'रोमाण्टिक'—ये दो विशेषण प्रायः परस्पर विरोधी अर्थ में प्रयुक्त होते रहे हैं । अतः 'क्लासिकल' शब्द की अर्थ-प्रतिपत्ति और 'क्लासिकल' कला के स्वरूप को समझे बिना 'रोमाण्टिक' कला के रूप-

---

१. दीपशिखा, महादेवी, भारती भंडार,इलाहाबाद, संवत् २०११ विक्रम, पृ० ६०।
२. वही, पृ० ६१ ।

तत्त्वगत वैशिष्ट्य को ठीक-ठीक समझ लेना कठिन है। पाश्चात्य कला-चिन्तन और सौन्दर्यशास्त्र में 'क्लासिकल' शब्द तीन अर्थों में प्रयुक्त होता रहा है। पहले अर्थ में यह शब्द उच्च श्रेणी (हाई क्लास) का द्योतक है, जिसके अन्तर्गत आनेवाली रचना के अभिशंसन के लिए एक प्रकार की उत्कृष्ट बौद्धिक क्षमता अनिवार्य होती है। ऐसी उत्कृष्ट बौद्धिक क्षमता से सम्पन्न पाठक को अंग्रेज़ी साहित्य वाले 'हाई ब्राउ रीडर्स' कहते हैं। स्पष्ट है कि इस अर्थ के अनुसार 'क्लासिकल' शब्द का कोई संबंध किसी काल-विशेष से नहीं है। अर्थात्, किसी भी काल या युग में 'क्लासिकल' कला की सृष्टि हो सकती है। दूसरे अर्थ में 'क्लासिकल' शब्द से किसी कलाकृति के 'कालातीत' रहने की व्यंजना होती है। इस अर्थ के अनुसार वह कलाकृति 'क्लासिकल' होती है, जो क्रूर काल के जीवन-हर प्रहारों से कभी नहीं झुलसती[1] और रससंवेदना की दृष्टि से कभी भी पुरानी नहीं होती है। इसी तथ्य को हम शब्द-भेद से कह सकते हैं कि कोई भी कलाकृति अपनी रचना के बाद एक विस्तृत काल-खण्ड से गुज़र जाने के उपरांत ही 'क्लासिकल' या इसका विपरीत सिद्ध हो सकती है। सामान्यतः कला की दृष्टि से १९वीं शताब्दी का प्रथम चरण 'क्लासिकल' कला का अवसान और 'रोमाण्टिक' कला का प्रारम्भ माना जाता है। तीसरे अर्थ में 'क्लासिकल' शब्द 'रोमाण्टिक' के विपरीतार्थक रूप में प्रयुक्त होता रहा है। इस अर्थ के अनुसार 'क्लासिकल' कला वह है, जिसमें जातीय विवेक, पारम्परीण संस्थिति (ट्रैडिशनल ऐटिट्यूड) तथा शास्त्रीयता की सुरक्षा हो और, इसके विपरीत 'रोमाण्टिक' कला वह है, जिसमें कल्पना और आवेग (पैशन) की प्रचुरता हो, पुरातन-प्रतिपादित मान्यताओं का विरोध हो एवं सपनों की रंगीनी के साथ गीले प्रेम का गायन हो।[2] इस अर्थ में 'क्लासिकल' और 'रोमाण्टिक' परस्पर नितान्त भिन्न एवं एक-दूसरे के विलोम हैं।

---

१. *R. W. S. Mendl,* The Soul of Music, London, 1950, p. 212.

२. हिन्दी के अधिकांश आलोचकों ने 'रोमाण्टिसिज़्म' और छायावाद के सम्बन्ध में ऐसी ही धारणाएँ व्यक्त की हैं। द्रष्टव्य—(क) पण्डित नन्ददुलारे वाजपेयी, 'आधुनिक साहित्य', भारती भण्डार, प्रयाग, पृ० ३८६। (ख) डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी, 'छायावादी कविता की प्रेरणा-भूमि', 'अवन्तिका', काव्यालोचनांक, पटना, वर्ष २, अंक १, जून १९५४, पृ० २१२। (ग) डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी, भूमिका, देवराज उपाध्यायकृत 'रोमाण्टिक साहित्यशास्त्र', आत्माराम एण्ड सन्स, दिल्ली, १९५१, पृ० १। (घ) पंडित विश्वनाथप्रसाद मिश्र, 'परिचय' शीर्षक भूमिका, मनोहरलाल गौड़ कृत 'घनानन्द और स्वच्छन्द काव्यधारा'; नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, संवत् २०१५ विक्रम, पृ० ५।

'क्लासिकल' शब्द की तरह 'रोमाण्टिक' भी तीन अर्थों में प्रयुक्त होता रहा है। प्रथम अर्थ में 'रोमाण्टिक' कला वह है, जिसमें किशोर तत्त्व (ऐड्‌ले'-सॅन्स) अधिक हो—प्रेम, कल्पना और संवेग की प्रचुरता हो। द्वितीय अर्थ में 'रोमाण्टिक' कला वह है, जो स्थापित नियमों के विरुद्ध स्वच्छन्द मार्ग पर चलती हो। तीसरे अर्थ में 'रोमाण्टिक' कला वह है, जिसमें विषय की उपेक्षा और शैली या विधान की चूड़ान्त प्रधानता हो। **आचार्य रामचन्द्र शुक्ल** ने 'रोमाण्टिक' शब्द को इसी अर्थ में स्वीकार किया था। इस प्रकार स्पष्ट है कि 'क्लासिक' की तरह 'रोमाण्टिक' शब्द भी कई अर्थों में प्रयुक्त होता रहा है। साधारणतः 'रोमाण्टिक' शब्द का अर्थ होना चाहिये—"वह जो 'रोमान्स लैंग्वेजेज़' यानी फ्रेंच, स्पेनिश, इटालियन और पोर्तुगीज़ से संबंधित हो।" किन्तु, मध्यकाल में 'रोमाण्टिक' शब्द का प्रयोग इस अभिनव अर्थ में होने लगा कि 'रोमान्स' या 'रोमाण्टिक' प्रवृत्ति 'वर्नाकुलर' लैटिन की तुलना में साहित्यिक लैटिन का विभाजक गुण है। तदनन्तर, 'रोमान्स' का प्रयोग 'होल्-इ ग्रेल'[1] की तरह होने लगा—प्रेम और प्रेमिका के लिए युद्धार्थ वीर भाव। इस तरह 'रोमाण्टिक' का अर्थ हो गया—मध्यकालीन 'रोमान्स' के गुण; अर्थात् यथार्थ से पलायन, दूरस्थ और अनिश्चित के प्रति प्रेम शैली और संवेग में उन्मुक्तता तथा चित्रोपमता, सौन्दर्य और भावावेश की प्रधानता।

किन्तु, इस प्रसंग में हमें यह स्मरण रखना है कि परस्पर विपरीतार्थक होकर भी 'क्लासिक' और 'रोमाण्टिक' उन दो समानान्तर रेखाओं की तरह नहीं हैं, जो कभी मिल ही नहीं पातीं। बल्कि कला का इतिहास हमें यह बतलाता है कि 'क्लासिकल' काल में भी 'रोमाण्टिक' रचनाएँ होती हैं और 'रोमाण्टिक' युग में भी 'क्लासिकल' रचनाएँ होती हैं। इतना ही नहीं, 'क्लासिकल' कलाकार भी 'रोमाण्टिक' रचना करता है और 'रोमाण्टिक' कवि भी 'क्लासिकल' साहित्य पैदा करता है। अतः न कोई काल या वाद या व्यक्ति निरपेक्ष रूप में 'क्लासिकल' या 'रोमाण्टिक' होता है, बल्कि मनुष्य की वृत्तियाँ ही 'क्लासिकल' और 'रोमाण्टिक' होती हैं। अतः प्रधानता के मुताबिक उसकी रचनाएँ कभी 'क्लासिकल' और कभी 'रोमाण्टिक' कहलाती रहती हैं, यद्यपि गोवलीवर्द न्याय से ये दोनों प्रवृत्तियाँ सदैव एक-दूसरे में विद्यमान रहती हैं।[2] प्रवृत्ति की दृष्टि से इन दोनों ('क्लासिकल' और 'रोमाण्टिक') मानव-वृत्तियों का नवजागरण और पुनर्जागरण साहित्य एवं कला-जगत् में सतत चलता रहता है। बीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में भी एक 'क्लासिकल' नवजागरण आया,

---

१. Holy Grail.

२. *T. S. Eliot*, Selected Prose, 1953, p. 31.

जिसका संबंध फ्रांस में **पॉल वैलरी** और अंग्रेज़ी में **टी० ई० ह्यूम**,[१] **एज़रा-पाउण्ड** तथा **टी० एस० इलियट** के साहित्य के साथ जोड़ा जा सकता है । इसी तरह शायद, हिन्दी का द्विवेदी युग भी एक 'क्लासिकल' नवजागरण था । किन्तु, इतना सच है कि जब मनुष्य की 'रोमाण्टिक' प्रवृत्तियाँ जगती हैं और जब 'रोमाण्टिक' काव्य का सृजन होता है, तब कल्पना और संभावना के प्रति अधिक आकर्षण तथा शैलीगत नवान्वेषणप्रियता के कारण कलाकार के हृदय में काव्येतर कलाओं के लिए एक व्यापक राग जगता है । 'क्लासिकल' काव्य में 'अति अहं' (सुपर-ईगो) की प्रधानता के कारण रूढ़ि, परम्परा और नियमबद्धता का अधिकतम निर्वाह रहता है,[२] जिसके कारण कवि अन्य कलाओं से सहायता लेकर विषय अथवा विधान के क्षेत्र में कोई नवान्वेषण नहीं कर पाता, किन्तु, रोमाण्टिक काव्य में 'इद'[3] यानी रागावेगों के आधिपत्य के कारण परम्परा, रूढ़ि और नियमों को तोड़कर कवि विषयगत और विधानगत नवान्वेषण के लिए इस तरह व्याकुल रहता है कि उसे नये ढंग से काव्येतर कलाओं की सहायता लेनी पड़ती है । फलस्वरूप, रोमाण्टिक युग में कला-संगम की एक विशिष्ट प्रवृत्ति रहती है । उदाहरणार्थ, रोमाण्टिक काव्य का गीतात्मकता के साथ अनिवार्य संबंध है । अत: उसमें संगीत की उपस्थिति अनिवार्य है । **हीगेल** ने इस बात पर बल दिया है कि यद्यपि रोमाण्टिक काव्य विषय और विधान के पारस्परिक संबंधों की दृष्टि से अन्य काव्य-प्रकारों की तुलना में अनेक वैशिष्ट्य रखता है, तथापि उसकी गीतात्मकता उसका सर्वोपरि व्यावर्त्तक गुण है ।[४] तदनन्तर, रोमाण्टिक काव्य में संवेग, भावुकता, प्रेम इत्यादि से संबद्ध वैयक्तिक अनुभूतियों को कवि अभिव्यक्त करना चाहता है । अत: उन सूक्ष्म और व्यक्तिगत अनुभूतियों की अभिव्यक्ति को प्रेषणीय और सहृदयग्राह्य बनाने के लिए कवि को अपने बिम्बों में विशेष आयास के साथ सम्मूर्त्तन और चित्रात्मकता भरने की आवश्यकता होती है, जिसके कारण 'रोमाण्टिक' काव्य में 'क्लासिकल' काव्य की अपेक्षा चित्रकला का तात्त्विक समावेश अधिक रहता है ।

---

१. "The view which regards man as a well, a reservoir full of possibilities, I call the romantic; the one which regards him as a very finite and fixed creature I call the classical."
—*T. E. Hulme*, Speculations, London, 1960, p. 117.

२. *F. L. Lucas*, Literature And Psychology, London, 1951, p. 100.

३. Id.

४. *Hegel*, The Philosophy of Fine Art, Volume II, translated by Osmaston, London, 1920, p. 295.

कुछ विचारकों ने प्रकृति के प्रति कवि की एक विशिष्ट दृष्टिभंगी को 'क्लासिकल' और 'रोमाण्टिक' काव्य का विभाजक गुण माना है। जैसे **सैमुएल अलेक्ज़ाण्डर** ने, जिनके अनुसार 'क्लासिकल' और 'रोमाण्टिक' की गणना सौन्दर्यशास्त्रीय प्रतिपक्षों (ईस्थे'टिक ऑपॅज़िशन्स) में होनी चाहिये,[1] कवि या कलाकार के द्वारा गृहीत प्रकृति के स्वरूप को 'क्लासिकल' और 'रोमाण्टिक' के बीच विभाजक गुण के रूप में स्वीकार किया है। इनका मत है कि जब कलाकार प्रकृति को यथासंभव उसके प्रकृत रूप में ग्रहण करता है तथा प्रकृति पर अपनी भावनाओं की रंगामेजी का अपेक्षाकृत कम आरोप करता है, तब 'क्लासिकल' कला की सृष्टि होती है; किन्तु, जब कलाकार प्रकृति के ग्रहण में आत्मभाव का अत्यधिक प्रक्षेप करता है और प्रकृति के व्यक्तित्व पर अपने भावों का भरपूर आलिम्पन कर देता है, तब 'रोमाण्टिक' कला की रचना होती है।[2] स्पष्ट है कि यह धारणा छायावादी कविता पर भी लागू होती है और कुछ दूर तक हमारे विश्लेषण के अनुकूल पड़ती है; किन्तु, प्रकृति-ग्रहण-संबंधी इस विशिष्ट दृष्टिभंगी को 'क्लासिकल' ओर 'रोमाण्टिक' के कई विभाजक गुणों में एक मान सकते हैं, पर एकमात्र गुण नहीं।

छायावादी कविता पर 'क्लासिकल' और 'रोमाण्टिक' काव्य की दृष्टि से विचार करते समय **क्रोचे** की एतद्संबंधी धारणाएँ बहुत महत्त्वपूर्ण सिद्ध होती हैं, क्योंकि 'क्लासिकल' और 'रोमाण्टिक' का अन्तर बतलाते हुए **क्रोचे** ने 'रोमाण्टिसिज़्म' की जो व्याख्या की है, वह छायावाद पर अच्छी तरह से लागू होती है। **क्रोचे** का कथन है कि 'रोमाण्टिक' कवि विधान(फॉर्म)की अपेक्षा विषय (कॉन्टे'न्ट) पर अधिक बल देता है। वह अपने विषय या भाव की ईमानदार अभिव्यक्ति में इतना तन्मय रहता है कि विधान-पक्ष के बन्धन शिथिल ही नहीं होते, टूट भी जाते हैं।[3] छायावादी कविता में छन्द-बन्धनों के प्रति विद्रोह, काव्य-रूढ़ियों के भंजन और व्याकरणगत नियमों के उल्लंघन का कारण भी कविता के विषय-पक्ष के प्रति अधिक सचेत होना है, क्योंकि छन्द-बन्धनों, काव्य-रूढ़ियों और व्याकरण के नियमों के अनिवार्य पालन से विषय का तारतम्य टूट जाता है, भाव-दशा की तन्मयता बाधित हो जाती है। तुक मिलाने में भाव रूठ

---

१. *S. Alexander*, Beauty And Other Forms of Values, London, 1933. p. 168.

२. *S. Alexander*, Beauty And Other Forms of Values, London, 1933, p. 169-170.

३. *Croce*, qouted on page I, The Romantic Theory of Poetry, by A. E. Powell, London, 1926.

जाते हैं और मात्रा या वर्णों की मैत्री बैठाने में अनुभूतियों का अन्तःसंगीत मग्न हो जाता है।

तदनन्तर, **क्रोचे** ने भी यह स्वीकार किया है कि 'क्लासिसिज़्म' और 'रोमाण्टिसिज़्म' काव्य के दो नितान्त भिन्न गुण नहीं हैं। एक ही कवि 'क्लासिक' और 'रोमाण्टिक'—दोनों हो सकता है। ततोधिक, सभी महान कवि क्लासिक और रोमाण्टिक—दोनों होते हैं, केवल मध्यम या उपेक्षणीय कोटि के कवि ही विशुद्ध रोमाण्टिक या विशुद्ध क्लासिक होते हैं।[१] छायावादी कवियों के बीच भी, विशेषकर **प्रसाद** और **निराला** की कुछ रचनाओं में, हम रोमाण्टिक के साथ क्लासिक प्रवृत्तियाँ पाते हैं। विशुद्ध रोमाण्टिक कवि विचार-जगत् से दूर केवल संवेदनों (सेन्सेशॅन्स) के लोक में विचरण करता है।[२] इस प्रसंग में यह विचारणीय है कि छायावादी कविता में हम सामान्य रोमाण्टिक कविता की तरह 'काल्पनिक संवेदन' (आइडिएटेड सेन्सेशॅन्स) की प्रधानता पाते हैं। काल्पनिक संवेदन का आशय उस प्रकार के संवेदनों से है, जो कल्पना से उत्पन्न और कल्पना में ही स्थित रहते हैं तथा जिनका उत्प्रेरण अनुभूत संवेदनों की तरह बाह्य जगत् की वस्तुओं या 'इदम्' के अंशों का साक्षात् सन्निकर्ष नहीं हुआ करता। सागर से अपरिचित कवि जब अपार जल-राशि की अनन्त नीलिमा का, धरती की मंगलामुखियों से परिचित कवि जब गगन से रश्मिरथ पर उतरती हुई सुरबालाओं या पंख फैलाकर उड़ती हुई अप्सराओं का रोचक वर्णन करता है, तब वह इसी प्रकार के काल्पनिक संवेदनों से काम लिया करता है। रोमाण्टिक प्रवृत्ति की कविताओं और ऊहात्मक पद्धति पर रची गई कविताओं में काल्पनिक संवेदनों की प्रधानता मिलती है। आशय यह है कि कल्पना से उत्पन्न और कल्पना में ही स्थित संवेदन को 'काल्पनिक संवेदन'[३] कहा जाता है। ऐसे काल्पनिक संवेदनों पर **बर्नार्ड बेरेन्सन** ने सौंदर्यशास्त्रीय दृष्टि से विस्तारपूर्वक विचार किया है और यह प्रतिपादित करने की चेष्टा की है कि किस प्रकार के काल्पनिक संवेदन कला के लिए हितावह सिद्ध होते हैं तथा

---

१. *A. E. Powell,* The Romantic Theory of Poetry, London, 1926, p. 2.

२. 'The Romantic poet lives a life of sensations rather than of thought.'—*Keats,* Letter, Nov. 22, 1817.

३. "Ideated sensations...are those that exist only in imagination."—*Bernard Berenson,* Aesthetics And History, London, 1950, p. 64.

किस प्रकार काल्पनिक संवेदन भी अनुभूत संवेदनों की सहायता लेते हैं ।[1]

इस तरह क्लासिकल काव्य की तुलना में रोमाण्टिक कविता के ये प्रधान लक्षण माने जा सकते हैं—मानव-अनुभूतियों को परम मूल्य देना, तर्क-बुद्धि की जगह संवेग को अधिक महत्त्व देना, अभिव्यक्ति और शैली के स्वीकृत नियमों से अधिक विपय-पक्ष की सुरक्षा को महत्त्व देना तथा विधान (फॉर्म) के क्षेत्र में स्वतन्त्रता और ललित व्यंजना के प्रति विशेष साकांक्ष होना, फलस्वरूप, काव्येतर ललित कलाओं के प्रति भी आग्रही होना । स्पष्ट है कि रोमाण्टिक काव्य के ये सभी लक्षण छायावादी कविता में कुछ-न-कुछ अंशों में अवश्य मिलते हैं ।

किन्तु, छायावादी कविता पर 'रोमाण्टिसिज़्म' की दृष्टि से विचार करते समय यूरोप की, विशेषकर अंग्रेज़ी की रोमाण्टिक कविता और हिन्दी की छायावादी कविता के रूपों, प्रेरक तत्त्वों और परिस्थितियों के साम्य-वैषम्य का अवलोकन कर लेना आवश्यक है, क्योंकि छायावादी कविता पर अंग्रेज़ी रोमाण्टिक कविता का प्रभाव प्रायः इतने बलिष्ठ स्वर में घोषित किया जाता रहा है कि छायावादी कविता का स्वतन्त्र व्यक्तित्व ही अपहृत हो जाता है । सच तो यह है कि यूरोप की रोमाण्टिक कविता और छायावादी कविता के प्रेरक तत्त्वों और परिस्थितियों में पर्याप्त अन्तर है । काल की दृष्टि से भी इन दोनों में उल्लेखनीय पार्थक्य है ।

यूरोप में रोमाण्टिक कविता का आरम्भ प्रायः फ्रांस की राज्यक्रान्ति के बाद हुआ और १८१० ईस्वी तक आते-आते रोमाण्टिक लहर समूचे यूरोप में फैल गई (जिसे साहित्य के इतिहास-ग्रन्थों में 'रोमांटिक ट्रायम्फ़' कहा जाता है), जबकि हिन्दी साहित्य में छायावाद १९२० ईस्वी के आसपास ही अपना स्पष्ट स्वरूप ग्रहण कर सका । इस प्रकार छायावादी कविता यूरोप की, विशेषकर अंग्रेज़ी की रोमाण्टिक कविता से उम्र में लगभग एक सौ वर्ष छोटी है । हाँ, यूरोप की रोमाण्टिक कविता के तीन चरणों ('रोमांटिक रिवोल्ट', 'रोमांटिक ट्रायम्फ़' और 'रोमांटिक सर्वाइवल)[2] में अन्तिम चरण के साथ, जिसके उन्नायक **डब्ल्यू० बी० यीट्स, डब्ल्यू० एच० ऑडेन** और **डिलन टॉमस** हैं,[3] छायावादी कविता का कालगत साम्य बैठ सकता है ।

---

१. *Bernard Berenson,* Aesthetics And History, London, 1950, p. 66-67.

२. 'Romantic Revolt, Romantic Triumph and Ramantic Survival'.

३. *John Bayley,* The Romantic Survival, London, 1957, p. 77.

तदनन्तर, यूरोप की रोमाण्टिक कविता के पीछे प्रेरक रूप में राजनीतिक और आर्थिक परिस्थितियाँ प्रधान थीं। **कार्लाइल,**[१] **जार्ज पर्नूड, सेबाइन फ्लेजियर** प्रभृति द्वारा फ्रांस की राज्यक्रान्ति पर लिखित पुस्तकों से यही ज्ञात होता है। इंगलैण्ड में भी रोमाण्टिक कविता के अभ्युदय के समय आर्थिक और राजनीतिक प्रश्न ही प्रधान थे।[२] किन्तु, हिन्दी कविता के छायावादी आन्दोलन के पीछे वह सांस्कृतिक नवजागरण प्रधान था, जिसका सूत्र-संचालन ब्रह्मसमाज, प्रार्थना-समाज, आर्यसमाज, थियोसॉफिकल सोसाइटी, रामकृष्ण परमहंस, विवेकानन्द, अरविन्द इत्यादि ने किया था। इसे स्वीकार करने में किसी विप्रतिपत्ति की गुंजाइश नहीं होनी चाहिए कि छायावादी आन्दोलन के पीछे भारतीय सभ्यता और संस्कृति की वैचारिक पीठिका का प्रमुख हाथ है। इस दृष्टि से भारत को झकझोरने वाले वे सामाजिक, धार्मिक, दार्शनिक और सुधारवादी आन्दोलन बहुत ही महत्त्वपूर्ण हैं, जो अठारहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध से लेकर बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ तक चलते रहे। वस्तुतः यह काल भारत के सांस्कृतिक आदर्शों के आलोड़न का काल रहा है। इस समय अधिकांश भारतवासी राजनीतिक पराभव से उद्भूत पराजय की भावना से पीड़ित होकर भारतीय संस्कृति के प्राचीन आदर्शों और उनकी शक्तिमत्ता में अविश्वास करने लगे थे। उनमें हीनता की सबल ग्रन्थि पैदा हो गई थी और वे समुद्र लाँघकर अपने देश में आये हुए जेताओं की संस्कृति को बहुत प्रलुब्ध दृष्टि से देख रहे थे। इस प्रकार उस समय रिक्थ-क्रम से आये हुए भारतीय संस्कृति के प्रतिमान उक्त कारणों से बालू की भीत की तरह ढहने-ढहने को थे। किन्तु, यूरोपीय संस्कृति के इसी सम्मोहन-काल में कुछ ऐसे आन्दोलनकारी व्यक्ति भारत में पैदा हुए, जिन्होंने धार्मिक, दार्शनिक और सामाजिक पुनर्मूल्यांकन को स्वीकार करते हुए अपने देश के प्राचीन आदर्शों को ही कल्याण-कल्प सिद्ध किया। इन्हीं आन्दोलनकारी व्यक्तित्वों के सहारे समूचे देश में जो सुधारवादी लहर चली और देश के एक कोने से दूसरे कोने तक सांस्कृतिक नवजागरण की जो अन्तःसलिला प्रवाहित हो गई, उसका समीकृत प्रभाव छायावादी कविता की पृष्ठभूमि में अंकित है। सामाजिक, दार्शनिक और धार्मिक परिसर में व्याप्त इस सांस्कृतिक नवजागरण ने ब्रह्मसमाज, प्रार्थनासमाज, आर्यसमाज, थियोसॉफिकल सोसाइटी, रामकृष्ण मिशन इत्यादि कई रूपों में अपना विस्तार किया।

---

१. *Thomes Carlyle,* The French Revolution, London, 1837.

२. "Romanticism both in England and France is associated with certain political views."—*T. E. Hulme*, Speculations, Edited by Herbert Read, London, 1960, p. 115.

ब्रह्मसमाज की दार्शनिक पृष्ठभूमि में उपनिषदों के ब्रह्मवाद से लेकर ईसाई और मुस्लिम विचारादर्शों तक का समाहार था। अतः ब्रह्मसमाज का दृष्टिकोण हिन्दू धर्म के प्रति सुधारवादी आग्रह रखने पर भी मूलतः मानवतावादी दृष्टिकोण था। ब्रह्मसमाज के सामाजिक आन्दोलन का एक पक्ष नारियों की बन्धनमुक्ति से संबद्ध था। इसने हिन्दुओं की वैधव्य प्रथा का पुरजोर विरोध किया और विधवा-विवाह का समर्थन किया। **निराला** की 'विधवा' शीर्षक कविता[1] में ब्रह्म समाज के इस पक्ष का प्रभाव देखा जा सकता है। इतना ही नहीं, छायावादी कविता में हम नारी को जिस सांस्कृतिक शोभा-सुषमा के रूप में पाते हैं और जिस नारी-रूप का प्रभूत प्रभाव छायावादी कविता की सौन्दर्य चेतना पर पड़ा है, उसका आंशिक श्रेय ब्रह्मसमाज की नारी-दृष्टि को भी है। कुल मिलाकर ब्रह्मसमाजी आन्दोलन से छायावादी कवियों ने नारी-मुक्ति, मानवतावाद और विधवा-विवाह के समर्थन को ग्रहण किया। साथ ही, ब्रह्मसमाजी आन्दोलन में यूरोप की नवीनताओं के प्रति वर्जना के बदले जो समादर का भाव था, उसे छायावादी कवियों ने कविता के शिल्प-क्षेत्र में स्वीकार किया। छायावादी कवियों ने जिस उन्मुक्त भाव से **शेली, वर्डस्वर्थ, कीट्स** और **कॉलरिज** की काव्य-शैली को प्रलुब्ध दृष्टि से देखा, उसके लिए अनुकूल मानसिक पृष्ठभूमि पैदा करने में ब्रह्मसमाज की यूरुपोन्मुखता का अवश्य हाथ रहा होगा। एतादृश अन्य बातों से भी यह समर्थित होता है कि छायावाद केवल व्यक्तिवाद का काव्यात्मक उदय या अंग्रेजी के रोमाण्टिक साहित्य और **रवि बाबू** का अनुकरणमात्र नहीं था, बल्कि छायावाद का गहरा संबंध उस हिन्दू नवोत्थान (हिन्दू रिनेसाँ) से था, जिसका सूत्र-संचालन **राजा राममोहन राय, केशवचन्द्र सेन, स्वामी दयानन्द सरस्वती, एनीबेसेण्ट** इत्यादि ने किया था।

ब्रह्मसमाज की स्थापना के लगभग चालीस वर्ष बाद स्वामी **दयानन्द सरस्वती** ने आर्यसमाज के आन्दोलन का श्रीगणेश किया। इस आन्दोलन ने ब्रह्मसमाज की तरह यूरोपीय संस्कृति को नतशिर होकर स्वीकार नहीं किया और वैदिक धर्म के विशुद्ध प्रतिमानों को अपना आदर्श मान लिया। आर्य-समाज के इस वैदिक दर्शन का पर्याप्त प्रभाव छायावादी कविता की दार्शनिक पृष्ठभूमि पर पड़ा है। छायावादी कविताओं में प्राप्त वेदवाद, अपौरुषेयता में विश्वास और पुनर्जन्म में आस्था आर्यसमाजी विचारों के ही प्रकारान्तर प्रभाव हैं। स्वामी **दयानन्द** के हिन्दी-प्रेम ने हिन्दी के लेखकों को बहुत प्रभावित किया

---

१. परिमल, निराला, गंगा पुस्तक माला, लखनऊ, संवत् १९८६, पृ० १०० ।

था,[1] क्योंकि उन्होंने देश की एकता के लिए राष्ट्रभाषा की एकता का प्रश्न उठाया था और गुजराती होकर भी हिन्दी में भाषण और लेखन को प्रश्रय दिया था। तदनन्तर, छायावादी कविता में वैदिक दर्शन के क्वाचित्क प्रभाव के अलावा भारत के गौरवपूर्ण अतीत के प्रति हमें जो निबिड़ मोह या श्रद्धा का भाव मिलता है, उसका बहुत बड़ा श्रेय आर्यसमाज को है। यों प्रत्येक देश का रोमाण्टिक साहित्य अपनी पीठ पर आँख लेकर पैदा होता है अर्थात् अतीत को बहुत ही लुभावनी दृष्टि से देखता है, तथापि यह संभव था कि ब्रह्मसमाजी प्रभाव या भारतीय क्षितिज पर यूरोप के उदय से पराजित होकर छायावाद अपने देश के गौरवपूर्ण अतीत को भूलकर केवल पाश्चात्य साहित्य का मुखापेक्षी बनकर रह जाता। किन्तु, आर्यसमाज ने इस द्विधा या विचिकित्सा से छायावाद की रक्षा की और वैदिक काल की सांस्कृतिक धरोहर के प्रति छायावादी कवियों में उदग्र श्रद्धा पैदा कर दी। हमें यह स्वीकार है कि आर्यसमाज का आचार-पक्ष और उसकी पवित्रतावादी भावना छायावाद की कोमल भावनाओं के विपरीत तथा द्विवेदीयुगीन वर्जनाओं के अनुकूल पड़ती थी तथापि यह निश्चित है कि आर्यसमाज ने जिस नवजागरण का संचार किया, उसका प्रकारान्तर-प्रभाव छायावाद पर पड़ा था।

इस प्रकार छायावाद के आगमन से पूर्व भारतवर्ष एकाधिक सामाजिक-धार्मिक आन्दोलनों से आलोड़ित हो रहा था और उसकी शिराओं में चलनेवाला चेतना-प्रवाह इन दस्तकों, दचकों और धक्कों से उद्विग्न होकर बहुत ही तीव्रता के साथ गतिमान हो गया था। इस आलोड़न-काल के एक और सामाजिक-धार्मिक-दार्शनिक आन्दोलन ने छायावाद को महत्त्वपूर्ण ढंग से प्रभावित किया, जो रामकृष्ण मिशन के नाम से विख्यात है। **रामकृष्ण परमहंस** ओर **विवेकानंद** के अनुभूतिवाद, शक्तिपूजा, उदार उपासना, सर्वधर्म-समादर इत्यादि ने छायावाद को, विशेषकर **निराला** के काव्य को अत्यधिक प्रभावित किया।[2]

---

१. द्रष्टव्य—'महर्षि दयानन्द सरस्वती और युगान्तर' शीर्षक लेख तथा 'वर्तमान हिन्दू समाज' शीर्षक लेख—प्रबन्ध-प्रतिमा, निराला, भारती-भण्डार, इलाहाबाद, १९४०, पृ० ५२, २२८।

२. निराला रामकृष्ण को युगावतार मानते थे और इनके आविर्भाव को विश्व की आधुनिक घटनाओं में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण मानते थे। 'समन्वय'-काल के लेखों से इनकी इस धारणा का अनावरण होता है। "इस उन्नीसवीं और बीसवीं शताब्दी में, जब पश्चिमी संसार जड़ाश्रय विज्ञान के अहंकार से दीप्त, बाह्य प्रकृति को पूर्ण वशीभूत करने पर तुला हुआ, अपनी क्षात्र-शक्ति और वैश्य शक्ति के सम्मिलित महाप्रवाह से तमाम देशों को प्लावित कर रहा है और हीनवीर्य लुप्तैश्वर्य प्रभावित हतचेतन जनसमूह की दृष्टि में अपने ही सब्ज़बाग का नज़ारा पेश करता हुआ, उन्हें बहकाकर कहीं-का-कहीं

निराला द्वारा रचित 'राम की शक्तिपूजा' शीर्षक कविता पर **रामकृष्ण देव** और **विवेकानन्द** के शक्ति-सिद्धान्त का प्रभूत प्रभाव है। इस कविता के कथा-न्यास पर, जैसा कि प्रायः कहा जाता है, **देवी भागवत, शिवमहिम्नः स्तोत्र, कृत्तिवास-रामायण** के युद्धकाण्ड इत्यादि का सम्मिलित प्रभाव है, किन्तु, इस कविता की दार्शनिक पृष्ठभूमि और विचार-प्रवाह पर **रामकृष्ण परमहंस**[1] और **विवेकानन्द**[2] की शक्तिपूजा का सर्वाधिक प्रभाव है।[3] यह बात इससे भी समर्थित होती है कि **निराला** ने **'प्रबन्ध-पद्म'** नामक निबन्ध-संग्रह **स्वामी सारदानन्द**[4] जी को समर्पित किया है, जिन्होंने **'भारते शक्तिपूजा'**[5] नामक ग्रंथ लिखकर **स्वामी रामकृष्ण** और **विवेकानन्द** के शक्ति-सिद्धान्त का विवेचन

लक्ष्यभ्रष्ट करता जा रहा है, जिस समय संसार की तमाम शक्तियाँ पूर्वोक्त इन्द्रजाल से पराजित, मरीचिकामुग्ध मृग की तरह, अपनी तृष्णा-निवृत्ति के लिए, उसी मरुभूमि की चमकती हुई उष्ण ज्वाला के पीछे-पीछे अपने अस्तित्व का ज्ञान खोकर, हैरान दौड़ती चली जा रही हैं, जिस समय भारतवर्ष में सौभाग्यवश अथवा दुर्भाग्यवश पश्चिमी चश्मे का ही रिवाज समाज की हर सूरत को देखने के लिए लोग कायम कर रहे हैं, मानो तमाम संसार अपनी चहल-पहल से दूसरों की आँखों में अपनी सजीवता का नक्शा खींच देने के लिए उतावला हो रहा है, कितने ही 'वाद' पृथ्वी की छाती पर विवाद-विप्लव के चिह्न अंकित करते जा रहे हैं, भारतवर्ष की पावन-भूमि पर श्री रामकृष्ण का आविर्भाव इन इतनी शक्तियों के बीच में निस्सन्देह अपना एक अपूर्व महत्त्व रखता है।"—पं० सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला, 'युगावतार भगवान् श्रीरामकृष्ण', 'समन्वय', वर्ष ७, अंक ९, सौर आश्विन, संवत् १९८५, पृ० ४०९।

१. 'मातृभाव से साधना', श्री रामकृष्ण वचनामृत, द्वितीय भाग, अनुवादक, निराला, श्री रामकृष्ण आश्रम, धन्तोली, नागपुर-१, चतुर्थ संस्करण।

२. वीरवाणी, विवेकानन्द, प्रकाशक विवेकानन्द सोसाइटी, कलकत्ता, चतुर्दश संस्करण में संकलित 'अम्बा स्तोत्र' शीर्षक कविता।

३. समन्वय, वर्ष ४, अंक १०, सौर कार्तिक, संवत् १९८२ में 'विविध विषय' के अन्तर्गत शक्तिपूजा पर निराला की टिप्पणी—"संसार में शक्ति की पूजा करने वाला ही अपना अस्तित्व कायम रख सकता है। जिस देश या जाति में शक्ति की पूजा नहीं होती, वह इस भूमण्डल पर कुछ ही दिनों का मेहमान होता है।" सम्भव है कि 'राम की शक्ति-पूजा' लिखते समय इस टिप्पणी में व्यक्त विचार का भी निराला पर संस्कार रहा हो। साथ ही, निराला पर स्वामी रामकृष्ण परमहंस के प्रभाव का द्योतन 'युगावतार परमहंस श्री रामकृष्णदेव के प्रति' शीर्षक कविता से भी होता है। द्रष्टव्य—नये पत्ते, निराला, हिन्दुस्तानी पब्लिकेशन्स, इलाहाबाद, प्रथम संस्करण, पृ० ७९-८०।

४. निराला पर स्वामी सारदानन्दजी के प्रभाव का पता इनके कुछ निबन्धों से भी चलता है। जैसे—(क) 'श्रीमत् स्वामी सारदानन्दजी से वार्तालाप', समन्वय, वर्ष ६, सं० १९८४, पृ० ४७०। (ख) 'स्वामी सारदानन्दजी महाराज और मैं', 'चतुरी चमार', लेखक—निराला, किताब महल, इलाहाबाद, १८८२ शकाब्द, पृ० ५०-५९।

५. स्वामी सारदानन्द, 'भारते शक्तिपूजा', उद्बोधन कार्यालय, मुखर्जी लेन, कलकत्ता, श्रावण १३३५, प्रथम संस्करण।

ऐतिहासिक पृष्ठभूमि में किया है। इस तरह **'समन्वय'** पत्रिका, **स्वामी सारदानन्द स्वामी माधवानन्द, स्वामी प्रेमानन्द**[१] इत्यादि के साथ **निराला** के निकट सम्पर्क से भी **निराला** के काव्य-दर्शन पर 'रामकृष्ण मिशन' का प्रभाव प्रमाणित होता है।

निराला के काव्य पर **रामकृष्ण परमहंस** के दर्शन के साथ ही **विवेकानन्द** के काव्य का गहरा प्रभाव है। **'अनामिका'** में संगृहीत **विवेकानन्द** की कविताओं के अनुवाद ('गाइ गीत सुनाते तोमाय'—'गाता हूँ गीत मैं तुम्हें ही सुनाने को'; 'नाचुक ताहाते श्यामा'—'नाचे उस पर श्यामा'; 'सखार प्रति'[२]—'सखा के प्रति') इस प्रभाव की उद्घोषणा करते हैं। **पन्त** की भी एकाध रचना से **विवेकानन्द** के प्रति जिज्ञासा लक्षित होती है।[३] किन्तु, यह निश्चित है कि

१. 'स्वामी प्रेमानन्दजी महाराज' शीर्षक कविता, अणिमा, निराला, युग-मन्दिर, उन्नाव, १९४३, पृ० ९८-९७।

२. 'अनामिका' में संग्रहीत 'सखा के प्रति' शीर्षक कविता, जो स्वामी विवेकानन्द की 'सखार प्रति' शीर्षक कविता का अनुवाद है, पहली बार 'समन्वय', वर्ष ६, अंक ३, सौर चैत्र, सं० १९८३ में (पृ० १०८-१११) छपी थी। किन्तु, कविता के नीचे अनुवादक 'सूर्यकान्त त्रिपाठी' लिखा हुआ है, निराला या सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला' नहीं। स्वामी विवेकानन्द रचित 'सखार प्रति', 'नाचुक ताहाते श्यामा' और 'गाइ गीत सुनाते तोमाय' शीर्षक कविताएं मूल बंगला रूप में 'वीरवाणी' नामक काव्य-संग्रह (वीरवाणी, ले० विवेकानन्द, प्रकाशक—विवेकानन्द सोसाइटी, कलकत्ता, चतुर्दश संस्करण) में संकलित हैं। 'अनामिका' में संगृहीत अनूदित कविताओं के अलावा निराला ने विवेकानन्द की 'प्रलय वा गभीर समाधि' शीर्षक कविता का अनुवाद 'समन्वय' में प्रकाशित कराया था। (द्रष्टव्य—समन्वय, वर्ष ३, अंक २, संवत् १९८०) इसी तरह निराला ने विवेकानन्द की एक कविता का अनुवाद, जिसे विवेकानन्द ने भूमध्यसागर के पूर्वी भाग को पार करते समय लिखा था, 'समन्वय', वर्ष ८, अंक ८, संवत् १९८६ में प्रकाशित कराया था।

३. आधुनिक कवि, भाग २, ले० सुमित्रानन्दन पन्त, हिंन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, संवत् २०१२, पृ० २। स्वर्ण-धूलि, पन्त, भारती भण्डार, प्रयाग, संवत् २००४, पृ० १३१, विवेकानन्द कृत 'सांग्स ऑव द संन्यासिन्' का हिन्दी रूपान्तर। इतना ही नहीं, पन्त ने स्पष्ट शब्दो में स्वीकार किया है कि "वीणा-पल्लव-काल में मुझ पर··· स्वामी विवेकानन्द का प्रभाव रहा है।"—उत्तरा, भारती भण्डार, इलाहाबाद, प्रथम संस्करण, प्रस्तावना, पृ० १९। सच पूछिये तो 'स्वर्णकिरण' के रचना-काल तक पन्त के विचारों पर विवेकानन्द के प्रभावों का विरल क्रम रहा है। स्वयं कवि ने इस ओर संकेत किया है—

> "पश्चिम का जीवन-सौष्ठव हो विकसित विश्वतंत्र में वितरित,
> प्राची के नव आत्मोदय से स्वर्ण द्रवित भू तमस तिरोहित।
>
> —स्वर्णकिरण

ऐसा कहकर मैं स्वामी विवेकानन्द के सारगर्भित कथन, 'मैं यूरोप का जीवन-सौष्ठव तथा भारत का जीवन-दर्शन चाहता हूँ' की ही अपने युग के अनुरूप पुनरावृत्ति कर

रामकृष्ण मिशन[1] और स्वामी विवेकानन्द[2] का प्रभाव छायावादी कवियों के बीच सबसे अधिक निराला पर पड़ा है।

विशेषकर **रामकृष्ण परमहंस** के अनुभूतिवाद का छायावाद पर निबिड़ प्रभाव है। **रामकृष्ण देव** ने **स्वामी दयानन्द, राजा राममोहन राय, केशवचन्द्र सेन** प्रभृति आन्दोलनकारियों से पृथक् एक मार्ग स्वीकार किया और धर्म को तर्क के आसन से हटाकर अनुभूति में प्रतिष्ठित कर दिया। इतना ही नहीं, इन्होंने पाखण्ड-खण्डन या आन्दोलनकारी प्रचार की अवहेलना कर उस व्यक्तिगत साधना और एकान्त का आश्रय लिया, जो आगे चलकर छायावादी मनोभूमि के विशेष अनुकूल सिद्ध हुआ। सबसे बड़ी बात यह हुई कि **रामकृष्ण परमहंस** ने नारी को अपने पूर्ववर्ती पवित्रतावादियों के असदृश एक नूतन प्रतिष्ठा दी। इन्होंने नारी की शक्ति और सांस्कृतिक शोभा-सुषमा को अपनी पत्नी के माध्यम

रहा हूँ।"—पन्त, उत्तरा, भारती भण्डार, इलाहाबाद, प्रथम संस्करण, प्रस्तावना, पृ० २२। तदनन्तर, 'चिदंबरा' की भूमिका से भी पन्त पर रामकृष्ण मिशन-आन्दोलन का प्रभाव समर्थित होता है। कवि ने लिखा है—"पल्लवकाल में मैं परमहंस देव के वचनामृत तथा स्वामी विवेकानन्द और रामतीर्थ के विचारों के सम्पर्क में आ गया था।" —पन्त, चिदम्बरा, राजकमल प्रकाशन, १९५९, पृ० १४-१५। इसी तरह 'आत्मिका' शीर्षक कविता (जिसे कवि ने 'संस्मरण और जीवन-दर्शन' कहा है) की कुछ पंक्तियों से भी पन्त पर रामकृष्ण और विवेकानन्द का प्रभाव ध्वनित होता है—

रामकृष्ण औ रामतीर्थ के वचनामृत से थी भू प्लावित,
पुनर्जागरण का युग था वह भारतीय दर्शन का जग हित।
खोल मध्य युग के अवगुण्ठन पौराणिक संस्कृति के बन्धन,
गरज रहे थे अन्तर उर्वर दीप्त विवेकानन्द वचन घन।

—पन्त, चिदम्बरा, राजकमल प्रकाशन, १९५९, ३२२।

इतना ही नहीं, पन्त ने इसे एक ऐतिहासिक सत्य के रूप में स्वीकार किया है कि रामकृष्ण परमहंस की विचार-धारा ने सांस्कृतिक धरातल पर छायावाद के अवतरण की अनुकूल पृष्ठभूमि उपस्थित की थी। "श्री रामकृष्ण देव के महत् जन्म में, जैसे प्रतीक रूप में, नये भारत ने जन्म लिया था। अनेक शतियों से जो भारतीय जीवन तथा मानस में एक प्रकार का निष्क्रिय औदास्य, वैराग्य तथा कार्पण्य छाया हुआ था, वह जैसे रामकृष्णदेव के शुभ आगमन से तिरोहित हो गया।"—पन्त, रश्मिबंध, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, १९५८, पृ० ८।

१. रामकृष्ण मिशन के जनसेवी पक्ष के प्रति निराला का मोह 'सेवा-प्रारम्भ' शीर्षक कविता से व्यक्त होता है।—अनामिका, निराला, भारती भण्डार, इलाहाबाद, संवत् २००५, पृ० १७०।

२. निराला पर स्वामी विवेकानन्द के प्रभाव का द्योतन 'चोटी की पकड़' नामक उपन्यास के इस समर्पण से भी होता है—'श्रीमत् स्वामी विवेकानन्दजी महाराज की पुण्यस्मृति में।'—सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला', 'चोटी की पकड़', किताब महल, इलाहाबाद, १९५८।

से स्वीकृति प्रदान की। कारण, संन्यासी होकर भी इन्होंने अपनी धर्मपत्नी का त्याग नहीं किया और पत्नी को आनन्द तथा शक्ति की साक्षात् प्रतिमूर्ति के रूप में देखा। अतः सम्भव है कि **रामकृष्ण परमहंस** की इस रुचि से छायावादियों को वह प्रकारान्तर प्रेरणा मिली हो, जिससे संचालित होकर उन्होंने नारी को द्विवेदीयुगीन वर्जना की दृष्टि से नहीं देखा; बल्कि वे नारी में भी उस पवित्रता का आधान कर सके, जिसकी बदौलत उन्हें नारी के स्पर्श में गंगा-स्नान का पुण्य और नारी की वाणी में त्रिवेणी की लहरों का गान मिल सका।

तदनन्तर, **स्वामी रामकृष्ण परमहंस** के सिद्धान्तों के व्याख्याता **विवेकानन्द** ने भी उस युग को बहुत प्रभावित किया। **विवेकानन्द** हर्बर्ट स्पेन्सर, स्टुअर्ट मिल, हीगेल, वर्डस्वर्थ और शेली के प्रेमी तथा फ्रांस की राज्यक्रान्ति के मूल सिद्धान्त (स्वतंत्रता, समानता और भ्रातृत्व) के प्रबल समर्थक थे। अतः **विवेकानन्द** की इस व्यापक और प्रगतिशील रुचि ने तत्कालीन युवकों और छायावाद के नव-वय कवियों के लिए सोपान का काम किया। प्रायः कहा जाता है कि छायावादी कविता में जो कुछ ओज या शक्ति-तत्त्व है, उसकी अभिव्यक्ति **निराला** के माध्यम से हुई है। यदि यह कहना सच है, तो हमें यह भी मानना होगा कि **निराला** को उस ओज का वाहक बनाने में **विवेकानन्द** के प्रभाव का महत्त्वपूर्ण योग है। **निराला** ने जिस 'राम की शक्तिपूजा' के द्वारा छायावादी कविता की स्त्रैण मधुरता और कोमल कण्ठ को उस देशव्यापी पराभव-काल में पौरुष-दृप्त ओजमयी वाणी प्रदान की, उसके विचार पर **विवेकानन्द** द्वारा बहुधा उपदिष्ट इस शक्ति-सिद्धान्त का प्रभाव था कि 'भारत का कल्याण शक्ति की साधना में है' और उसके शैली-पक्ष पर उस नूतन ओजस्वी संस्कार का असर था, जिसका निर्माण **विवेकानन्द** 'नाचुक ताहाते श्यामा' और 'अम्बा स्तोत्र' जैसी भीषणरचना उग्रछन्दा कविताओं के द्वारा बंगाल में कर रहे थे।

इसी तरह उस धार्मिक, सामाजिक और सांस्कृतिक नवजागरण के काल में अनेक धार्मिक नेता एक-एक कर उपस्थित होते गये। इसी क्रम में प्रवृत्ति मार्ग और कर्मयोग के नवीन व्याख्याता **बालगंगाधर तिलक** और अतिमानस के उद्भावक **अरविन्द** आये, जिन्होंने अपने विचार-दर्शन से कुछ अंशों में सम्पूर्ण युग को प्रभावित किया। इस प्रकार हिन्दू नवोत्थान के अनेक नेताओं द्वारा प्रस्तुत की गई जरखेज़ भूमि पर एक विशाल वटवृक्ष की तरह **गांधी** का आविर्भाव हुआ, जिन्होंने हिन्दू नवोत्थान को धर्म-समर्थित राष्ट्रीय संग्राम के रूप में परिवर्तित कर दिया। इस गांधीवादी वातावरण ने भी छायावाद के लिए एक अनुकूल पृष्ठभूमि पैदा कर दी, जिस पर हिन्दी के कई आलोचक विचार कर चुके हैं। यह एक ऐतिहासिक संयोग ही है कि उधर भारतीय राजनीति के क्षितिज पर १९२० ईस्वी में अपनी पूरी गरिमा के साथ **गांधी** का उदय हुआ

और इधर १९२० ईस्वी में ही हिन्दी साहित्य में छायावाद का अवतरण हुआ।[१] इस प्रकार यह स्पष्ट लक्षित होता है कि हिन्दी साहित्य में छायावादी आन्दोलन यूरोप की रोमाण्टिक कविता का अनुकरण या द्विवेदी-युग की प्रतिक्रिया का परिणाम अथवा शैली का परिवर्तन-मात्र नहीं था, बल्कि उसके पीछे देशव्यापी सांस्कृतिक नवजागरण की तगड़ी भूमिका उपस्थित थी।[२] फलस्वरूप, छायावादी कविता पर युग-धर्म की छाप पड़ी हुई है।[३]

अतः उक्त विश्लेषण और उद्धरणों से यह सिद्ध होता है कि छायावाद का उद्‌भव युग की अनिवार्य आवश्यकता के रूप में हुआ। वह केवल शैली का परिवर्तन, बँगला का प्रभाव या अंग्रेज़ी के रोमाण्टिक साहित्य का अनुकरण नहीं था। वह तो अपने देश, साहित्य तथा युग की आन्तरिक प्रेरणाओं से उत्थित हुआ था, और किसी बाह्य प्रेरणा का कृत्रिम परिणाम नहीं था।

किन्तु, इन बातों के रहने पर भी यदि छायावादी कविता पर अंग्रेज़ी रोमाण्टिक कविता का प्रभाव पाया जाता है, तो इस प्रभाव को वैसा ही स्वाभाविक प्रभाव मानना चाहिये, जैसा प्रभाव साहित्य-जगत् में दो जातियों के सम्पर्क के माध्यम से परस्पर संक्रमित हुआ करता है। अतः छायावाद, जैसा कि पहले कहा जा चुका है, मात्र विदेशी प्रभाव या बाह्य अनुकरण से उद्‌बुद्ध न होकर हिन्दू नवोत्थान और देश के व्यापक सांस्कृतिक आन्दोलन का अनिवार्य फल है। यह मान्यता विश्व-साहित्य के इतिहास-दर्शन से भी प्रमाणित होती है, क्योंकि प्रत्येक देश में क्रांति की उठती हुई लहर के तुरत बाद रोमाण्टिक कविता लिखी जाती रही है। जैसे—फ्रांस की राज्यक्रान्ति के बाद इंगलैण्ड, फ्रांस और जर्मनी में लिखी गई रोमाण्टिक कविता, आयरलैण्ड के स्वतंत्रता-संग्राम के तुरत बाद **डब्लू० बी० यीट्स** के नेतृत्व में लिखी गई आयरिश कवियों की रोमाण्टिक कविता और रूस की रक्ताक्त क्रान्ति के अग्रचारी स्वागतकर्त्ता **अलेग्ज़ाण्डर ब्लॉक** की रोमाण्टिक कविता। इस प्रकार विश्व-साहित्य का इतिहास-दर्शन

---

१. डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी, हिन्दी साहित्य, अत्तरचन्द कपूर एण्ड सन्स, दिल्ली, १९५२, पृ० ४५०।

२. "मूलतः यह (छायावाद) भारत के उस सांस्कृतिक नवोत्थान का परिणाम था, जिसका प्रवर्त्तन राजा राममोहन राय ने किया था और जिसके व्याख्याता केशवचन्द्र सेन, स्वामी विवेकानन्द, स्वामी दयानन्द, एनीबेसेण्ट, लोकमान्य तिलक और गांधी हुए हैं।"—दिनकर, 'चक्रवाल' की भूमिका, १९५६, उदयाचल, पटना, पृ० १५।

३. "राष्ट्रजीवन में जो विषमता और नवीन उत्साह का दर्शन हो रहा था, उसकी प्रतिच्छाया छायावादी काव्य में वर्तमान है। इस प्रकार सामयिक गतिविधि से उदासीन रहते हुए भी वह समय के प्रभाव से अछूता न रह सका। युग-धर्म या समय की छाप छायावादी काव्य पर पड़ी हुई है।" —डॉ० केसरीनारायण शुक्ल, आधुनिक काव्यधारा का सांस्कृतिक स्रोत, सरस्वती मन्दिर, काशी, संवत् २००४, पृ० १८८।

सांस्कृतिक नवजागरण अथवा क्रान्ति और स्वच्छन्दता (रोमांटिसिज़्म) की युगपद् स्थिति को सिद्ध करता है ।

कहा जाता है कि प्रत्येक देश की रोमाण्टिक कविता अपनी पीठ पर आँख लेकर पैदा होती है, अर्थात्, वह अपने देश के अतीत को बहुत ही लुभावनी दृष्टि से देखती है या कि पुरातनता के व्यामोह से ग्रस्त रहती है । छायावादी कविता में भी हम अपने देश के अतीत के प्रति प्रेम—आसन्नभूत (जैसे, 'शेर सिंह का शस्त्र-समर्पण') और सुदूर अतीत (जैसे, 'हिमाद्रि तुंग शृंग से' या 'अरी वरुणा की शान्त कछार') के प्रति निबिड़ मोह को पाते हैं, जिससे जन-मन की राष्ट्रीय भावना का संवर्द्धन होता है । छायावादी कविता का अपने देश के अतीत के प्रति यह प्रेम ही उसमें यदा-कदा प्रकाश पाने वाली राष्ट्रीय भावना का मूल बिन्दु है ।

तदनन्तर, छायावाद पर इस दृष्टि से विचार होना चाहिये कि प्रत्येक साहित्य में किसी बलिष्ठ 'वाद' के अवतरण के पीछे कई साहित्येतर बाह्य परि-स्थितियों के साथ ही उसके वे साहित्यिक स्रोत महत्त्वपूर्ण कार्य करते हैं, जो उस वाद के अवतरण-काल तक अपनी उद्भावक विशिष्टता की स्वीकृति नहीं प्राप्त कर सकते । इस दृष्टि से छायावादी कविता का संबंध हिन्दी के उस साहित्यिक स्रोत से है, जिसका निर्माण 'स्वच्छन्द काव्य-धारा' के प्रवर्त्तक **घनानन्द**[1] और **श्रीधर पाठक**[2] अपनी कविताओं के द्वारा कर चुके थे । यद्यपि यह एक अतिवादी दृष्टिकोण है कि द्विवेदी-युग के पूर्व रीतिकाल के अन्तिम चरण में ही छायावादी प्रवृत्ति का स्वर निकल चुका था, तथापि इतना कहना एक सन्तुलित सत्य है कि स्वच्छन्द भावधारा की दृष्टि से **घनानन्द** और **श्रीधर पाठक** ही हिन्दी कविता की परम्परा में छायावाद के पूर्वपुरुष[3] सिद्ध होते हैं ।

अंग्रेजी रोमाण्टिक कविता और छायावादी कविता में एक अन्तर यह है कि छायावादी कविता प्रारम्भ से ही अपवादहीन रूप में उस अलंकरणप्रिय, कटी-छँटी शिल्पित भाषा की रचना रही है, जो सदा जन-भाषा से दूर रहती है ।

---

१. घनानन्द के साथ ठाकुर, बोधा, द्विजदेव इत्यादि भी इस प्रसंग में उल्लेखनीय हैं । —डॉ० मनोहरलाल गौड़, घनानन्द और स्वच्छन्द काव्यधारा, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, २०१५ विक्रम, पृ० ३ ।

२. इस प्रसंग में श्रीधर पाठक के साथ राय देवीप्रसाद पूर्ण, रूपनारायण पाण्डेय, मन्नन द्विवेदी गजपुरी, बदरीनाथ भट्ट, रामनरेश त्रिपाठी, मुकुटधर पांडेय इत्यादि जैसे कवि भी महत्त्वपूर्ण माने जा सकते हैं ।—डॉ० रामचन्द्र मिश्र, श्रीधर पाठक तथा हिन्दी का पूर्व-स्वच्छंदतावादी काव्य, रणजीत प्रिंटर्स एंड पब्लिशर्स, चाँदनी चौक, दिल्ली, १९५९ ।

३. Romantic Precursors.

किन्तु, अंग्रेज़ी रोमाण्टिक कविता के प्रारम्भ में हमें जनसाधारण की भाषा के प्रति एक मोह मिलता है, जो मोह एक अग्रणी कवि की ऊर्ध्वबाहु घोषणा होने के बावजूद अंग्रेज़ी की रोमाण्टिक कविता में व्यवहारतः नहीं उतर सका। मेरा आशय **वर्डस्वर्थ** के **'लिरिकल बैलेड्स'** के द्वितीय संस्करण (१८०० ईस्वी) की भूमिका से है, जिसमें **वर्डस्वर्थ** ने 'जन-जीवन की सामान्य स्थितियों को जन-जीवन की सामान्य भाषा में लिखना' अपनी काव्य-रचना का उद्देश्य माना है।[१] स्पष्टतः छायावादी आन्दोलन के प्रारम्भ में हम जनसाधारण की भाषा या जन-जीवन के प्रति कोई बलवती धारणा नहीं पाते हैं, बल्कि इसके विपरीत **'पल्लव'** की भूमिका, जिसे प्रायः छायावाद का घोषणा-पत्र कहा जाता है, इसे सिद्ध करती है कि छायावादी कविता अलंकृत भाषा, मणिकुट्टिम शैली, कलात्मक विच्छिति और शिल्प-सौष्ठव के प्रति पृथुल आग्रह रखती है। इस तरह उक्त भूमिका[२] में वर्डस्वर्थ ने रोमाण्टिक कविता के जो तीन अभिज्ञान[3] बतलाये हैं, उनमें से केवल 'अन्तिम' छायावादी कविता के अनुकूल पड़ता है। अतः स्पष्ट है कि अंग्रेज़ी रोमाण्टिक कविता और छायावादी कविता के बीच कालगत, परिस्थितिगत और प्रवृत्तिगत—कई प्रकार के अन्तर हैं।

यूरोप की रोमाण्टिक कविता को प्रभावित करने वाले दो कारण प्रधान हैं—(क) तत्कालीन जर्मन दार्शनिकों के द्वारा निरूपित दर्शन और (ख) फ्रांस की राज्यक्रान्ति का प्रभाव तथा उसके प्रेरक राजनैतिक सिद्धान्त।[४] तदनन्तर, विकासावस्था की दृष्टि से यूरोपीय रोमाण्टिक कविता की तीन दशाएँ स्पष्ट हैं—रोमाण्टिक क्रान्ति (रोमांटिक रिवोल्ट), रोमाण्टिक जयघोष (रोमांटिक ट्रायम्फ़) और रोमाण्टिक उद्वर्त्तन (रोमांटिक सरवाइवल)। १७७८ ईस्वी से १८०५ ईस्वी तक अर्थात् **वाल्तेयर** और **रूसो** की मृत्यु (१७७८ ईस्वी) से

---

१. The principal object, proposed in these poems was to choose incidents and situations from common life, and to relate and describe them, through out, as far as was possible in a selection of language really used by men, and at the same time, to throw over them a certain colouring of imagination…"—English Critical Essays, 19th Century, edited by Edmund D. Jones, London, 1950, p. 3.

२. Preface to the Lyrical Ballads.

३. (a) *metrical arrangement*, (b) *real language of men*, (c) *vivid sensation*.

४. *Edward Dowden*, The French Revolution And English Literature, London, 1916, p. 157.

लेकर **शिलर** की मृत्यु (१८०५ ईस्वी) तक यूरोपीय रोमाण्टिक आन्दोलन का सबसे महत्त्वपूर्ण काल माना जाता है। इसी काल में रोमाण्टिक आन्दोलन की इस मूल मान्यता का सबल स्थापन किया गया कि साहित्य, संस्कृति एवं जीवन के अन्य उन्नत क्षेत्रों में मनुष्य के संवेगों, स्वच्छन्द वृत्तियों और आकुल आवेगों को पूर्ण स्वीकृति मिलनी चाहिये। इस काल से पूर्व यूरोपीय साहित्य में मर्यादा, रूढ़ि और नैतिकता के नाम पर मनुष्य के संवेगों, तरल वृत्तियों और आवेगों की घोर उपेक्षा थी।

यूरोपीय साहित्य के रोमाण्टिक आन्दोलन का एक प्रमुख कारण यद्यपि फ्रांसीसी राज्यक्रान्ति[1] थी, तथापि फ्रांस में इंगलैंड और जर्मनी की अपेक्षा बहुत बाद में रोमाण्टिक आन्दोलन प्रारम्भ हुआ, क्योंकि फ्रांस पर क्लासिकल परम्परा की छाप बहुत गहरी थी। फ्रांस के बाद यह रोमाण्टिक लहर यूरोप के अन्य देशों (इटली, स्पेन, पुर्तगाल इत्यादि) में फैली, किन्तु, लैटिन या बाल्कन[2] देशों के रोमाण्टिक आन्दोलन में मौलिकता कम रही और अंग्रेज़ी, जर्मन तथा फ्रेंच रोमाण्टिक साहित्य का प्रभाव ही अधिक रहा। यूरोपीय साहित्य में इस रोमाण्टिक क्रान्ति के बाद रोमाण्टिक जयघोष (रोमांटिक ट्रायम्फ़) का काल प्रारम्भ होता है; जिस पर **टी० एस० ओमण्ड** ने बहुत महत्त्वपूर्ण कार्य किया है। **ओमण्ड** ने १८१० ईस्वी को यूरोपीय रोमांटिक आन्दोलन के जयघोष का

१. फ्रांस की राज्यक्रान्ति का काल जनवरी १७८९ से जुलाई १७९४ ई० तक पड़ता है। [द्रष्टव्य—*George Pernoud & Sabine Flaissier*, The French Revolution, London, 1960, p. 7.] और, यह संयोग की बात है कि १७८९ ई० में ही विलियम ब्लैक का 'सांग्स ऑव इन्नोसन्स' नामक काव्य-संग्रह प्रकाशित हुआ। फ्रांस की राज्यक्रान्ति के पीछे वॉल्तेयर, माण्टेस्क्यू और रूसो के सामाजिक, राजनीतिक और दार्शनिक चिन्तन की पृष्ठभूमि उपस्थित थी। इन दार्शनिकों की त्रयी में रूसो सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण माना जाता है, क्योंकि इसने मानव-जीवन में व्याप्त सामान्य संवेगों (common emotions) के मूल्य को दार्शनिक स्तर पर उपस्थित किया। [द्रष्टव्य—Rousseau and Romanticism by Irving Babbitt, Meridian Books, New York, 1955.] अतः फ्रांस की राज्यक्रान्ति या उसके बाद साहित्य-जगत् पर छा जानेवाले रोमाण्टिक आन्दोलन में हम पुरातन-प्रतिपादित मान्यताओं और रूढ़ियों के विरुद्ध गम्भीर विद्रोह का जो भाव पाते हैं, उसका बहुत बड़ा श्रेय रूसो के रूढ़ि भंजक जीवन-दर्शन को है। सचमुच, रूसो रूढ़ियों के विरुद्ध एक नफीरी फूंकता आया था। *George H. Sabine* ने रूसो की इस विशेषता को रेखांकित महत्त्व देते हुए लिखा है—"The enormous importance of Rousseau lies in the fact that, broadly speaking, he carried philosophy with him against its own tradition."—*A History of Political Theory*, p. 473.

२. Balkan.

प्रौढ़ि-काल माना है ।[1] सचमुच, १८१० ईस्वी तक आते-आते **वर्डस्वर्थ, कॉलरिज** प्रभृति प्रमुख रोमाण्टिक कवियों के काव्य का जो सर्वोत्तम अंश है, वह प्रकाश में आ चुका था । रोमाण्टिक क्रान्ति की तरह रोमाण्टिक जयघोष भी यूरोप में सबसे पहले इंगलैण्ड में फैला ।

इस प्रकार उक्त विश्लेषण के आधार पर चार मुख्य बातें हमारे समक्ष उपस्थित होती हैं —

१. यूरोपीय साहित्य की रोमाण्टिक क्रान्ति, रोमाण्टिक जयघोष और रोमाण्टिक उद्वर्त्तन में अंग्रेज़ी साहित्य-काल की दृष्टि से जर्मनी, फ्रांस एवं अन्य दशों के साहित्य से आगे रहा है । यूरोपीय रोमाण्टिक साहित्य की उक्त तीनों दशाएँ अंग्रेज़ी साहित्य में सबसे पहले अवतरित हुईं ।

२. छायावादी कवियों का परिचय यूरोपीय रोमाण्टिक साहित्य के अन्तर्गत केवल अंग्रेज़ी रोमाण्टिक साहित्य के साथ है । इसके दो कारण हैं । प्रथम यह कि अंग्रेज़ शासक की तरह भारतवर्ष में रह सके, जो सुविधा जर्मन या फ्रेंच लोगों को नहीं मिली । अत: अंग्रेज़ी साहित्य और संस्कृति से भारतीयों का अधिक परिचय हो गया । दूसरा कारण यह है कि शासकों की भाषा रहने के कारण अंग्रेज़ी स्कूल और कालेजों में अनिवार्यत: पढ़ाई जाने लगी और शैक्षणिक जगत् का यह अंग्रेज़ी प्रभाव शिक्षण-संस्थाओं से बाहर जन-जीवन में भी फैलने लगा । इसलिए छायावादी कवियों का भी अंग्रेज़ी रोमाण्टिक साहित्य (विशेषकर कविता) के साथ गाढ़ा परिचय हो गया ।

३. छायावादी कविता के पीछे काम करने वाली दार्शनिक पृष्ठभूमि के प्रसंग में छायावादी कवियों पर जर्मनी के उस दर्शन का प्रभाव है, जो १७२४ ई० से १८५४ ईस्वी के अन्तर्गत **काण्ट, शिलर, फिख्ते, शेलिंग** और **हीगेल** के द्वारा निर्मित हुआ । इन दार्शनिकों के बीच भी **काण्ट** और **हीगेल** के दर्शन ने छायावादी कवियों को अधिक प्रभावित किया है, जिसका पता इस प्रबन्ध में विवेचित कला, सौन्दर्य, कल्पना, जीवन-दर्शन इत्यादि से संबद्ध प्रसंगों में चलता है ।

४. इस प्रकार यह सिद्ध होता है कि छायावादी कविता के कला-पक्ष और सामान्य भाव-पक्ष पर अंग्रेज़ी रोमाण्टिक कविता का प्रभाव है तथा छायावादी कविता के दार्शनिक पक्ष और सौन्दर्यशास्त्रीय चिंतन पर जर्मनी के उन दार्शनिकों का प्रभाव है, जो १७२४ से १८५४ ईस्वी के बीच अपने प्रकर्ष पर थे ।

चूँकि हमें प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध में छायावादी कविता के कला-पक्ष और

---

१. *T. S. Omond*, The Romantic Triumph, London, p. 4.

कलात्मक तत्त्वों पर विचार करना है, इसलिए छायावादी कविता का दर्शन-पक्ष, फलस्वरूप जर्मन दार्शनिकों के प्रभाव का विवेचन हमारी विषय-सीमा से बाहर पड़ता है। इस दृष्टि से अंग्रेज़ी रोमाण्टिक कविता और छायावादी कविता की कलागत प्रवृत्ति पर विचार कर लेना आवश्यक है। कलागत प्रवृत्ति की दृष्टि से ललित कलाओं का अपेक्षाकृत अधिक तात्त्विक मिश्रण, विशेषकर काव्य, चित्र और संगीत को परस्पर निकट लाकर उनके कुछ तत्त्वों का अधिकतम एकीकरण 'रोमाण्टिसिज़्म' की एक विशिष्ट प्रवृत्ति है। अत: अंग्रेज़ी की रोमाण्टिक कविता में भी काव्येतर ललित कलाओं का अधिकतम मिश्रण मिलता है। ठीक अंग्रेज़ी रोमाण्टिक कविता की तरह छायावादी कविता में हम काव्येतर कलाओं के प्रति मोह या काव्येतर कलाओं का प्रभाव पाते हैं।

सचमुच, अंग्रेज़ी रोमाण्टिक कविता के प्रादुर्भाव में काव्येतर कला, विशेषकर दृश्यकला और उसमें भी चित्रकला का उल्लेखनीय योग है। अंग्रेज़ी रोमाण्टिक कविता की काव्येतर ललित कलाओं से सम्बद्ध पृष्ठभूमि का पता **रस्किन** के **'मॉडर्न पेण्टर्स'** के प्रथम खण्ड से चलता है। **रस्किन** का यह ग्रन्थ उन्नीसवीं शताब्दी के कल्पनात्मक कला-सृजन के क्षेत्र में दृश्यकला के जीवन-व्यापी प्रभाव की एक महत्त्वपूर्ण उद्‌घोषणा है। इस ग्रंथ ने केवल चित्रकारों को प्रभावित और आन्दोलित नहीं किया, बल्कि समाज के अन्य भद्र लोगों के साथ ही इसने कवियों को भी चाक्षुष सौन्दर्य के वस्तुतांत्रिक स्वरूप की ओर आकृष्ट किया। रोमाण्टिक कविता की पृष्ठभूमि में काम करनेवाले इस कला-संगम (विशेषकर कविता और चित्रकला का संगम) का ऐतिहासिक प्रमाण १८४८ ईस्वी में स्थापित होनेवाली **'प्रि-रैफेलाइट ब्रदरहुड'**[१] नामक वह गोष्ठी भी है, जिसके प्रमुख स्थापकों में **रोज़ेटी** का नाम लिया जाता है। आलोचकों का कहना है कि **रोज़ेटी** उतनी ही मात्रा में कवि था, जितनी मात्रा में चित्रकार। **रोज़ेटी** की सृजनचेतना उक्त दो कलाओं (काव्य और चित्र) की कल्पनात्मक अनुभूति के सामंजस्य पर इस प्रकार अधिष्ठित थी कि उसकी तुलना में केवल **विलियम ब्लेक** का ही नाम लिया जा सकता है।[२] **ग्राहम हफ** ने इस कला-संगमवाली प्रवृत्ति को ही सभी रोमाण्टिक कवियों का एकमात्र सामान्य गुण माना है।[3] सच पूछिये तो अंग्रेज़ी

---

१. Pre-Raphaelite Brotherhood.

२. *Graham Hough*, The Last Romantics, London, 1961, p. XV.

३. *Graham Hough*, The Last Romantics, London, 1961, pp. XVI-XVII.

साहित्य का 'प्रि-रैफेलटिज़्म' भी उसी कला-संगमवाली प्रवृत्ति का एक आंशिक, किन्तु, अवश्यम्भावी फल है, जिसने रस्किन के व्याज से कवियों में भी दृश्य-कला, विशेषकर, चित्रकला के प्रति गहरी रुचि पैदा कर दी। और, यह रुचि इतनी बलवंत हो गई कि इसने चित्रात्मकता को कविता के लिए वांछनीय बना दिया।[१] इस तरह ललित कलाओं के पारस्परिक अन्तःसम्बन्ध की दृष्टि से अंग्रेज़ी साहित्य में रोमाण्टिक कविता और 'प्रि-रैफेलटिज़्म' का बहुत महत्त्व है।[२]

छायावादी कविता में भी कला-संगम की यह प्रवृत्ति पृथुल मात्रा में मिलती है, किन्तु, छायावादी कविता के इस समृद्ध पक्ष पर अब तक नगण्य विचार किया गया है। सामान्यतः कहा जाता है कि काव्य-रचना के जिस युग में दृश्य गुण या चित्रात्मकता[३] की प्रधानता रहती है, उस युग की काव्य-रचना में बिम्बप्रियता बढ़ जाती है और संगीतात्मकता घट जाती है।[४] ठीक इसी तरह जिस युग की काव्य-रचना में संगीतात्मकता अधिक रहती है, उसमें बिम्बप्रियता (दृश्यगुण)[५] घट जाती है।[६] किन्तु, छायावादी कविता में कला-संगमवाली प्रवृत्ति इतनी समृद्ध है कि छायावाद की कई उत्कृष्ट कविताओं में संगीतात्मकता और चित्रात्मकता का एक साथ निर्वाह हुआ है। 'राम की शक्तिपूजा', 'बादल-राग', 'नौका-विहार' इत्यादि जैसी कविताएं इस तथ्य को उदाहृत करती हैं। अतः छायावादी कविता का अध्ययन काव्येतर ललित कलाओं के तात्त्विक समावेश और कला-संगमवाली प्रवृत्ति की दृष्टि से अवश्य किया जाना चाहिये।

इस कला-संगमवाली प्रवृत्ति की दृष्टि से हम सर्वप्रथम छायावादी कवियों के काव्य-संगीत और छन्द-चेतना पर विचार करेंगे। विश्लेषण करने पर यह

---

१. रोजेटी ने Burne-Jones को लिखित अपने एक पत्र में कहा है—"If a man have any poetry in him he should paint, for it has all been said and sung, but they have hardly begun to paint it." —qouted on p. 42, The Last Romantics, Graham Hough, London, 1961.

२. *R. H. Wilenski*, The Modern Movement in Art, London, 1956, p. 116.

३. Opsis.

४. Melos.

५. Opsis.

६. Sound And Poetry, edited by *Northrop*, Frye, New York, 1957, p. 10.

पता चलता है कि स्थापत्य, मूर्ति और चित्रकला की अपेक्षा संगीतकला में परिवर्तनों की अधिक सम्भावना रहती है, क्योंकि संगीतकला की कृतियाँ अन्य कलाओं की अपेक्षा अधिक क्षणभंगुर होती हैं।[१] कारण यह कि संगीत की कृतियों को सुरक्षित रहने के लिए पुनःप्रस्तुतीकरण (रीप्रडक्शन) या अनुष्ठान (परफ़ॉरमेंस) पर निर्भर करना पड़ता है। दूसरी बात यह है कि संगीत को सुरक्षित रखने के लिए ध्वनि-लेख या अन्य साधनों की जैसी आवश्यकता होती है, वह बहुत से विकसित साधनों की उपलब्धि के बाद ही सम्भव है। इसलिए सामान्यतः किसी जाति, युग या भाषा की संगीत-चेतना उस मुखोच्चारण के अनुरूप ही विकसित होती है, जिसकी ओर **निराला** ने संकेत किया है। **निराला** ने **'अर्चना'** की 'स्वीयोक्ति' में ब्रजभाषा की तुलना में खड़ी बोली के बदले हुए नवीन संगीत की चर्चा की है और खड़ी बोली के पाठ का गले से सफलतापूर्वक न उतर सकने का कारण खड़ी बोली के निजी (विशिष्ट) संगीत को माना है। साथ ही, **निराला** ने यह इच्छा व्यक्त की है कि "आधुनिक गीतों की मेड़ें और स्वर-कम्पन प्राचीन शब्दोच्चारण की दीवारों को पार करके अपनी सत्यता पर समासीन हों।" इस तरह **निराला** का यह दिशा-निर्देश बहुत ही शास्त्रीय महत्त्व रखता है, कारण, ऊपर की पंक्तियों में यह संकेत किया जा चुका है कि संगीत अथवा संगीत-चेतना की यह परिवर्तनशीलता सौन्दर्यशास्त्रीय अध्ययन का एक महत्त्वपूर्ण विषय है।

छायावादी कविता का बाह्य संगीत प्रधानतः लय और तुक पर निर्भर है। कविता में संगीत की मधुरिमा को भरने के लिए जिस प्रकार भावानुसारी कोमल तथा परुष वर्णों या शब्दों का अनिवार्य चयन करना पड़ता है, उसी प्रकार काव्य को संगीत-वरिष्ठ बनाने के लिए लय का भी उपयोग करना पड़ता है। छायावादी कवियों ने भाव की गति के अनुसार लय-योजना अथवा अर्थ और नाद की सांसर्गिक पर्युत्सुकता पर निर्भर संगीत-योजना की चेष्टा की है, तथापि कुछ विचारकों ने छायावादी कविता के लय-संगीत पर प्रतिकूल धारणाएँ व्यक्त की हैं। जैसे, **गिरिजाकुमार माथुर** का कथन है कि "छायावादी कवियों ने नवीन विषयों को लेकर रीतिकाल की परम्परा एक सीमा तक तोड़ी, फिर भी वे काव्य में अपना नवीन संगीत पूरी तरह निर्माण नहीं कर सके। अलंकारों के भार से उन्होंने कविता को अवश्य मुक्त किया, किन्तु अधिकतर अर्थालंकारों से। काव्य में संगीत के लिए उनके आधार रीतिकालीन शब्दालंकार ही रहे और उनमें भी मुख्य अनुप्रासालंकार। यमक और श्लेष दुरूहता

---

१. *R. W. S. Mendle,* The Soul of Music, London, 1950, p. 17-18.

के कारण अवश्य छोड़ दिये गये, किन्तु, अनुप्रास के अत्यधिक प्रयोग से एक परम्परागत संगीत की ही रचना हुई। अनुप्रास का आधार व्यंजन होते हैं, जो बिना स्वर-ध्वनियों के निष्प्राण हैं। इस कारण उन पर आधारित शब्द-संगीत आत्मा का संगीत न होकर निर्बल तथा एक प्रकार से निरर्थक होता है।······केवल **निराला** इस दोष से कभी-कभी ऊपर उठ जाते हैं। उनके काव्य का संगीत छायावादियों से पृथक् है।······ उनके संगीत में व्यंजन-ध्वनियों का आधार छायावादी वातावरण के कारण अवश्य है, किन्तु, शिल्प एवं रूप-प्रकार के जितने नये प्रयोग उनमें हैं, अन्य छायावादी में नहीं हैं। निराला में स्वर-ध्वनियों का उदात्त संगीत है और कहीं-कहीं विषय के अनुरूप इसका सफल प्रयोग भी।"[१] इस तरह छायावादी लय-संगीत पर **गिरिजाकुमार माथुर** की उपरिलिखित विवेचना से मुख्यत: ये चार बातें हमारे सामने आती हैं— १. काव्य में विषय-वस्तु और शब्द-संगीत का एक आधारभूत सम्बन्ध है। २. व्यंजन एकक ध्वनियों तथा स्वर-ध्वनियों के संगीत में मौलिक विभिन्नता है।[२] ३. विषय-स्थिति के अनुसार की गई शब्द-संगीत की योजना उत्कृष्ट होती है। ४. अनुप्रासमूलक संगीत व्यंजन-ध्वनियों की प्रधानता से निर्मित होता है और अनुप्रास का संगीत काव्य की आत्मा से संबंधित न होने के कारण निर्बल होता है, नादात्मक सशक्त और सार्थक नहीं। इसलिए व्यंजन-ध्वनियों पर उठने वाला संगीत भी 'आन्तरिक लयवत्ता' से युक्त अथवा सार्थक नहीं है। "काव्य के अन्त:संगीत का आधार स्वर-ध्वनियाँ ही हो सकती हैं, जिनका गुण-धर्म समझने पर उनका उचित सामंजस्य स्थापित किया जा सकता है। व्यंजनात्मक संगीत यदि इनसे मिलकर इनकी पृष्ठभूमि में रहकर आता है, तभी उपयुक्त हो सकता है।"[3] काव्य-संगीत से संबद्ध ये सभी बातें **केनेथ बर्क** के विचारों से मिलती-जुलती हैं। **केनेथ बर्क** ने 'ऑन म्युज़िकलिटी इन वर्स' शीर्षक निबंध में काव्य के छन्द-संगीत पर कुछ ऐसे ही विचार व्यक्त किये हैं।[४]

---

१. गिरिजाकुमार माथुर, प्रतीक, अंक १०, पृ० ३३।

२. "व्यंजन-ध्वनियाँ भाषा के विस्तार की ध्वनियाँ हैं। स्वर-ध्वनियाँ संचरणशील प्राण-सूत्र हैं, जो अर्थहीन व्यंजनों के ध्वनि-संकेतों को निबद्ध कर वस्तुओं और क्रियाओं का निश्चित ध्वनि-प्रतीक बनाती हैं। शब्दों की गतिमयता तथा शक्तिमत्ता को वही निर्धारित करती हैं। वे भाषा की आन्तरिक पीठिका हैं, इसी कारण उनके उचित और आनुपातिक मिश्रण से किसी भी रचना का नाद-तत्त्व अधिक सूक्ष्म, आधारगत और प्रखर होता है।"
—गिरिजाकुमार माथुर

३. गिरिजाकुमार माथुर, प्रतीक, अंक १०, पृ० ३५।

४. *Kenneth Burke*, The Philosophy of Literary Form, New York, 1957, p. 296.

इस प्रसंग में यह भी विचारणीय है कि छायावादी कविता में संगीत का समायोग आन्तरिक है अथवा किसी 'आरोपित उपकरण' की तरह बाह्य। **डॉ० उमा मिश्र** ने अपने शोध-प्रबन्ध में[1] यह केन्द्रीय स्थापना उपस्थित की है कि "कविता में संगीत का समायोग या तो आन्तरिक या फिर आन्तरिक और बाह्य—दोनों प्रकार के संगीत के रूप में रहा करता है।" इस दृष्टि से छायावादी कविता में विनियुक्त संगीत आन्तरिक और बाह्य—दोनों हैं। पूर्ववर्त्तियों की तुलना में छायावादी संगीत आन्तरिक अधिक है बाह्य कम, किन्तु अर्थ-संगीत की विकसित दृष्टि से छायावादी संगीत भी बाह्य समायोग से पूर्णतः मुक्त नहीं है। कारण यह है कि छायावादी काव्य-संगीत भी मात्रिक छन्दों[2] के प्रति आग्रह रहने के कारण अन्त्यानुप्रास,[3] चरण-सन्तुलन और तुक के प्रति बहुत सचेत रहा है। छायावादी कवियों के इस तुक-मोह का पता '**पल्लव**' की भूमिका में लिखित

---

१. डॉ० उमा मिश्र, काव्य और संगीत का पारस्परिक सम्बन्ध, दिल्ली पुस्तक सदन, दिल्ली, १९६२, पृ० २२।

२. पन्त ने 'उत्तरा' की प्रस्तावना में इसका संकेत किया है कि इन्होंने 'स्वर्णकिरण-स्वर्णधूलि' काल में छन्दों की सम-विषम-गति की एकस्वरता को बदलने के लिए ह्रस्व-दीर्घ मात्रिक छन्दों की गति में अधिक वैचित्र्य भरने की चेष्टा की है। फलस्वरूप, इन्हें 'स्वर्णिम' के स्थान पर 'स्वर्ण' और 'निष्ठुर' के बदले 'कठोर' का प्रयोग अधिक भाया है। अपनी इस धारणा को शास्त्रीय अभिव्यक्ति देते हुए इन्होंने लिखा है—"इस युग में जब हम ह्रस्व-दीर्घ-मात्रिक के पाश से मुक्त होकर अक्षरमात्रिक तथा गद्यवत् मुक्त छन्द लिखने में अधिक सौकर्य अनुभव करते हैं, मेरी दृष्टि में, ह्रस्व-दीर्घ-मात्रिक में यति को मानते हुए सम-विषम की गति में इधर-उधर परिवर्तन कर देना कविता पर किसी प्रकार का अत्याचार नहीं होगा, बल्कि उससे ह्रस्व-दीर्घ-मात्रिक में स्वरपात का सौन्दर्य आ जाता है"।—गद्यपथ, पन्त, प्रथम संस्करण, पृ० १०९।

ह्रस्व-दीर्घ-मात्रिक छन्द पर पन्त की नवीनतम धारणा इस प्रकार है—"छन्द की दृष्टि से श्रेष्ठतम छायावादी काव्य की सर्जना ह्रस्व-दीर्घ-मात्रिक छन्दों में हुई है, क्योंकि ह्रस्व-दीर्घ मात्रा-विधान ही में हिन्दी-भाषा का स्वाभाविक उच्चारण-संगीत अन्तः-संगठित मिलता है।···मूल्यांकन की दृष्टि से मैं (ह्रस्व-दीर्घ-मात्रिक और अक्षरमात्रिक) दोनों में ह्रस्व-दीर्घ-मात्रिक छन्द को ही, चाहे वह बद्ध हो या मुक्त, उच्च स्थान दूँगा, क्योंकि वह हिन्दी-काव्य की संगीतात्मक संवेदना के अधिक निकट है।"—छायावाद : पुनर्मूल्यांकन, पन्त, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, १९६५, पृ० १०२-१०४।

३. पन्त ने उत्तराकाल की रचनाओं में स्वर-पात का सौंदर्य भरने के लिए ह्रस्व-दीर्घ-मिश्रित अंत्यानुप्रासों या तुकों के बदले केवल सूक्ष्म या नम्र अंत्यानुप्रास अर्थात् केवल ह्रस्व अंत्यानुप्रासों का अधिक प्रयोग किया है। जैसे—कोमल, लोचन, सुरभित इत्यादि। इनका कहना है कि नम्र यानी ह्रस्व मात्रिक अंत्यानुप्रास अधिक सूक्ष्म होने के कारण छन्द-प्रवाह में घुल-मिलकर खो जाते हैं।—गद्यपथ, पन्त, प्रथम संस्करण, पृ० १०९।

पन्त की इन पंक्तियों से चलता है, "तुक राग का हृदय है; जहाँ उसके प्राणों का स्पन्दन······लययुक्त हो जाता है।"[१]

छायावादी कविता के संगीत-पक्ष पर शब्द-संगीत और अर्थ-संगीत अथवा भाव-संगीत की दृष्टि से भी सोचा जा सकता है। शब्द-संगीत अपनी मूर्तता के कारण प्रायः साधारण कोटि का, किन्तु, सर्वग्राह्य होता है, जबकि अर्थ-संगीत अधिक मार्मिक होता है और अपेक्षाकृत अमूर्त रहने के कारण एक विशेष प्रकार के दीक्षित सहृदय-वर्ग के लिए ही ग्राह्य होता है। दूसरी बात यह है कि शब्द-संगीत की स्वीकृति से काव्य का सच्चा स्वरूप विकृत हो जाता है और कविता के अर्थ-सौन्दर्य का सहज विकास अवरुद्ध हो जाता है। इसके विपरीत अर्थ-संगीत अथवा भाव-संगीत में काव्य-तत्त्व की वास्तविक मार्मिकता अक्षुण्ण रहती है। इसीलिए अत्याधुनिक कविता की गति अर्थ-संगीत की ओर है, जिसे कई कला-चिन्तकों ने संगीत का आन्तरीकरण (इंटर्नलाइज़ेशन ऑव म्यूजिक) कहा है। इस तरह छायावादी काव्य-संगीत के दो प्रकार—शब्द-संगीत और भाव-संगीत—अथवा अर्थ-संगीत—हमारे समक्ष उपस्थित होते हैं। शब्द-संगीत अनुप्रासयमक-प्रधान अथवा नाद-प्रधान हुआ करता है। जैसे—

मृदु मंद मंद, मंथर मंथर, लघु तरणि, हंसिनी सी सुन्दर,
तिर रही, खोल पालों के पर।[२]

इसमें अनुप्रास-प्रधान शब्द-संगीत है, किन्तु, निराला की इन पंक्तियों में—

कण कण कर कंकण प्रिय
किनकिन रव किंकिणी।
रणन-रणन नूपुर उर-लाज
लौट रंकिणी।[३]

नाद-प्रधान शब्द-संगीत है।[४] तदनन्तर, भाव-संगीत या अर्थ-संगीत अभिधा,

---

१. पल्लव, पन्त, भूमिका, प्रथम संस्करण, पृ० ४०।
२. पन्त, गुंजन में संकलित नौका-विहार शीर्षक कविता।
३. निराला, गीतिका, भारती-भण्डार, इलाहाबाद, चतुर्थ संस्करण, पृ० ८।
४. ऐसे ही नाद-प्रधान शब्द-संगीत का प्रयोग विद्यापति ने इन पंक्तियों में किया है—

किंकिन किनि किनि कंकन कन कन
घन घन नूपुर बाजे
रति-रन मदन पराभव मानल
जय जय डिम डिम बाजे।

अथवा

बाजत द्रिगि द्रिगि धौद्रिम द्रिमिया
नटति कलावति माति श्याम संग
कर करताल प्रबंधक ध्वनिया।

लक्षणा अथवा व्यंजना पर आश्रित रहता है। अतः भाव-संगीत के तीन प्रकार होते हैं—अभिधाश्रित भाव-संगीत, लक्षणाश्रित भाव-संगीत और व्यंजनाश्रित भाव-संगीत। इन तीन प्रकारों में व्यंजनाश्रित भाव-संगीत सर्वश्रेष्ठ होता है। इसमें प्रसंगगर्भत्व, अकथित अर्थ-संकेत, अध्याहार, कल्पना-शक्ति का प्लवन—ये सभी गुण विद्यमान रहते हैं। **निराला** की ये पंक्तियाँ व्यंजनाश्रित भाव-संगीत का अन्यतम उदाहरण हैं—

> मधु-ऋतु-रात, मधुर अधरों की पी मधु सुध-बुध खो ली,
> खुले अलक मुँद गये पलक-दल श्रम-सुख की हद हो ली—
> बनी रति की छवि भोली।[1]

इस तरह छायावादी काव्य-संगीत की रूपरेखा हमारे समक्ष कुछ इस प्रकार उपस्थित होती है—
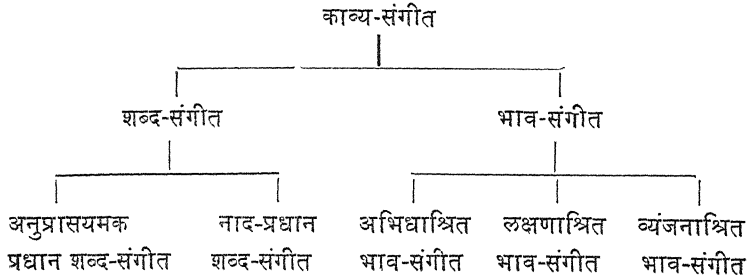
इस प्रसंग में यह ध्यातव्य है कि शब्द-संगीत और भाव-संगीत के बीच अन्योन्याभाव संबंध नहीं है अर्थात् इन दोनों की युग-पद् स्थिति भी संभव है। अतः छायावाद के अन्तर्गत अनेक ऐसी कविताएँ मिलती हैं, जिनमें शब्द-संगीत और भाव-संगीत का शुक्ति-स्वाति-संयोग है। विशेषकर, **निराला** की कई ऐसी कविताएँ हैं, जिनमें शब्द-संगीत और भाव-संगीत के सर्वोत्कृष्ट रूपों अर्थात् नाद-प्रधान शब्द-संगीत और व्यंजनाश्रित भाव-संगीत का सुष्ठु मिश्रण मिलता है। जैसे—

> मौन रही हार।
> प्रिय पथ पर चलती, सब कहते श्रृंगार।
> कण कण कर कङ्कण. प्रिय
> किण-किण रव किङ्किणी,
> रणन-रणन नूपुर, उर लाज,
> लौट रंङ्किणी;

---

१. निराला, गीतिका, भारती-भंडार, इलाहाबाद, चतुर्थ संस्करण, पृ० ४६।

और मुखर पायल स्वर करें बार-बार,
प्रिय-पथ पर चलती, सब कहते शृंगार।
शब्द सुना हो, तो अब
लौट कहाँ जाऊँ ?
उन चरणों को छोड़, और
शरण कहाँ पाऊँ ?
बजे सजे उर के इस सुर के सब तार—
प्रिय-पथ पर चलती, सब कहते शृंगार।[१]

इस कविता के प्रथम बन्द में शब्द-संगीत (नाद-प्रधान शब्द-संगीत) की प्रधानता है और दूसरे बन्द में व्यंजनाश्रित भाव-संगीत की। दूसरी बात यह है कि छायावादी कविता में भाव-संगीत के अन्तर्गत अभिधाश्रित भाव-संगीत नहीं मिलता है। व्यंजनाश्रित भाव-संगीत की दृष्टि से **निराला** की कविताएँ और लक्षणाश्रित भाव-संगीत की दृष्टि से **प्रसाद** की कविताएँ[२] विशेष महत्त्वपूर्ण हैं।

छायावादी कवियों के भाव-संगीत अथवा अर्थ-संगीत पर आधुनिक कला-चिन्तन में बहुचर्चित काव्य-संगीत के आन्तरीकरण (इंटर्नलाइज़ेशन) की दृष्टि से भी विचार किया जा सकता है। आधुनिक विचारकों में **जाक मारिताँ, आइ० ए० रिचर्ड्स, टी० एस० इलियट और एजरा पाउण्ड** ने काव्य-संगीत के आन्तरीकरण पर विस्तार से विचार किया है।

जाक मारिताँ का कथन है कि संगीत-चेतना कवि के कलात्मक सहजज्ञान (आर्टिस्टिक इन्ट्युइशन) का एक अंश है।[3] इसी मान्यता के आधार पर **जाक मारिताँ** ने 'द थ्री इपिफ़ॅनीज़ॅ ऑव क्रिएटिव इन्ट्युइशन शीर्षक निबन्ध में लिखा है कि काव्य के अभिव्यक्ति-पक्ष का सम्बन्ध तीन गुणों से है—आन्तरिक लय (इनर मे'लॅडि), कार्य और विषय (ऐक्शन ऐन्ड कॉन्टॅंट) तथा संहृति-मूलक विस्तार (हार्मोनिक इक्स्पैन्शन)। निश्चय ही, इनमें से दो—आन्तरिक लय और संहृतिमूलक विस्तार—का सम्बन्ध काव्य-संगीत से है। **जाक मारिताँ**

---

१. निराला, गीतिका, भारती-भण्डार, इलाहाबाद, चतुर्थ संस्करण, पृ० ८।

२. जैसे—

उठ उठ री लघु लघु लोल लहर।
करुणा की नव अँगराई-सी'
मलयानिल की परछाईं-सी,
इस सूखे तट पर छिटक छहर।
—प्रसाद, लहर, भारती-भण्डार, प्रयाग, पंचम संस्करण, पृ० ९।

३. *Jacques Maritain*, Creative Intuition In Art And Literature, London, 1954, p. 83-84.

ने आन्तरिक लय को काव्य-बोध (पोएटिक सेन्स) भी कहा है। इस काव्य-बोध को ही आधुनिक कविता में काव्य-संगीत के आन्तरीकरण का श्रेय है, जिसके चलते कविता शब्द-संगीत की संकीर्ण प्राचीरों से निकलकर व्यंजनाश्रित अर्थ-संगीत की विस्तृत भूमि पर उन्मुक्त भाव से विचर सकी है।

आइ० ए० रिचर्ड्स ने 'द ऐम्पास ऑव म्यूज़िकल थीऑरि'[1] शीर्षक निबन्ध के अन्तर्गत कविता के अर्थ-संगीत पर विचार किया है। इनकी विचारणा का प्रस्थान-बिन्दु मूलतः मनोवैज्ञानिक है, अतः वह कला की दृष्टि से कम उपयोगी है। इन्होंने एक अन्य विचारक[2] के संगीत-सिद्धान्त का आश्रय लेते हुए कहा है कि काव्य का संगीत उसकी आन्तरिक लय में रहता है और उससे उत्पन्न प्रभाव ही उसका उपयोग पक्ष है। इस तरह **रिचर्ड्स** ने काव्य-संगीत के आन्तरीकरण को इतना बढ़ा दिया है कि अदीक्षितों और काव्यास्वाद के सामान्य दीक्षितों तक को ऐसे संगीत से निर्मित कविता असांगीतिक लग सकती है। निश्चय ही छायावादी कविता का काव्य-संगीत इस सीमा तक अबूझ नहीं है।

टी० एस० इलियट ने काव्य-संगीत और उसके आन्तरीकरण का विश्लेषण 'दि म्यूज़िक ऑव पोइट्रि'[3] शीर्षक निबन्ध में अच्छी तरह किया है। इनकी पहली मान्यता यह है कि कविता का संगीत प्रकट नहीं, अप्रकट (लेटॅन्ट), अव्यक्त या प्रच्छन्न होता है। स्पष्ट है कि अधिकांश छायावादी कविता का संगीत प्रच्छन्न नहीं है। केवल मुक्त छन्द में रची गई कविताओं का संगीत प्रच्छन्न संगीत की कोटि में आ सकता है। तदनन्तर, **इलियट** की दूसरी मान्यता यह है कि कविता का संगीत 'मेलॅडि' (स्वर-माधुर्य का संगीतमय क्रम) से पृथक् भी हो सकता है। अर्थात्, काव्य-संगीत में विशुद्ध संगीत के असदृश (या उससे पृथक्) विस्वरता, बेसुरापन, विसंवादिता अथवा असंगति (डिसॅनॅन्स) तथा श्रुतिकटुता (कैकॉफ़ॅनि)[4] का भी प्रयोग हो सकता है; किन्तु, उस दशा में भी काव्य का संगीत क्षतिग्रस्त नहीं होगा। इसलिए **इलियट** के विचार से उत्कृष्ट काव्य-संगीत सर्वथा गद्यात्मक (प्रोज़ेक) होता है। **इलियट** की यह मान्यता भी मुक्त छन्द में रची गई छायावादी कविताओं पर कियदंश में लागू

---

१. *I. A. Richards*, Principles of Literary Criticism, London, 1955, p. 168.

२. Gurney.

३. *T. S. Eliot*, W. P. Ker Memorial Lectures, Glasgow University, 1942.

४. Cacophony.

हो सकती है। इसके बाद **इलियट** की तीसरी मान्यता यह है कि काव्य-संगीत शब्दों के सन्दर्भ और पारस्परिक सम्बन्ध पर निर्भर करता है। आशय यह है कि कोई शब्द अर्थ और उच्चारण की दृष्टि से किस प्रकार और कितनी आकांक्षा लेकर पूर्ववर्ती और परवर्ती शब्दों के साथ अपने को जोड़ता है—इसी पर उसका संगीत निर्भर करता है। जैसे—'छुमछुम छननन, झुमझुम झननन' के वर्ण-विपर्यय में कोई संगीत नहीं होगा, जबकि सभी वर्ण वे ही रहेंगे। इस तरह **इलियट** शब्द-संगीत और अर्थ-संगीत—दोनों को अविच्छेद्य मानते हैं। छायावाद की वे कविताएँ, जिनमें नादप्रधान शब्द-संगीत और व्यंजनाश्रित अर्थ-संगीत की युगपद् स्थिति है, **इलियट** की इस मान्यता के निष्कर्ष पर खरी उतर सकती हैं। काव्य-संगीत के विषय में **इलियट** की अन्तिम मान्यता यह है कि काव्य का संगीत किसी एक पद, पंक्ति या अन्य में नहीं रहता, बल्कि सम्पूर्ण रचना में समाया रहता है। किन्तु, छायावादी कविता में हम किसी सम्पूर्ण रचना के पीछे एक पूर्व-निश्चित सांगीतिक वातावरण की सृष्टि का सचेष्ट प्रयास कम पाते हैं।

छायावादी काव्य-संगीत के आन्तरीकरण के विषय में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण बात यह है कि छायावादी कवियों ने छन्द के रूढ़ शास्त्रीय बन्धनों को तोड़कर अर्थ-संगीत की सृष्टि के लिए एक नवीन प्रकार के ताल-छन्द का प्रचार किया, जिसका संगीत मात्रा और वर्ण की गणना के निर्धारित नियमों को तोड़कर कवि के भाव-प्रवाह के अनुसार योजित होने लगा। कविता की एक ही पंक्ति में भाव की पूर्णता के साथ ताल को पूर्णता देकर पूर्णक ताल-छन्द की सृष्टि हुई और जहाँ एक से अधिक पंक्तियों में भाव की पूर्णता के साथ ताल को पूर्णता प्रदान की गई, वहाँ पादान्तरप्रवाही ताल-छन्द की योजना हुई। इस तरह छायावादी मुक्त छन्द में संगीत के उस शास्त्रीय पक्ष के प्रति कोई आग्रह नहीं मिलता है, जिसे **एजरा पाउण्ड** ने श्रेष्ठ कविता के लिए आवश्यक माना है।[१] आशय यह है कि छायावादी कवियों ने काव्य-संगीत में ताल को बहुत प्रधानता दी है। भारत के प्राचीन शास्त्रकारों ने भी ताल को सृष्टि-व्यापी महत्त्व दिया था और ताल के बिना समग्र सृष्टि की गति को अकल्पित माना था—

> उत्पत्यादित्रयं लोके यतस्तालेन जायते।
> कीटकादिपशूनाञ्च तालेनैव गतिर्भवेत्॥

---

१. Literary Essays of Ezra Pound edited by T. S. Eliot, London, p. 437.

यानि कानि च कर्माणि लोके तालाश्रितानि च ।
आदित्यादिग्रहाणाञ्च तालेनैव गतिर्भवेत ।।[1]

भारत के प्राचीन शास्त्रकारों द्वारा निर्दिष्ट इस सृष्टिव्यापी ताल-संगीत को अब आधुनिक भौतिकी और खगोल-विद्या के विशेषज्ञ भी सार्वभौम संगीत[2] के नाम से स्वीकार करने लगे हैं। किन्तु, यह निश्चित है कि छायावादी कविता में हमें काव्य और संगीत का वह शास्त्रीय अन्तर्ग्रथन नहीं मिलता, जिसके आधार पर पहले स्वरग, लयग, पदग या चेतोऽवधानग गीतों की सृष्टि की जाती थी।[3]

उपर्युक्त विवेचन से यह निष्कर्ष निकलता है कि छायावादी कवियों की संगीत-चेतना का वैशिष्ट्य उस ताल-निर्वाह पर निर्भर है, जो उनके मुक्त छन्द-विधान में मिलता है। इस प्रकार के मुक्त छन्द के द्वारा छायावादी कवियों ने हिन्दी कविता में एक नवीन संगीत की सृष्टि की। इस नवीन संगीत-सृष्टि के लिए **निराला** ने अग्रदूत का काम किया और उस विशिष्ट संगीत-चेतना के अनिवार्य फल के रूप में मुक्त छन्द अवतरित हो गया। मुक्त छन्द के निपुण कौशल की दृष्टि से **निराला** की कृतियों के बीच **'परिमल'** का अत्यधिक महत्त्व है। **निराला** ने छन्द-योजना की दृष्टि से **'परिमल'** के तीन खण्ड किये हैं। प्रथम खण्ड में सममात्रिक सान्त्यानुप्रास कविताएँ, दूसरे खण्ड में विषममात्रिक सान्त्यानुप्रास कविताएँ और तीसरे खण्ड में स्वच्छन्द छन्द हैं। दूसरे खण्ड की विषम-मात्रिक सान्त्यानुप्रास कविताओं में **निराला** ने **पन्त** की तरह ह्रस्व-दीर्घ मात्रिक संगीत का सफल निर्वाह किया है। **निराला** ने **'परिमल'** की भूमिका में प्रथम और द्वितीय खण्ड की छन्द-योजना के प्रकार पर विशेष रूप से कुछ नहीं कहा है। उक्त भूमिका में उन्होंने तृतीय खण्ड की छन्द-योजना अर्थात् स्वच्छन्द छन्द पर ही विशेष प्रकाश डाला है। स्वच्छन्द छन्द के पक्ष में उनका दार्शनिक तर्क यह है कि "मनुष्यों की मुक्ति की तरह कविता की भी मुक्ति होती है।

---

१. संगीत के प्रति इसीसे मिलती-जुलती धारणा हमें प्रसाद की इन पंक्तियों में मिलती है, जो देवसेना के द्वारा विजया को कही गई हैं—"बिना गान के कोई कार्य नहीं। विश्व के प्रत्येक एक कम्प में एक ताल है।···प्रत्येक परमाणु के मिलने में एक सम है, प्रत्येक हरी-हरी पत्ती के हिलने में एक लय है।···पक्षियों को देखो, उनकी 'चहचह', 'कलकल', 'छलछल' में, काकली में, रागिनी है।"—प्रसाद, स्कन्दगुप्त विक्रमादित्य, भारती-भण्डार, प्रयाग, दसवाँ संस्करण, पृ० ५४-५५।

२. Comic Music.

३. स्वरगं पदगं चैव तथा लयगमेव च।
चेतोऽवधानगं चैव गेयं ज्ञेयं चतुर्विधम्।।
—वात्स्यायन कृत 'कामसूत्रम्', प्रथम खण्ड।

मनुष्यों की मुक्ति कर्मों के बन्धन से छुटकारा पाना है और कविता की मुक्ति छन्दों के शासन से अलग हो जाना ।"[1] अपनी मान्यता को तर्क-पुष्ट बनाने के लिए उन्होंने कहा है कि "मुक्त काव्य कभी साहित्य के लिए अनर्थकारी नहीं होता, प्रत्युत उससे साहित्य में एक प्रकार की स्वाधीन चेतना फैलती है, जो साहित्य के कल्याण की ही मूल होती है ।"[2] इतना ही नहीं, **निराला** ने प्रकारान्तर-पद्धति से यह भी संकेतित किया है कि स्वच्छन्द छन्द प्राचीन काल से चला आ रहा है, अतः इसका विरोध दृष्टि की संकीर्णता का परिचायक है । गायत्री मंत्र और वेद की कई ऋचाओं में हम छन्द की स्वच्छन्दता पाते हैं, जहाँ गणात्मक पद्धति या ह्रस्व-दीर्घ-क्रम का कोई सचेष्ट निर्वाह नहीं मिलता है । परवर्ती काल की बढ़ती छन्दप्रियता और बन्धनों के अमोघ स्वीकरण का कारण बतलाते हुए **निराला** ने लिखा है कि जनरुचि में "ज्यों-ज्यों चित्रप्रियता बढ़ती गई है, साहित्य में स्वच्छन्दता की जगह नियंत्रण तथा अनुशासन प्रबल होता गया है ।"[3] इस तरह उन्होंने वृद्धिगत चित्रप्रियता को छन्द-बन्धन का कारण माना है । उनकी दृष्टि में मुक्त छन्द भी काव्य-संगीत को समृद्ध करता है, क्योंकि मुक्त छन्द 'अपनी विषम गति में एक ही साम्य का अपार सौन्दर्य देता है ।'

तदनन्तर, यह एक विचारणीय बात है कि **निराला** का स्वच्छन्द मुक्त छन्द हिन्दी के तथाकथित भिन्नतुकान्त से सर्वथा भिन्न है, क्योंकि भिन्नतुकान्त में तुक की भिन्नता तो रहती है; परन्तु उसमें गण, मात्रा अथवा वर्ण का कोई-न-कोई बन्धन अवश्य रहता है । और, जहाँ किसी प्रकार का बन्धन रहता हो, वहाँ स्वच्छन्द छन्द या मुक्त छन्द कैसे अवतरित हो सकता है । इसलिए आदर्श मुक्त छन्द में गण, मात्रा अथवा वर्ण का कोई बन्धन नहीं रहता है । इस तरह निराला ने नियम-राहित्य को ही छन्दों की वास्तविक मुक्ति के रूप में स्वीकार किया है और हिन्दी में प्रचलित भिन्नतुकान्त छन्दों को[4] स्वच्छन्द छन्द या मुक्त छन्द से सर्वथा भिन्न माना है । उनकी दृष्टि

---

१. निराला, परिमल, गंगा पुस्तकमाला, लखनऊ, संवत् २००७, पृ० १४ ।

२. निराला, परिमल, गंगा पुस्तकमाला, लखनऊ, संवत् २००७, पृ० १४ ।

३. उपरिवत् ।

४. इन भिन्नतुकान्त छन्दों को निराला ने तीन वर्गों में बाँट दिया है—मात्रिक भिन्नतुकान्त, वर्णात्मक भिन्नतुकान्त और गणात्मक भिन्नतुकान्त, जिनका प्रवर्त्तन क्रमशः प्रसाद, मैथिलीशरण गुप्त और हरिऔध ने किया है ।—'परिमल' की भूमिका । प्रसाद ने मात्रिक भिन्नतुकान्त अथवा मात्रिक वृत्तों में अतुकान्त कविता का प्रारम्भ हिन्दी साहित्य में किया—इसकी घोषणा 'करुणालय' के प्रकाशकीय नोट में भी की गई है । "प्रसादजी हिन्दी में छायावाद के विधाता तो हैं ही, अतुकान्त कविता के

में तो मुक्त छन्द वही है, जो छन्दों की भूमि में रहकर भी मुक्त हो। कारण, भावों की मुक्ति छन्द की भी मुक्ति चाहती है। अतः मुक्त छन्द में भाषा, भाव और छन्द—तीनों स्वतंत्र रहते हैं। फलस्वरूप, निराला ने हिन्दी-काव्य को सब प्रकार के बन्धनों से मुक्त करने के लिए मुक्त छन्द और मुक्त गीत का सृजन किया। इस मुक्त छन्द और मुक्त गीत के स्वरूप का विश्लेषण करते हुए निराला ने लिखा है—"हिन्दी काव्य की मुक्ति के लिए मुझे दो उपाय मालूम दिये, एक वर्णवृत्त में, दूसरा मात्रावृत्त में। 'जुही की कली' की वर्णवृत्त वाली जमीन है। इसमें अन्त्यानुप्रास नहीं। यह गाई नहीं जाती। इससे पढ़ने की कला व्यक्त होती है। 'परिमल' के तीसरे खण्ड में इस तरह की रचनाएँ हैं। इनके छन्द को मैं मुक्त छन्द कहता हूँ। दूसरी मात्रावृत्तवाली रचनाएँ **'परिमल'** के दूसरे खण्ड में हैं। इनमें लड़ियाँ असमान हैं, पर अन्त्यानुप्रास है। आधार मात्रिक होने के कारण ये गाई जा सकती हैं। पर संगीत अंगरेज़ी ढंग का है। इस गति को मैं 'मुक्तगीत' कहता हूँ। जैसे 'बादल-राग' शीर्षक से छः रचनाएँ इसी मुक्तगीत में हैं।"[1] **निराला** के इस मुक्त छन्द या मुक्तगीत का ताल-वैभव अथवा संगीत-सौष्ठव तब पूरी महिमा के साथ हृदयंगम होता है, जब हम उस पर **एजरा पाउण्ड** के 'वर्स लिब्रे', **टी० एस० इलियट** द्वारा

आरम्भकर्ता भी वे ही हैं। निस्सन्देह हिन्दी में गण वृत्तों में उनके लिखने के बहुत पहले भी अमित्राक्षर कविता लिखी गई है, किन्तु, मात्रिक वृत्तों में उसका प्रयोग तथा भावों और वाक्यों की—चरणों के बन्धन में न पड़कर—स्वतन्त्र गति, आरम्भ और अवसान—प्रसादजी की ही सृष्टि है। वृत्तों में ऐसी स्वतन्त्रता पाकर भाषा में एक विलक्षण प्रवाह और रस आ जाता है, जो बहुत ही आनन्ददायक होता है।…" करुणालय, प्रसाद, भारती-भण्डार, बनारस सिटी, द्वितीय संस्करण, 'प्रकाशक का नोट'। इस प्रकार 'करुणालय' एक दृश्य गीतिनाट्य होकर भी छन्द-चेतना की दृष्टि से विचारणीय है, क्योंकि इसमें संस्कृत के कुलक, अंग्रेज़ी के 'ब्लैंक वर्स' या बँगला के अमित्राक्षर छन्द की तरह तुकान्तहीन मात्रिक छन्द में वाक्यानुसार विराम-चिह्नों का प्रयोग किया गया है। 'महाराणा का महत्त्व' नामक पुस्तक के प्रकाशकीय 'कथन' में प्रसाद के द्वारा प्रवर्त्तित इस भिन्नतुकान्त अथवा तुकान्तविहीन कविता के छन्द-वैशिष्ट्य का उद्घाटन करते हुए लिखा गया है कि "तुकान्त-विहीन कविता में वर्ण-विन्यास का प्रवाह और श्रुति के अनुकूल गति का होना आवश्यक है।…अतः लेखक (प्रसाद) ने भिन्नतुकान्त कविता के लिए कई तरह के छन्दों से काम लिया है। उनमें से २१ मात्रा का छन्द, जो अरिल्ल नाम से प्रसिद्ध था, वही विरति के हेर फेर से प्रचलित किया हुआ अधिकांश कविताओं में व्यवहृत है। इस छन्द में भिन्नतुकान्त में, सबसे पहली कविता, लेखक की 'भरत' नाम की है।"—महाराणा का महत्त्व, जयशंकर 'प्रसाद', भारती-भण्डार, इलाहाबाद, संवत् २०१२ वि०, प्रकाशकीय कथन, पृ० १।

१. निराला, प्रबन्ध-प्रतिमा, भारती-भण्डार, इलाहाबाद, १९४०, पृ० २९९।

प्रतिपादित काव्य-संगीत-सिद्धान्त, **जॉक मारिताँ** द्वारा निर्दिष्ट संगीत का आन्तरीकरण-सिद्धान्त (इन्टर्नलाइज़ेशन ऑव म्यूज़िक) और हिन्दी के आधुनिक छन्दःशास्त्रियों द्वारा विवेचित ताल-छन्द की व्यापक पृष्ठभूमि में विचार करते हैं।

कहा जाता है कि मुक्त छन्द के द्वारा काव्य-संगीत की सृष्टि के सैद्धान्तिक पक्ष पर फ्रांस में सर्वाधिक चिन्तन हुआ है। फ्रेंच साहित्य में हमें वास्तविक मुक्त छन्द और 'अपाततःप्रतीत' मुक्त छन्द के पार्थक्य पर सुस्थ विश्लेषण मिलता है, जिसके आधार पर हम छायावादी मुक्त छन्द-प्रयोगों के बीच भी 'असल' और 'नकल' का पता लगा सकते हैं। फ्रेंच साहित्य में मुक्त छन्द के दो प्रकारों का निरूपण मिलता है— 'वेर लीब्र'[१] और 'वेर्स लिबेरे'[२]। 'वेर लीब्र' जन्मजात मुक्त छन्द है और 'वर्स लिवेरे' पूर्वनिर्धारित छन्द-बन्धनों से मुक्ति का प्रयास है। इस तरह परम्परा से प्रचलित वर्णिक-मात्रिक छन्द-बन्धनों के विरुद्ध जो मुक्त छन्द प्रचलित हुआ, उसका सर्वोत्तम रूप हमें 'वेर लीब्र' में मिलता है। अर्थात् 'वेर लीब्र' छन्द-मुक्ति की पार्यन्तिक दशा है,[3] 'वेर्स लिबेरे' नहीं। इसका एक आशय यह भी है कि 'वेर्स लिबेरे' को और भी मुक्त कर 'वेर लीब्र' बनाया जा सकता है। इस प्रकार-विश्लेषण की दृष्टि से छायावादी कवियों के बीच **निराला** का मुक्त छन्द ही 'वेर लीब्र' है, **प्रसाद** और **पंत** का मुक्त छन्द तो अधिकतर 'वेर्स लिवेरे' है, कारण, इन कवियों ने पुराने वर्णिक—मात्रिक छन्दों को ही तोड़-फोड़कर कुछ नवीनता लाने की चेष्टा की है। **टी० ई० ह्यूम** की मान्यता है कि आधुनिक पाश्चात्य कविता में पूर्ण मुक्त छन्द के प्रथम प्रयोक्ता **गुस्ताव कान**[४] हैं। प्रयोग के अलावा सिद्धान्त में भी **गुस्ताव कान** ने 'वेर लीब्र' को 'डिज़ायर फार ए न्यु म्युज़िक' कहा है।[५] फ्रेंच साहित्य की तरह अंग्रेज़ी कविता में भी नूतन संगीत-सृष्टि के लिए प्रयुक्त 'फ्री वर्स' का अपना सैद्धान्तिक और ऐतिहासिक स्वरूप है। अंग्रेज़ी कविता में **वाल्ट ह्विटमैन** मुक्त छन्द का प्रारम्भिक आन्दोलनकर्ता माना जाता है। प्रयोग

१. Vers Libre.

२. Vers Libéré.

३. ध्यातव्य है कि मुक्त छन्द की आदर्श स्थिति निष्प्राण पद्य-तन्त्र से मुक्तिमात्र नहीं है। आदर्श मुक्त छन्द की काव्य-रचना, रूढ़ पद्य-तन्त्र से मुक्त रहने के साथ ही स्वच्छन्द अपरम्परित अर्थात् नवीन विषय-वस्तु पर निर्भर रहती है। इस प्रकार छन्दोविधावगत मुक्तता और विषयगत स्वच्छन्दता का समन्वय वास्तविक मुक्त छन्द की पहली अनिवार्यता है।

४. Gustave Kahn.

५. *T. E. Hulme*, Further Speculations, Minnesota, 1955, p. 67.

और विकास की दृष्टि से अंग्रेज़ी कविता के मुक्त छन्द-विधान को हम इन तीन प्रकारों में विभाजित कर सकते हैं— १. परम्परा-प्रथित छन्दों का विविध रीति से काट-छाँटकर रूपान्तरित स्वरूप, २. परम्परा-प्रचलित छन्द-पद्धति से विधानतः मुक्त, किन्तु लयानुग होने पर भी कहीं-कहीं पुराने छन्द-संस्कारों से प्रभावित और ३. पुराने छन्द-विधान तथा रूढ़ छान्दसिक संस्कारों से समास-मुक्त किया हुआ स्वतन्त्र लय-निर्भर छन्द ।

छायावादी कविता में संगीतात्मकता की दृष्टि से लय के बाद तुक अथवा अन्त्यानुप्रास का महत्त्व है । कारण, तुक या अन्त्यानुप्रास अथवा चरणान्त की अक्षर-मैत्री से लय पर नियन्त्रण करने और पदों के नाद-सौन्दर्य की वृद्धि में सहायता मिलती है । बहिर्वर्त्ती और अन्तर्वर्त्ती तुक (समसरि उत्तम, विषमसरि उत्तम, कष्टसरि उत्तम, असंयोगमीलित मध्यम, स्वरमीलित मध्यम, दुर्मिल मध्यम, अमिल सुमिल अधम, आदिमत्त अमिल अधम और अंतमत्त अमिल अधम) से काव्य-संगीत का बहुत उपकार होता है । **सुमित्रानन्दन पन्त** ने कहीं-कहीं दुर्मिल मध्यम तुकान्त के द्वारा बहुत अच्छी संगीत-सृष्टि की है । जैसे—

सरलपन ही था उसका मन ।
निरालापन था आभूषन ।

इन पंक्तियों का संगीत दुर्मिल मध्यम तुकान्त पर निर्भर है, क्योंकि यहाँ दोनों पंक्तियों के अंतिम वर्ण तो मिल गये हैं, किन्तु, उनके पूर्ववर्ती स्वर-व्यंजन भिन्न और विजातीय हैं । इस तरह चरणों के समन्वय के आधार पर तुकान्तों के जितने भी प्रचलित ढंग हैं—सर्वान्त्य, समान्त्य, विषमान्त्य और समविषमान्त्य—सबके द्वारा काव्य-संगीत की अभिवृद्धि होती है । तुकों के संयोग से काव्य-संगीत की धारा स्वाभाविक गति से आगे बढ़ती है, कारण, "तुकान्त का प्रभाव भी कुछ ऐसा होता है कि वह चरण के मध्य की स्वरभिन्नता को दबाकर अंत में स्वर को एक ताल पर बैठा देता है । हृदय की लयात्मक प्रवृत्ति से अन्त्यानुप्रास या तुकान्त का इतना सामंजस्य है कि पदोच्चारण के पहले ही विवक्षित पदान्त की कल्पना से सम पर मस्तक झुक जाता है ।"[1] अतः स्पष्ट है कि वृत्त-विधान, लय, अन्त्यानुप्रास इत्यादि नाद-सौन्दर्य के ऐसे साधन हैं,[2] जिनसे काव्य-संगीत का उत्कर्ष सिद्ध होता है । छायावादी कवि भी तुक से उत्पन्न होने वाले संगीत के प्रति सचेत थे । **पन्त** ने बहुत ही गम्भीरता के साथ सैद्धान्तिक निरूपण के स्तर पर लिखा है—

---

१. लक्ष्मीनारायण सुधांशु, जीवन के तत्त्व और काव्य के सिद्धान्त, पृ० १६८ ।

२. रामचन्द्र शुक्ल, चिन्तामणि, प्रथम भाग, पृ० १७६ ।

"तुक राग का हृदय है, जहाँ उसके प्राणों का स्पन्दन विशेष रूप से सुनाई पड़ता है। राग की समस्त छोटी-बड़ी नाड़ियाँ, मानो, अन्त्यानुप्रास के नाड़ी-चक्र में केन्द्रित रहती हैं, जहाँ से नवीन बल तथा शुद्ध रक्त ग्रहण कर वे छन्द के शरीर में स्फूर्ति-संचार करती रहती हैं। जो स्थान ताल में सम का है, वही स्थान छन्द में तुक का। वहाँ पर राग शब्दों की सरल-तरल ऋजु-कुंचित 'परनों' में घूम-फिरकर विराम ग्रहण करता उसका शिर जैसे अपनी ही स्पष्टता में हिल उठता है। जिस प्रकार अपने आरोह-अवरोह में रागवादी स्वर पर बार-बार ठहरकर अपना रूप-विशेष व्यक्त करता है, उसी प्रकार वाणी का राग भी तुक की पुनरावृत्ति से स्पष्ट तथा परिपुष्ट होकर लययुक्त हो जाता है।"[1]

इस प्रसंग में यह भी उल्लेखनीय है कि छायावादी कवियों ने प्रकाश-भंगी, शब्द-प्रयोग आदि में अंग्रेज़ी साहित्य का एकाधिक माध्यमों से—विशेषकर बँगला के माध्यम से—प्रभाव ग्रहण किया, किन्तु, वे छन्द और लय के क्षेत्र में सर्वथा भारतीय ही नहीं, हिन्दी की निजी परम्परा के निकट रहे। उन्होंने अंग्रेज़ी लिरिक-शैली से प्रभावित होने पर भी पाश्चात्य 'सिम्फनी' में निर्मित लय के आधार पर शब्दों की आकांक्षाहीन योजना कर सिनेमा के 'हिट' गीतों की तरह अनुकरण की विडम्बना प्रस्तुत नहीं की। कारण यह है कि छायावादी कवि पाश्चात्य अथवा अंग्रेज़ी संगीत और भारतीय या हिन्दी संगीत के पार्थक्य से परिचित थे। **निराला** ने बहुत ही स्पष्ट शब्दों में अंग्रेज़ी संगीत और हिन्दी संगीत के पार्थक्य तथा हिन्दुस्तानी कवियों द्वारा अंगरेज़ी संगीत के अनुकरण की प्रवृत्ति पर अपनी धारणा व्यक्त की है[2]...."अंग्रेज़ी संगीत की पूरी नकल करने पर उससे भारत के कानों को कभी तृप्ति होगी, यह संदिग्ध है। कारण, भारतीय संगीत की स्वर-मैत्री में जो स्वर प्रतिकूल समझे जाते हैं, वे अंगरेज़ी संगीत में लगते हैं। उनसे अंगरेज़ी (मेरा 'अंगरेज़ी' शब्द से मतलब पश्चिमी से है) हृदय में ही भाव पैदा होता है। अस्तु, अंगरेज़ी संगीत के नाम से जो कुछ लिखा गया, उसे हम अंगरेज़ी संगीत का ढंग कह सकते हैं। स्वर-मैत्री हिन्दुस्तानी ही रही। **डी० एल० राय** और रवीन्द्रनाथ इस ढंग के अपनाने के प्रधान साहित्यिक कहे जायेंगे। एक स्वर 'डी० एल० राय का स्वर' के नाम से बंगाल में प्रसिद्ध है। इसकी लोकप्रियता आज तक है। यह स्वर अंगरेज़ी ढंग से निर्मित है, पर इसे भारतीयता का रूप दिया गया है। स्वर-मैत्री के विचार से रवीन्द्रनाथ के संगीत का ढंग और साफ अंगरेज़ीपन लिये हुए है।

---

१. सुमित्रानन्दन पन्त, पल्लव, प्रथम संस्करण, भूमिका, पृ० ४०।

२. गीतिका, निराला, भारती-भण्डार, इलाहाबाद, वि० २०१२, पृ० ४-५।

फिर भी ये भिन्न-भिन्न रागिनियों में ही बाँधे हुए हैं । सिर्फ अदायगी अंगरेज़ी है । राग-रागिनियों में भी स्वतन्त्रता ली गई है । भाव-प्रकाशन के अनुकूल उनमें स्वर-विशेष लगाये गये हैं—उनका शुद्ध रूप मिश्र हो गया है । यह भाव प्रकाशन वाला बोध पश्चिमी संगीत-बोध के अनुसार है ।" इस प्रकार भारतीय संगीत के प्रति छायावादी कवि का आग्रह प्रकट है । तदनन्तर, छायावादी कविताओं में प्रयुक्त भारतीय संगीत के अनेक शास्त्रीय शब्द इस आग्रह को और भी चरितार्थ करते हैं । छायावादी कवियों ने भारतीय शास्त्रीय संगीत की अनेक राग-रागिनियों के नाम तथा पारिभाषिक शब्दों से कविता के वातावरण-निर्माण और अप्रस्तुतविधान में सहायता ली है । जैसे, **महादेवी वर्मा** की निम्नलिखित कविता में आरोह, अवरोह, मूर्च्छना, दीपक, मेघ-मलार, सम, ताल, स्वर-विस्तार, इत्यादि भारतीय शास्त्रीय संगीत के पारिभाषिक शब्द हैं—

तुम्हारी बीन में ही बज रहे हैं बेसुरे सब तार ।
मेरी सांस में **आरोह**
उर **अवरोह** का संचार,
प्राणों में रही घिर घूमती चिर **मूर्च्छना** सुकुमार ।
चितवन ज्वलित **दीपक-गान**
दृग में सजल **मेघ-मलार**
अभिनव मधुर उज्ज्वल स्वप्न, शत-शत **राग** के शृंगार ।
सम हर निमिष, प्रति पग **ताल**
जीवन अमर **स्वर-विस्तार**
मिटती लहरियों में रच दिये, कितने अमिट संसार ।[1]

इसी तरह **निराला** की इन पंक्तियों में ठाट, अंक, झंकार, गति, मीड़ इत्यादि शब्द भारतीय संगीतशास्त्र के पारिभाषिक शब्द हैं—

फिर सँवार सितार लो ।
बाँध कर फिर **ठाट** अपने
अंक पर **झंकार** दो ।
शब्द के कलि-दल खुलें,
गति-पवन-भर काँप थर-थर
मीड़ भ्रमरावलि ढुलें
फिर बहार बहार हो ।[2]

---

१. महादेवी वर्मा, दीप-शिखा, भारती-भण्डार, इलाहाबाद, चतुर्थ संस्करण, पृ० १३८ ।

२. निराला, अपरा, साहित्यकार संसद, प्रयाग, संवत् २०१७ विक्रम, पृ० ७० ।

'बादल-राग' के चौथे खण्ड[1] में भी **निराला** ने संगीतशास्त्र के पारिभाषिक शब्दों का जमकर प्रयोग किया है—

> तुम्हारे कुंचित केशों में
> अधीर विक्षुब्ध **ताल** पर
> एक **इमन** का-सा अति मुग्ध विराम ।
> ... ...
> मुक्त तुम्हारे मुक्त कंठ में
> **स्वरारोह, अवरोह, विघात,**
> **मधुर मन्द,** उठ पुनः पुनः ध्वनि
> छा लेती है गगन श्याम कानन,
> सुरभित उद्यान······।

इसी प्रकार **पन्त** और **प्रसाद** की कविताओं में भी भारतीय संगीतशास्त्र के अनेक पारिभाषिक शब्द प्रयुक्त हुए हैं, जिनसे भारतीय संगीत के प्रति इन कवियों का निबिड़ आग्रह द्योतित होता है ।

स्वर-संगीत की दृष्टि से छायावादी शब्द-न्यास में श्रुत्यन्तरों और स्वरान्तरों के प्रयोग से क्रमशः माधुर्य एवं रूपाकार की दीर्घता-लघुता का संकेत प्रस्तुत किया गया है । **पन्त** ने **'गुंजन'** के 'विज्ञापन' में 'सा' की अपेक्षा 'रे' की प्रियता का जो उल्लेख किया है,[2] वह श्रुत्यन्तर का निदर्शन है; क्योंकि 'सा' और 'रे' क्रमशः चौथी एवं सातवीं श्रुतियाँ[3] हैं, जिनके बीच में दो ध्वनियाँ अथवा नाद तिरोहित हैं । इसी तरह शब्द-चयन में छायवादी कवियों ने वर्णों की कोमलता और संवादी स्वरों का दुर्लभ निर्वाह किया है । **निराला** को छोड़कर अन्य छायावादी कवियों ने कटु संयुक्ताक्षरों और रूक्षाक्षरों का कम प्रयोग किया है । काव्य-संगीत की यह बारीकी उन कवियों की रचनाओं में घुणाक्षर न्याय से नहीं

---

१. निराला, परिमल, गंगा पुस्तकमाला, लखनऊ, प्रथमावृत्ति, पृ० १५७ ।

२. "पल्लव की कविताओं में मुझे 'सा' के बाहुल्य ने लुभाया था···गुंजन में 'रे' की पुनरुक्ति का मोह नहीं छोड़ सका ।···'सा' से जो मेरी वाणी का सम्वादी स्वर एकदम 'रे' हो गया, यह उन्नति का क्रम संगीत-प्रेमी पाठकों को खटकेगा नहीं, ऐसा मुझे विश्वास है ।"—पन्त, गुंजन, विज्ञापन, पृ० १ ।

३. श्रुति स्वर का ऐसा सूक्ष्म अवयव या अंग है, जो स्वारम्भ में सुनाई पड़ता है । इसीलिए यह कहा जाता है कि श्रुतियों को निरन्तर उत्पन्न करने से स्वर की उत्पत्ति होती है । 'नाट्यशास्त्र' के सुषिराध्याय से भी यही निष्कर्ष निकलता है कि श्रुतियाँ स्वरों का घटक अंग हैं । सच पूछा जाए तो श्रुति और स्वर में बहुत ही सूक्ष्म भेद होता है । संगीत में श्रुतियों का आधारभूत महत्त्व है, क्योंकि श्रुति से ही स्वर, स्वरों से ग्राम, ग्राम से मूर्च्छना, मूर्च्छना से जाति और जाति से रागों की उत्पत्ति होती है ।

आई है, बल्कि वे इसके प्रति सजग थे।[1] **पन्त** ने स्वयं ही स्वीकार किया है कि "गुंजन के भाषा-संगीत में एक सुघरता, मधुरता और श्लक्ष्णता आ गई है, जो पल्लव में नहीं मिलती। गुंजन के संगीत में एकता है, पल्लव के स्वरों में बहुलता।"[2] इसी तथ्य को अधिक स्पष्ट करते हुए **पन्त** ने यह मन्तव्य व्यक्त किया है कि "पल्लव से गुंजन तक मेरी भाषा में एक प्रकार के अलंकार रहे हैं, और वे अलंकार भाषा संगीत को प्रेरणा देने वाले तथा भाव-सौन्दर्य की पुष्टि करनेवाले हैं।"[3]

काव्य-संगीत के प्रति **पन्त** के सुचिन्तित दृष्टिकोण का सर्वोत्तम निदर्शन हमें '**पल्लव**' की भूमिका में मिलता है, जिसमें **पन्त** ने काव्य-संगीत के सम्बन्ध में निम्नलिखित मान्यताएँ उपस्थित की हैं—

(क) "संस्कृत का संगीत जिस तरह हिल्लोलाकार मालोपमा में प्रवाहित होता है, उस तरह हिन्दी का नहीं। वह लोल लहरों का चंचल कलरव, बाल-झंकारों का छेकानुप्रास है।···हिन्दी का संगीत स्वरों की रिमझिम में बरसता, छनता, छनकता, बुद्बुदों में उबलता, छोटे-छोटे उत्सों के कलरव में उछलता-किलकता हुआ बहता है।"

(ख) "हिन्दी का संगीत केवल मात्रिक छन्दों में ही अपने स्वाभाविक विकास तथा स्वास्थ्य की सम्पूर्णता प्राप्त कर सकता है, उन्हीं के द्वारा उसमें सौंदर्य की रक्षा की जा सकती है।···हिन्दी का संगीत ही ऐसा है कि उसके सुकुमार पद-क्षेप के लिए वर्ण-वृत्त पुराने फ़ैशन के चाँदी के कड़ों की तरह बड़े भारी हो जाते हैं। उसकी गति शिथिल तथा विकृत हो जाती, उसके पदों में वह स्वाभाविक नूपुर-ध्वनि नहीं रहती।"

(ग) "हिन्दी का स्वाभाविक संगीत ह्रस्व-दीर्घ मात्राओं को स्पष्टतया उच्चरित करने के लिए पूरा-पूरा समय देता है। मात्रिक छन्द में बद्ध प्रत्येक लघु-गुरु अक्षर को उच्चारण करने में जितना काल तथा विस्तार मिलता, उतना ही स्वाभाविक वार्त्तालाप में भी साधारणतः मिलता है; दोनों में अधिक अन्तर नहीं रहता। यही हिन्दी के राग की सुन्दरता तथा विशेषता है।"

---

१. पन्तजी शैशव से ही प्रेम के प्रति सजग थे। इन्होंने लिखा है, "स्वर-ताल का ज्ञान मुझे छुटपन से ही था और भैरवी, काफी, भूपाली, खमाच आदि प्रमुख रागों को भी मैं तब पहचान लेता था।"—सुमित्रानन्दन पन्त, 'साठ वर्ष : एक रेखांकन', राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, १९६०, पृ० १३।

२. आधुनिक कवि २, श्री सुमित्रानन्दन पन्त, हिन्दी साहित्य सम्मेलन प्रयाग, संवत् २०१२, पृ० १२।

३. आधुनिक कवि २, श्री सुमित्रानन्दन पन्त, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, संवत् २०१२, पृ० १५-१६।

(घ) "काव्य-संगीत के मूल तन्तु स्वर[1] हैं न कि व्यंजन; जिस प्रकार सितार में राग का रूप प्रकट करने के लिए केवल 'स्वर के तार' पर ही कर-संचालन किया जाता और शेष तार केवल स्वर-पूर्ति के लिए, मुख्य तार को सहायता देने भर के लिए झंकारित किये जाते, उसी प्रकार कविता में भी भावना का रूप स्वरों के सम्मिश्रण, उनकी यथोचित मैत्री पर ही निर्भर रहता है; ध्वनि-चित्रण को छोड़कर अन्यत्र व्यंजन-संगीत भावना की अभिव्यक्ति को प्रस्फुटित करने में प्रायः गौण रूप से सहायता मात्र करता है।"[2]

'पल्लव' की भूमिका के बाद काव्य-संगीत और छन्द-चेतना के प्रति **पन्त** का सुचिन्तित दृष्टिकोण **'उत्तरा'** की प्रस्तावना में मिलता है। यद्यपि **'उत्तरा'** तक आते-आते कवि की कविताएँ अत्यन्त विचार-प्रधान हो गई हैं तथापि कविता के कला-पक्ष, विशेषकर छन्द-चेतना के प्रति कवि पूर्ववत् सचेत रहा है तथा उसने अपने काव्य-संगीत को उन ह्रस्व अन्त्यानुप्रासों की ओर अधिक प्रेरित किया है, जो दीर्घ अन्त्यानुप्रासों की तुलना में अधिक कलात्मक होते हैं। कवि ने अपनी छन्द-चेतना के विकास को निर्दिष्ट करते हुए दो मुख्य बातें कही हैं—

(क) "स्वर्णकिरण और स्वर्णधूलि में मैंने यत्र-तत्र छन्दों की समविषम गति की एकस्वरता को बदलने की दिशा में भी कुछ प्रयोग किये हैं, जिससे ह्रस्व-दीर्घ मात्रिक छन्दों की गति में अधिक वैचित्र्य तथा शक्ति आ जाती है।"

(ख) इस युग में जब हम ह्रस्व-दीर्घ मात्रिक के पाश से मुक्त होकर अक्षरमात्रिक गद्यवत् मुक्तछन्द लिखने में अधिक सौकर्य अनुभव करते हैं, मेरी दृष्टि में, ह्रस्व-दीर्घ मात्रिक में यति को मानते हुए सम-विषम की गति में

---

१. पन्त ने इस स्वर-संगति या स्वर-संगीत का छायावादी कविता में विनियोग दिखलाते हुए लिखा है, "छायावादी कवियों ने छन्दों में मात्राओं से अधिक महत्त्व उनके प्रसार तथा स्वर-संगति को दिया। उन्होंने कई प्रचलित छन्दों को अपनाते हुए भी, उनके पिटे-पिटाये यति-गति में बँधे रूप को स्वीकार न कर, उनमें प्रसार की दृष्टि से नये प्रयोग कर दिखाये। स्वर-संगीत का भी उनकी कविताओं में अद्भुत चमत्कार मिलता है। इन कारणों से छन्द उनके हाथों से बिल्कुल नये होकर निखरे। वैसे एक ही रचना में कम-अधिक मात्राओं की पंक्तियों का उपयोग कर उन्होंने गति तथा लय-वैचित्र्य की सृष्टि तो की ही—जिसे आज नये कवि भी महत्त्व देते हैं—पर उससे भी अधिक छन्द-सृष्टि को उनकी देन रही है स्वर-संगीत संबंधी वैचित्र्य की। मात्रिक तथा लय-छन्दों के अतिरिक्त छायावाद-युग में आलापोचित, अक्षर मात्रिक मुक्त छन्दों का भी बहुतायत से प्रयोग हुआ है।"—पन्त, रश्मिबंध, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, १९५८, पृ० १६।

२. सुमित्रानन्दन पन्त, गद्य-पथ, साहित्य भवन, इलाहाबाद, १९५३, पृ० २३, २४, २७, २८।

इधर-उधर परिवर्तन कर देना कविता पर किसी प्रकार का अत्याचार नहीं होगा, बल्कि उससे ह्रस्व-दीर्घ मात्रिक में स्वरपात का सौंदर्य आ जाता है। इन रचनाओं में मैंने ह्रस्व अन्त्यानुप्रासों का अधिक प्रयोग किया है—यथा कोमल, लोचन, सुरभित, इत्यादि। ह्रस्व मात्रिक तुक अधिक सूक्ष्म होने से एक प्रकार से छन्द-प्रवाह में घुल-मिलकर खो जाते हैं।"[१]

पन्त और **निराला** के काव्य-संगीत पर तुलनात्मक ढंग से विचार करने के उपरान्त यह मुख्य बात सामने आती है कि **पन्त** का वर्ण-संगीत **कालिदास** के वर्ण-संगीत से मिलता-जुलता है; जबकि **निराला** का वर्ण-संगीत **जयदेव** के समान भिन्न वर्ण-सौन्दर्य वाला संगीत है और जो **निराला** के अनुसार खड़ी बोली की प्रकृति के अधिक समीप है। **निराला** ने इस 'भिन्न वर्ण-सौन्दर्य' का सर्वोत्कृष्ट प्रयोग 'भिखारी' शीर्षक कविता में किया है।[२] **निराला** ने 'मेरे गीत और कला' शीर्षक लेख में **पन्त** के काव्य-संगीत को वर्ण-विचार की दृष्टि से 'श-ण-व-ल' स्कूल का काव्य-संगीत कहा है। इनका कथन है, "श्री सुमित्रानन्दन पन्त के वर्ण-सौन्दर्य के मुख्य आधार श, ण, व और ल हैं। उदाहरण—

"कहाँ आज वह पुरातन वह सुवर्ण का काल ?"
"नीले नभ के शतदल पर वह बैठी शारदहासिनि।"
"मृगेक्षिणि ! सार्थक नाम।"
"काँटों से कुटिल भरी हो यह जटिल जगत की डाली"
"वर्ण वर्ण है उर की कम्पन"

पहले में 'ण', दूसरे में 'श', तीसरे में 'क्ष' और 'ण', चौथे में 'ल', पाँचवें में 'व' और 'ण' अन्य वर्णों से ज्यादा बोलते हैं, जैसे इन्हीं वर्णों से उच्चारण-सौन्दर्य स्पष्ट होता हो। 'र' आदि अन्य वर्णों का भी सहारा पन्तजी ने लिया है।··· उनके उच्चारण में संगीत बड़ा मधुर झंकृत होता है।"[3]

काव्य-संगीत की पुष्टि के लिए शब्द-शोधन की इस नवीन पेशल प्रक्रिया के प्रति **महादेवी** भी सचेष्ट हैं। इन्होंने लिखा है, "छायावाद ने नये छन्द-बन्धों में सूक्ष्म सौन्दर्यानुभूति को जो रूप देना चाहा, वह खड़ी बोली की सात्त्विक कठोरता नहीं सह सकता था। अतः कवि ने कुशल स्वर्णकार के समान प्रत्येक शब्द को ध्वनि, वर्ण और अर्थ की दृष्टि से नाप-तोल और काट-छाँटकर तथा कुछ नये शब्द गढ़कर अपनी सूक्ष्म भावनाओं को कोमलतम कलेवर दिया।"[४]

---

१. पन्त, उत्तरा, भारती-भण्डार, इलाहाबाद, प्रथम संस्करण, प्रस्तावना, पृ० २५।
२. निराला, प्रबन्ध-प्रतिमा, भारती भण्डार, इलाहाबाद, १९४०, पृ० २७४।
३. निराला, प्रबन्ध-प्रतिमा, भारती भण्डार, इलाहाबाद, १९४०, पृ० २७३।
४. महादेवी वर्मा, आधुनिक कवि, पृ० १०।

शब्द-शोधन की इस निपुण कला के कारण **महादेवी** की कविताओं में भाव और शिल्प की अनुकूलता रहती है। फलस्वरूप, इनकी कविताओं में सर्वत्र एक गीति-वेग[१] मिलता है, जो इनके काव्यगत नाद-सौन्दर्य की प्रेषणीयता में एक लोच[२] भर देता है। अतः इनके गीतों में ध्वन्यात्मक शब्दों (सॉनिक टर्म्स) के अनेक सुष्ठु प्रयोग मिलते हैं। काव्य में विनियोग पाने वाले शब्द-संगीत की चेतना से पुष्ट ऐसे प्रयोग **पन्त** की कविताओं में भी बहुत मिलते हैं; जैसे—सर सर, मर्मर, टलमल, टी वी टी टुट, इत्यादि। किन्तु, **महादेवी** की कविताओं में एक ही प्रकार की ध्वन्यात्मकता नहीं, तीनों प्रकार की ध्वन्यात्मकता—बंध्या ध्वन्यात्मकता, आन्तरिक ध्वन्यात्मकता और सारगर्भ ध्वन्यात्मकता—मिलती है। संस्कृत की परिचित मसृण पदशय्या के कारण इनकी रचनाओं में आन्तरिक ध्वन्यात्मकता और विशेषणों के पटु प्रयोग के कारण सारगर्भ ध्वन्यात्मकता की प्रचुरता है। इनकी कविताओं में बंध्या ध्वन्यात्मकता के बिरले उदाहरण ही मिलते हैं। इसी सांगीतिक रुचि के कारण इनके गीतों में गुंजरणशील भाषा और स्तविज्ञेय बिम्बों का प्रचुर विनियोग सम्भव हो सका है। उपर्युक्त तीनों प्रकार की ध्वन्यात्मकता को हम शब्द-संगीत, भाव-संगीत और अर्थ-संगीत से तुलित कर सकते हैं। वस्तुतः यह ध्वनि-तत्त्व या संगीत-तत्त्व, समवेत अथवा विलग रूप से कविता की भाषा के लिए अत्यावश्यक है, क्योंकि उत्कृष्ट कविता कुछ अंशों में श्रवणपेय होती है। इसीलिए पाश्चात्य कला-विचारक कविता की भाषा में स्वर-संगति[३] को महत्त्व देते हैं।

महादेवी की संगीत-चेतना की बारीकी का पता इनके गीतों में टेक और अन्तरा के विधान से भी चलता है। इन्होंने अन्तरा के विधान में, प्रायः, संगीतशास्त्रीय दृष्टि के बदले स्वच्छन्द रुचि से काम लिया है तथापि इनके गीतों में अन्तरा-विधान का एक ही लक्ष्य मिलता है—स्वर में उत्कृष्टता एवं विरोध लाकर प्रभावोत्पादन। जैसे—

गन बनूँ, वर दो मुझे प्रिय।
जलधि-मानस से नव जन्म पा,
सुभग तेरे ही दृग-व्योम में
सजल श्यामल मन्थर मूक-सा
तरल अश्रु-विनिर्मित गात ले,
नित घिरूँ झर-झर मिटूँ प्रिय।

---

१. Melic impulse.

२. Correspondence between the vocal and the ideal harmony.

३. Tonality.

इस गीत में प्रथम और अन्तिम पंक्तियों का छन्द चौदह-चौदह मात्राओं का है। किन्तु अन्तरा की चारों पंक्तियों में सोलह-सोलह मात्राएँ हैं, जिनमें समान अन्त्यानुप्रास नहीं है। पुनः प्रथम और अन्तिम पंक्ति की यति[1]-गति से अन्तरा की यति-गति तथा लय भिन्न हैं। इस प्रकार यहाँ छन्द-विशेष के एकतान निर्वाह की हानि हुई है, किन्तु, छन्द-परिवर्तन से भावना के आरोह-अवरोह को अनुकूल एवं कलात्मक पृष्ठिका मिल गई है तथा काव्य-संगीत का संवर्द्धन हो गया है।

काव्य-संगीत की दृष्टि से **निराला** की कविताएँ छायावादी कवियों के बीच बहुत समृद्ध हैं।[2] कारण यह है कि **निराला** केवल साधारण संगीत-चेतना एवं तज्जनित प्रयोग-भंगिमा से ही अवगत नहीं थे, बल्कि उन्हें ध्वनि और संगीत के दर्शन का ज्ञान था[3], जिसका पता इन पंक्तियों से चलता है—

---

१. छंदशास्त्र और संगीतशास्त्र में 'यति' को प्रचुर महत्त्व दिया गया है। यति एक प्रकार का विराम है। भट्टकेदार ने 'वृत्तरत्नाकर' में यति का लक्षण इस प्रकार दिया है – 'यतिर्विच्छेदसंज्ञिता'। इसलिए यति-स्थान पर रुक-रुककर काव्य-पाठ करने से लय-माधुर्य की रक्षा होती है। संस्कृत छंदशास्त्र में यति के कई नामान्तर मिलते हैं। जैसे—विच्छेद, विराम, विरति इत्यादि। 'छंदोमञ्जरी' में यति का स्वरूप स्पष्ट करते हुए कहा गया है—

यतिर्जिह्वेष्टविश्रामस्थानं कविभिरुच्यते।

सा विच्छेदविरामाद्यैः पदैर्वाच्या निजेच्छया॥ (प्रथम स्तवक)

यति-स्थान प्रायः, पदान्त या पदमध्य में होता है। संगीतशास्त्र के अनुसार यति विभिन्न लयों को परस्पर सुन्दर रूप में मिलाने का मार्ग है। संगीतशास्त्र में यति के पाँच प्रकार माने गये हैं—सम यति, स्रोतोगता यति, मृदंग यति, पिपीलिका यति और गोपुच्छा यति। विस्तार के लिए द्रष्टव्य—'कला-विवेचन', कुमार विमल, भारती भवन, पटना, १९६८, पृ० १०८।

२. "संगीत को काव्य के और काव्य को संगीत के अधिक निकट लाने का सबसे अधिक प्रयास निरालाजी ने किया है।"—आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, हिन्दी साहित्य का इतिहास, काशी नागरी प्रचारिणी सभा, संवत् २००३ वि०, पृ० ७१५।

३. निराला ने 'गीतिका' की भूमिका में संगीत के दार्शनिक स्वरूप का उद्घाटन इस प्रकार किया है—"समस्त शब्दों का मूल कारण ध्वनिमय ओंकार है। इसी अशब्द संगीत से स्वर-सप्तकों की भी सृष्टि हुई है। समस्त विश्व स्वर का ही पुंजीभूत रूप है...स्वर-संगीत स्वयं आनंद है। आनंद ही इसकी उत्पत्ति, स्थिति और परिसमाप्ति है। जहाँ आनंद को लोकोत्तर कहकर विज्ञों ने निर्विषयत्व की व्यंजना की है—संसार से बाहर, ऊँचे रहने वाले किसी की ओर इंगित किया है—आनंद की अमिश्र सत्ता प्रतिपादित की है, वहाँ संगीत का यथार्थ रूप अच्छी तरह समझ में आ जाता है।" —निराला, गीतिका, भारती भण्डार, इलाहाबाद, वि० २०१२, पृ० १।

स्वर के सुमेरु से झर झर कर
आये हैं शब्दों के शीकर
... ...
कलरव के गीत सरल शत शत
बहते हैं जिस नद में अविरत
नाद की उसी वीणा से हत
होकर, झंकृत हो जीवन वर।[1]

साथ ही, **निराला** को कविता और संगीत के पार्थक्य का ज्ञान था, क्योंकि उन्होंने काव्य-संगीत-सम्बन्धी अपनी मान्यता को स्पष्ट करते हुए लिखा है, "शब्द-शिल्पी संगीत-शिल्पियों की नकल न करें तो बहुत अच्छा हो। कविता भावात्मक शब्दों की ध्वनि है, अतएव उसकी अर्थ-व्यंजना के लिए भावपूर्वक साधारणतया पढ़ना भी ठीक है, किसी अच्छी कविता को रागिनी में भरकर स्वर में माँजने की चेष्टा करके उसके सौन्दर्य को बिगाड़ देना अच्छी बात नहीं है।"[2] इस तरह **निराला** संगीत-चेतना की दृष्टि से एक प्रबुद्ध कवि सिद्ध होते हैं। **निराला** की कई कविताओं, निबन्धों तथा **'रवीन्द्र-कविता-कानन'** की कुछ टिप्पणियों से ऐसा ज्ञात होता है कि **निराला** की काव्यगत संगीत-चेतना और छन्द-संस्कार पर **रवि बाबू** का प्रभाव है। **रवि बाबू** की कविताओं के अध्ययन से और रवीन्द्र-संगीत पर **शान्तिदेव घोष, प्रमथनाथ विशी, प्रफुल्ल कुमार दास, राज्येश्वर मित्र** आदि के द्वारा व्यक्त विचारों से यह सिद्ध होता है कि **रवीन्द्र नाथ** का काव्य-सृजन के क्रम में संगीत के प्रति एक निश्चित दृष्टिकोण रहता था।[3] छायावादी कवियों के बीच **निराला** में हम काव्य के संगीत-पक्ष के प्रति

---

१. निराला, बेला, हिन्दुस्तानी पब्लिकेशन्स, इलाहाबाद, १९४६, पृ० १२।

२. निराला, रवीन्द्र-कविता-कानन, हिन्दी प्रचारक पुस्तकालय, बनारस, १९५४, पृ० १४०।

३. रवीन्द्रनाथ ठाकुर रोमांटिक संगीत के पक्षधर थे। यहाँ ध्यातव्य है कि 'रोमांटिसिज़्म' ने केवल काव्य को ही नहीं, सभी काव्येतर कलाओं को भी प्रभावित किया। अतः समन्वित कला-दृष्टि से, अर्थात् सौन्दर्यशास्त्रीय दृष्टि से 'रोमांटिसिज़्म' का अध्ययन अपेक्षित है। Marcel Brion ने जर्मन रोमांटिसिज़्म के सन्दर्भ में शुमां जैसे संगीतकार की देन का विश्लेषण करते हुए उचित ही लिखा है—

—"Romanticism was a unique phenomenon. It was also a single one inasmuch as it was the same spirit that cropped up in the work of musicians, poets and painters, who shared, all of them, the same aspirations, the same dreams, the same enthusiasms, the same sufferings. And to be fully understood it needs to be studied in all its

कुछ वैसी ही सचेष्ट जागरूकता और चिन्तनशीलता पाते हैं। फलस्वरूप, **निराला** के गीतों में एक सबल संगीत-सृष्टि मिलती है।[1] **'गीतिका'** की भूमिका में **निराला** ने जो अपना वक्तव्य दिया है और उसमें जिस अधिकार के साथ उन्होंने धम्मार, रूपक, झपताल, चौताल, तीन ताल, दादरा इत्यादि तालों का विवेचन अपनी रचनाओं को उदाहृत करते हुए किया है, वह उनके संगीत-सम्बन्धी सुचिन्तन का द्योतक है।[2] कुल मिलाकर **निराला** अपने युग की

---

manifestations."—Schumann And The Romantic Age, Marcel Brion, Translated by Geoffrey Sainsbury, Collins, London, 1956, Preface, p. VII.

१. निराला के संगीत-प्रेम और संगीत-सम्बन्धी शास्त्रीय ज्ञान ने उनके उपन्यासों में भी अपनी अभिव्यक्ति का मार्ग ढूंढ निकाला है। निराला के उपन्यासों के अनेक वर्णनात्मक स्थल उनके संगीत-ज्ञान की घोषणा करते हैं। जैसे—
   (क) "कनक ने कल्याण में भरकर इमन गाया।"—अप्सरा, निराला, गंगा पुस्तकमाला, लखनऊ, संवत् २०१७ वि०, पृष्ठ २८।
   (ख) "वीणा चढ़ी हुई थी, मृदंग लैस किया हुआ था। तारों में पहले तीन-चार बार प्रभावती ने अलाप ली। फिर देश पर त्रिताल की एक गति बजने लगी। हाथों में नूपुर-गुच्छ लिये-लिये यमुना ताल द्विमात्रा, मात्रा, अर्द्धमात्रा तथा दीर्घ स्पन्द से झंकृत करती रही। कुमारदेव सोलह मात्रा पर मृदंग के बँधे बोल लघु थपकियों से निकालने लगे। गति द्रुत से द्रुततर होती गई, मृदंग में परन पर परन, छन्द पर छन्द उठते गये।···व्यथापूर्ण मादक देश की मीड़ें, तान आदि, युगल प्रेमियों के प्राणों में क्या काम करती थीं, वर्णनातीत है।"—प्रभावती, निराला, किताबमहल, इलाहाबाद, १८८३ शकाब्द, पृष्ठ ३८-३९।
   (ग) "प्रभावती स्वर पर झंकारें भरती रही; फिर एक चौताल और झप गाया। तीन ताल की भी दो चीजें हुईं।···फिर···स्थिर होकर यमुना खिंची तीन ताल की वागीश्वरी गाने लगी।"—वही, पृष्ठ ४०।
   (घ) "वीणावादक से विद्या ने कहा, विष्णुताल के बोल बजाइये, सामयिक जो रागिनी पसन्द करें, उसमें भरकर। वीणा में बोल बजने लगे, मृदंग संगति कर चला, विद्या ने नूपुर बँधवा लिये।···बड़ी तालों पर नृत्य सहज काम नहीं।···विष्णुताल पर नृत्य समाप्त कर विद्या ने रुद्रताल पर वैसे ही दूसरे राग में बजाने के लिए कहा, जो रुद्ररूप को व्यंजित करे।···रुद्र का प्रलयंकर रूप ध्यान में लाकर विद्या ताण्डव-नृत्य करने लगी।"—वही, पृष्ठ १५८।

२. गीतिका, निराला, भारती-भण्डार, इलाहाबाद, विक्रम २०१२, पृष्ठ १-१४। इस प्रसंग में यह ध्यान देने की बात है कि बृहत्तर छायावाद के कवियों या छायावाद के कुछ गौण कवियों में भी गीतों को शास्त्रीय संगीत में बाँधकर रचने की प्रवृत्ति है। जैसे जानकीवल्लभ शास्त्री द्वारा काफी थाट की वागीश्वरी विलम्बित में बाँधा गया गीत या खमाज थाट के देश राग में बाँधी गई 'राखी की साखी' शीर्षक कविता। द्रष्टव्य—शिप्रा, जानकीवल्लभ शास्त्री, कलानिकेतन, पटना, १९५७, पृ० ६० और ६२।

नवीन सांगीतिक अभिरुचि के प्रस्तोता और प्रयोक्ता हैं। उनकी **'अर्चना'** 'प्रचलित कुल तालों से समन्वित' है।[1] गीतात्मकता और संगीत कला की सूक्ष्म परख का परिचय देते हुए उन्होंने **'अर्चना'** की 'स्वीयोक्ति' में लिखा है, "गीत के साथ गले का सम्बन्ध पहला है। प्रस्तुत गीतों की तद्वत सफलता के न होने का कारण खड़ी बोली का पाठ, इसलिए गले से सफलतापूर्वक न उतर जाना है।...यथाशक्ति सुरचित शब्दों की शृंखला रखी गई है, जो सहज ही उच्चरित हो जाय; जिससे आधुनिक गीतों की मीड़ें और स्वर-कम्पन प्राचीन शब्दोच्चारण की दीवारों को पार करके अपनी सत्यता पर समासीन हों।"[2] इतना ही नहीं, वे खड़ी बोली के शब्द-संगीत की विशिष्टता से परिचित और उसकी रक्षा के लिए सचेष्ट थे; जिसका संकेत इन पंक्तियों में मिलता है— "ब्रजभाषा-संगीत में 'सा' और 'ना' के भिन्न उच्चारण नहीं। खड़ी बोली में इसकी भी विपुलता है। 'भव अर्णव की तरुणी तरुणा' पद्य के 'ण' को 'न' उच्चारित करने पर खड़ी बोली का सिंगार बिगड़ जायगा, मगर ब्रजभाषा का संगीतमय रूप खड़ा हो जायगा। चूंकि खड़ी बोली देश भर की साहित्यिक भाषा बन चुकी है, इसलिए ब्रजभाषा-अनुकूलता की पूर्वी उच्चारण-पद्धति ही ग्राह्य नहीं।"[3] इस प्रकार **निराला** की संगीत-चेतना एवं तज्जनित प्रयोग-भंगिमा छायावादी कवियों के बीच अप्रतिम है।

तदनन्तर, **प्रसाद** की संगीत-चेतना का अपना वैशिष्ट्य है। इन्होंने संगीत के शास्त्रीय पक्ष का भी अध्ययन किया था, जिसका प्रमाण **निराला** की **'गीतिका'** में इनके द्वारा लिखित प्राक्कथन के कुछ संगीतशास्त्रीय शब्दों से मिलता है।[4] संगीतशास्त्र के साथ **प्रसाद** के इस परिचय का प्रभाव इनके काव्य-संगीत पर पड़ा है। पाश्चात्य संगीत-प्रणालियों से अप्रभावित इनके काव्य-संगीत में

---

१. 'अणिमा' के गीतों में भी कवि ने गेयता और संगीतात्मकता का सफल निर्वाह किया है। ये गीत 'गाने की अनुकूलता और स्वर के सौन्दर्य और श्रुति-मधुरता के विचार' से अच्छे बन पड़े हैं, यह कवि का विश्वास है। द्रष्टव्य—अणिमा, निराला, युग-मन्दिर, उन्नाव, १९४३, भूमिका, पृ० १।

२. निराला, अर्चना, कला-मन्दिर, इलाहाबाद, १९५०, पृ० ख।

३. निराला, अर्चना, कला-मन्दिर, इलाहाबाद, १९५०, पृष्ठ ख।

४. "निराला में केवल पिक की पंचम पुकार ही नहीं; कन्नेरी की-सी एक ही मीठी तान नहीं; अपितु उनकी गीतिका में सब स्वरों का समारोह है। उनकी स्वर-साधना हृदय के ग्रामों को झंकृत कर सकती है या नहीं, यह तो कवि के स्वरों के साथ तन्मय होने पर ही जाना जा सकता है।"—जयशंकर प्रसाद, प्राक्कथन, गीतिका, ले० निराला, भारती-भण्डार, इलाहाबाद, वि० २०१२।

शब्द-संगीत और अर्थ-संगीत के सन्तुलन के साथ लय[१]-प्रसार और राग-विस्तार के भीतर अर्थभूमि की प्रतिष्ठा मिलती है। कविता-पुस्तकों के अलावा **प्रसाद** ने नाटकों में जिन गीतों को दिया है, उनमें कुछ संगीत-चेतना की दृष्टि से बहुत ही समृद्ध हैं। जैसे, **'चन्द्रगुप्त नाटक'** में 'तुम कनक किरण के अन्तराल···' से प्रारम्भ होने वाले गीत में छन्द के मात्रा-काल और गीत के मात्रा-काल में जो आन्तरिक सामंजस्य है, वह संगीत और छन्द के लयात्मक मात्रा-काल की समानता के कारण विशेष महत्त्वपूर्ण है। तदनन्तर, **'चन्द्रगुप्त नाटक'** के परिशिष्ट में दी गई गीतों की स्वर-लिपि (संगीताचार्य लक्ष्मणदास की स्वर-योजना के अनुसार) से भी कवि की सचेत संगीतप्रियता निर्दिष्ट होती है। खम्माच, टोड़ी, सिन्ध भैरवी, मिश्रित भैरवी, कजली, सोहनी, कान्हरा इत्यादि के तालबद्ध संस्वरण में सटीक बैठने वाले गीतों की रचना पर्याप्त संगीत-चेतना के अभाव में असम्भव है। इसी प्रकार **'विशाख'** के परिशिष्ट में दी गई गीतों की स्वर-लिपि तथा झिझोटी-खम्माच, भैरवी, भूपाली कहरवा, विहाग, पुरबी इत्यादि के तालबद्ध संस्वरण में समा जाने वाले गीतों से **प्रसाद** की संगीत-चेतना का परिचय मिलता है।[२]

इस प्रकार **प्रसाद, पन्त, निराला** और **महादेवी** की कविताओं और विचारों के अध्ययन से यह सिद्ध होता है कि छायावाद-युग में काव्य और संगीत का तात्त्विक अन्त:सम्बन्ध बहुत ही घना है। फलस्वरूप, काव्य और संगीत की यह घनिष्ठता एक ओर काव्य एवं काव्येतर कलाओं के तात्त्विक अन्त:सम्बन्ध का निर्देश करती है और दूसरी ओर इस आवश्यकता को प्रतिपादित करती है कि उक्त तत्त्वों और प्रवृत्तियों की विद्यमानता के कारण छायावादी काव्य का सौन्दर्यशास्त्रीय अध्ययन किया जाना चाहिये।

अब हम काव्य और चित्रकला के तात्त्विक अन्त:सम्बन्ध की दृष्टि से छायावादी कविता पर विचार करेंगे। प्रस्तुत अध्याय के प्रारम्भिक अंश में हम छायावादी कला-संगम की सैद्धान्तिक चर्चा करते हुए यह देख चुके हैं कि **महादेवी वर्मा** ने चित्र को काव्य का निकटतम और सर्वाधिक विश्वसनीय सहयोगी कहा है। **निराला** और **पन्त** ने भी काव्य में चित्रात्मकता का अभिशंसन किया है। अत: काव्य और चित्रकला के तात्त्विक अन्त:सम्बन्ध की

---

१. दो क्रियाओं के बीच पड़नेवाले अन्तराल को 'लय' कहा जाता है। इस लय से ही ताल और गीत को गति मिलती है। संगीतशास्त्र में लय के तीन प्रकार माने गये हैं— विलम्बित, मध्यम और द्रुत। विलम्बित के द्विगुण वेग को मध्यम लय और मध्यम लय के द्विगुण वेग को द्रुत लय कहा जाता है।

२. विशाख, जयशंकर प्रसाद, भारती-भण्डार, काशी, १९८६ सं०, द्वितीय संस्करण, पृ० ८७-८८। 'विशाख' के गीतों की स्वर-लिपि भी संगीताचार्य श्री लक्ष्मणदासजी के द्वारा प्रस्तुत की गई है।

दृष्टि से छायावादी कविता बहुत समृद्ध है । इस समृद्धि की पुष्टि आगे चलकर छायावादी कविता में बिम्ब-विधान के विवेचन से भी होगी, क्योंकि चित्रकला का तात्त्विक समावेश काव्य में प्रायः बिम्ब का रूप धारण कर लेता है। चित्र-धर्मिता को स्वीकार किये बिना काव्य-निबद्ध अनुभूति, संवेग और कल्पना में अभिव्यक्तिगत सौन्दर्य और सहृदय-पक्ष की भावन-सुलभता के लिए अपेक्षित मूर्त्तता का आधान नहीं हो पाता है ।

छायावादी कवियों के बीच काव्य और चित्र के उक्त तात्त्विक अन्तः-सम्बन्ध की दृष्टि से सैद्धान्तिक और व्यावहारिक—दोनों ही धरातलों पर **महादेवी वर्मा** की कला-साधना सर्वोत्कृष्ट सिद्ध होती है । **महादेवी** के काव्य के विवेचन में इनकी चित्रकला से सहायता मिलती है और इनकी चित्रकला के विश्लेषण में इनके काव्य से सहायता मिलती है । इनके काव्य और चित्र में हमें कला-चेतना का अद्भुत साम्य मिलता है । उदाहरणार्थ, इनका काव्य उपकरणों की दृष्टि से उसी तरह वैविध्यहीन है, जिस तरह इनका चित्र । भाव-भूमि की एकरसता के कारण इनके काव्य में विनियोजित उपकरण प्रायः मिलते-जुलते-से हैं । इनके प्रति सहानुभूति न रखने वाला पाठक यहाँ तक कह सकता है कि **महादेवी** के काव्य में बहुत सीमित भावों और एक ही प्रकार के उपकरणों का पौनःपुन्य-कीर्त्तन किया गया है । जैसे, **'सांध्यगीत'** और **'दीपशिखा'** की पृष्ठभूमि भाव और उपकरण—दोनों ही दृष्टियों से अत्यन्त एकरस है । **'सांध्यगीत'** में संध्या तथा **'दीपशिखा'** में रात्रि के ही बहुविध रूपों को अंकित किया गया है । फलस्वरूप, चित्रों का वातावरण ही एक-सा नहीं मिलता, बल्कि दीपक और बादल जैसे दो-चार उपकरण बार-बार चित्र-फलक पर आकर सहृदयचित्त में एकरसता पैदा कर देते हैं । उपकरणों की एकरूपता **महादेवी** की कला में रंगों पर भी लागू है । केवल दो-तीन रंगों से चित्र-पृष्ठिका के मंडन-शिल्प का काम लिया गया है, जो निश्चितरूपेण भावांकन की दृष्टि से श्रमसाध्य हुआ करता है । **महादेवी** ने अपने चित्रों में रंगों के इस संख्या-निःस्व प्रयोग की चर्चा करते हुए लिखा है, "रंगों की दृष्टि से मैं बहुत थोड़े और विशेषतः नीले-सफेद से ही काम चला लेती हूँ । जहाँ कई को मिलाना आवश्यक होता है, वहाँ ऐसे मिलाना अच्छा लगता है कि किसी की स्वतंत्र सत्ता न रह सके । 'दीपशिखा' के चित्र तो एक ही रंग में बने थे, अतः उनके भाव-अंकन में आयास भी अधिक हुआ और इस अभाव-युग में उनके मूल रूपों की सन्तोषजनक प्रतिकृति देना भी असम्भव हो गया ।"[१] सारांश यह है कि **महादेवी** के चित्रों में वर्ण और रचना (टेक्स्चर) का वैविध्य नहीं मिलता है ।

---

१. महादेवी वर्मा, दीपशिखा, भारती-भण्डार, इलाहाबाद, संवत् २०१२ विक्रम, पृ० ६१ ।

किन्तु, धैर्य के ईषत् धारण और सूक्ष्म पर्यवेक्षण से उनमें सीमित उपकरणों की उस बारीकी का पता चलता है, जो कला के 'कमाल' का निदर्शन प्रस्तुत करती है। कविता की पृष्ठभूमि के रूप में **'दीपशिखा'** के अंकित चित्र इस दृष्टि से विशेष ध्यातव्य हैं। कविता की तरह उन चित्रों में सीमित उपकरण प्रयुक्त हैं, किन्तु, चित्रकला की विधिवत् शिक्षा के अभाव में भी **महादेवी** ने इन उपकरणों की सहायता से रेखा और आकार, छाया और प्रकाश तथा 'पर्सपेक्टिव'[1] की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण बारीकियों का निर्वाह किया है। अत: इन सीमित उपकरणों के प्रयोग की बारीकी 'पर्सपेक्टिव' की दृष्टि से सर्वाधिक उल्लेखनीय है। एक ही दीपक और बादल विभिन्न प्रसंगों में भिन्न रूपों में उपस्थित होते हैं। जैसे, 'कहाँ से आये बादल काले' 'कजरारे मतवाले', 'प्राण हँसकर ले चला जब चिर व्यथा का भार', 'जो न प्रिय पहचान पाती' तथा 'मेघ-पथ में चिह्न विद्युत के गये जो छोड़ प्रिय पद' में (उपकरण की दृष्टि से एक) बादल के प्रस्तुतीकरण में रूप-भेद और प्रमाण की भिन्नता दर्शनीय है।

महादेवी ने अपनी चित्रकला के सम्बन्ध में कुछ विचार व्यक्त किये हैं, जो शिष्टोचित अकिंचनता के व्यंजक होने पर भी मूल्यांकन की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण हैं। **'सांध्यगीत'**[2] की भूमिका में इन्होंने लिखा है—"अपने चित्रों के विषय में कहते हुए मुझे जिस संकोच का अनुभव हो रहा है, वह भी केवल शिष्टाचार-जनित न होकर अपनी अपात्रता के यथार्थ ज्ञान-जनित है। मैं सत्य अर्थ में कोई चित्रकार नहीं हूँ, हो सकने की सम्भावना भी कम है, परन्तु, शैशव से ही रंग और रेखाओं के प्रति मेरा कुछ वैसा ही आकर्षण रहा है, जैसा कविता के प्रति।" इस कथन से यह सिद्ध होता है कि **महादेवी** को चित्रों के प्रति एक संस्कारगत मोह है। चित्रों के प्रति इस सहज आकर्षण के अलावा **महादेवी** चित्रकला के कलात्मक मूल्य, महत्त्व और व्यावहारिक उपयोग से भी अवगत हैं। 'कला और हमारा चित्रमय साहित्य' शीर्षक निबन्ध में इन्होंने लिखा है—"मूर्तिकला, चित्रकला आदि दृश्य कलाएँ एक ही साथ हमारे नेत्र, स्पर्श और मन की तृप्ति कर सकती थीं, इसी से वे हमें अधिक सुगम और तात्कालिक आनन्ददायिनी जान पड़ीं। विशेषकर चित्रकला मूर्तिकला के काठिन्य से रहित और रंगों से सजीव होने के कारण अधिक आदृत हो सकी। यह बोधगम्य

---

१. 'पर्सपेक्टिव' को हम भारतीय चित्रकला की पारिभाषिक शब्दावली में रूप-भेद और प्रमाण का मिश्रित रूप कह सकते हैं। रूप-भेद से लघु-गुरु आकार का बोध होता है और प्रमाण से दूरस्थ तथा समीपस्थ वस्तुओं की माप का पता चलता है। इस तरह 'पर्सपेक्टिव' शब्द में हम रूप-भेद और प्रमाण का अर्थ-समुच्चय पाते हैं।

२. महादेवी, सांध्यगीत, भारती-भण्डार, प्रयाग, चतुर्थ संस्करण, पृ० ११।

इतनी अधिक है कि शैशव में कठिन-से-कठिन ज्ञान इसके द्वारा सहज हो जाता है। यह जीवन के निकट इतनी है कि बालक पहले सारे प्रत्यक्ष ज्ञान को टेढ़ी-मेढ़ी रेखाओं में बाँधने का प्रयत्न किये बिना नहीं रहता। प्राचीन काल में इसने मनुष्य के निकट कितना सम्मान पाया, इसका निदर्शन अजन्ता तथा एलोरा के गह्वरों में अंकित चित्र हैं। पुरातन काल की सभी पौराणिक कथाएँ चाहे विरही यक्ष से सम्बन्ध रखती हों, चाहे राजा दुष्यन्त से···बिना इस कला के मानों पूर्ण ही न होती थीं।"[1]

इतना ही नहीं, **महादेवी** ने कवि और चित्रकार के सम्बन्ध में एक सुस्थ सिद्धान्त निरूपित करते हुए उसी के आधार पर स्वकीय मूल्यांकन भी प्रस्तुत किया है—"इसमें सन्देह नहीं कि चित्रमय काव्य हो सकता है और काव्यमय चित्र; परन्तु प्रायः सफल चित्रकार असफल कवि का और सफल कवि असफल चित्रकार का शाप साथ लाता है। मैं तो किसी भी दिशा में सफल नहीं हूँ। अतः मेरे शाप को भी दुगुना होना चाहिये। अपने व्यस्त जीवन के कुछ क्षणों को छीनकर जैसे-तैसे कुछ लिखते-लिखते मेरे स्वभाव ने मुझे चित्रकला के लिए नितान्त अनुपयुक्त बना दिया है, कारण, जितने समय में मैं तुक मिला लेती हूँ, उतने ही समय में चित्र समाप्त कर देने के लिए आकुल हो उठती हूँ।"[2]

यह निश्चित है कि **महादेवी** का चित्रकार इनके कवि की तुलना में द्वितीय स्थान रखता है, किन्तु, वह उपेक्षणीय नहीं है। कारण, इनके चित्र इनकी कविताओं के लिए एक विस्तृत और वस्तुनिष्ठ पृष्ठभूमि प्रस्तुत करते हैं, जिससे उन कविताओं की अर्थवत्ता का प्रसादन और व्यंजनागर्भत्व का किंचित् स्पष्टीकरण होता है। इन्होंने अपने गीत और चित्र के आन्तर सम्बन्ध को बतलाते हुए लिखा है—"मेरे गीत और चित्र दोनों के मूल में एक ही भाव रहना जितना अनिवार्य है, उनकी अभिव्यक्तियों में अन्तर उतना ही स्वाभाविक। गीत में विविध रूप, रंग, भाव, ध्वनि सब एकत्र हैं, पर चित्र में इन सबके लिए स्थान नहीं रहता। उसमें प्रायः रंगों की विविधता और रेखाओं के बाहुल्य में भी एक ही भाव अंकित हो पाता है, इसी से मेरा चित्र गीत को एक मूर्त्त पीठिका दे सकता है, उसकी सम्पूर्णता बाँध लेने की क्षमता नहीं रखता।"[3] इस प्रकार इनके चित्र गीत की सम्पूर्णता को बाँध लेने में भले ही अक्षम हों, किन्तु गीतों को 'एक मूर्त्त पीठिका' देने में कभी पश्चात्पद नहीं होते। इस दृष्टि से **महादेवी**

---

१. महादेवी वर्मा, क्षणदा, भारती-भण्डार, इलाहाबाद, प्रथम संस्करण, पृ० ५१-५२।

२. महादेवी वर्मा, सांध्यगीत, भारती-भण्डार, प्रयाग, चतुर्थ संस्करण, अपनी बात, पृ० १४।

३. महादेवी वर्मा, दीपशिखा, भारती-भण्डार, इलाहाबाद, चतुर्थ संस्करण, पृ० ६१।

की तुलना **विलियम ब्लेक** के साथ की जा सकती है। **ब्लेक** के भी कुछ चित्र ऐसे हैं, जो अपनी पृष्ठभूमि में अंकित कविता के अर्थ को पूरी सफलता के साथ मूर्त्त और व्यक्त करते हैं।[२] इस प्रसंग में यह कह देना आवश्यक प्रतीत होता है कि जिस तरह अंग्रेज़ी साहित्य में **ब्लेक** की चित्रकला और काव्य पर अनेक आलोचकों[3] ने विस्तृत कार्य किया है, उसी तरह हिन्दी आलोचना में भी **महादेवी** के चित्रों पर विस्तृत कार्य होना चाहिये; क्योंकि **महादेवी** की कविताओं और चित्रों के समग्र अध्ययन से तीन महत्त्वपूर्ण निष्कर्ष निकलते हैं, जो सौन्दर्यशास्त्रीय दृष्टि से बहुत ही विचारणीय हैं। एक यह कि काव्येतर कलाओं के बीच चित्र काव्य का सबसे अधिक विश्वसनीय सहयोगी है,[४] जिसे **महादेवी** ने विशेषकर 'दीपशिखा' के द्वारा चरितार्थ किया है। दूसरे, जहां भी काव्य और चित्र का संगम या संप्लवन उपस्थित होता है, वहाँ किसी एक का प्रधान और दूसरे का गौण होना अनिवार्य है। तीसरी बात यह है कि जब कविता को चित्र के द्वारा मूर्त्त पीठिका देने का प्रयास किया जाता है, तब चित्र काव्य से प्रभावित होकर (वस्तुबोधात्मक होने के बदले) कल्पनाविष्ट और भावनात्मक हो जाता है। महादेवी के चित्रों में अंकित दीपकों का आकार-प्रकारगत वैशिष्ट्य, मुकुलित नेत्रों की तरलिमा, अवयवों की पेशलता, वस्त्रालंकारों का मण्डन, आँखों की तरल करुणा, बादल और बिजली के आच्छादनों का आधिक्य, इत्यादि इसके प्रमाण हैं।[५]

तदनन्तर, **महादेवी** की चित्रकला इनके काव्य से सम्बन्धित कुछ भ्रान्तियों के निवारण में विचारपूर्ण तथ्य प्रस्तुत करती है। जैसे, अनेक आलोचकों का यह विश्वास है कि **महादेवी** के काव्य में अनुभूत नहीं, अधीत प्रकृति है।

---

१. जैसे The Blossom, Infant Joy, The Divine Image, इत्यादि।

२. Anthony Blunt, The Art of William Blake, 1959, p. 48.

३. L. Binyon, Anthony Blunt, D. Figgis, G. Keynes, J. Wicksteed.

४. महादेवी के शब्दों में "कलाओं में चित्र ही काव्य का अधिक विश्वस्त सहयोगी होने की क्षमता रखता है।"

५. ठीक ऐसे ही निष्कर्ष विलियम ब्लेक के चित्रों और गीतों के अन्योन्याश्रित अध्ययन से निकलते हैं। इस दृष्टि से विलियम ब्लेक के कुछ चित्र-गीत। (जैसे Infant Sorrow, Holy Thursday, The Lamb, The Echoing Green इत्यादि) बहुत महत्त्वपूर्ण सिद्ध होते हैं। उक्त चित्रों के लिए द्रष्टव्य—Blake Studies by Geoffrey Keynes, Rupert Hart-Davis, London, 1949, Plates A to H.

इन्हें प्रकृति से सम्बन्धित स्थूल ऋतु-ज्ञान भी नहीं है तथा केशव की तरह फल, फूल और वृक्षों के सही नामों की सूची को प्रस्तुत करना तो दूर रहा, इन्हें हरसिंगार, दुपहरिया और शेफाली का भी ठीक अभिज्ञान नहीं है। हो सकता है, **महादेवी** कुछेक स्थलों पर चूक गई हों, किन्तु इसका यह आशय नहीं है कि इनके काव्य में चित्रित प्रकृति कवि-समय और कवि-प्रसिद्धियों पर आधारित है अथवा साक्षात् निरीक्षण से दूर मात्र श्रुति-निर्भर एवं अपरागत है। इनके चित्रों का हल्का विहंगावलोकन ही इसे सिद्ध करता है कि इन्होंने आज के नागर जीवन में भी प्रकृति के लघु-विराट् सौन्दर्य, उसके उदात्त रूपाकार और बहुविध वर्णच्छटाओं का अपेक्षित निरीक्षण किया है। इस स्थापना के समर्थन में **'यामा'** के कतिपय गुम्फित चित्रों को देखा जा सकता है।[1] **'यामा'** के चित्र इस प्रकार हैं—**१. तूफान** (उद्वेलित नीलाभ सागर, मेघमेदुर अम्बर, झंझा, तरी, पतवार और नाविक) **२. अरुणा** (आलोकवसना मुक्तकेशी उषा-सुन्दरी, बालारुण, दिव के अधोभाग में तिमिर का पलायन और छिटपुट हतप्रभ नक्षत्र) **३. यात्रा का अन्त** (शिथिल-चरण पलितवय पथिक, गठरी, लाठी, सुदूर विस्तृत पथ-रेखा, गन्तव्य द्वार, अभिनन्दन-तत्पर 'विराट्' की मानुष आकृति और ज्योतिर्मय दीपक) **४. निशीथिनी** (नीलाभ गगन, निर्बन्धकुन्तला रजनी, तारों के गजरे, अर्द्ध चन्द्रमा, उजले-काले बादल, अलि-गुंजित अर्थात् रात्रि के कारण सम्पुटित कमल-कोष और मलयानिल का वसन) **५. दीपक** (दीवट, दीपकली, ज्योति, तिमिर की पृष्ठभूमि, दीपदान करनेवाली पीतवर्णी सुकेशिनी आराधिका और प्रसाधन-पुष्प) **६. वर्षा** (वर्षा-सुन्दरी—सद्य:स्नाता नारी-वेष, तरलायित अंचल, कजरारे बादल, आलोक-तिमिर की रंगा-मेजी, धूमायित धूपदान, श्यामल गगन और विरल बक-पंक्ति) **७. संध्या** (नारी-वेष, धुँधला और अरुण सांध्य गगन, श्यामल तिमिर में धुलता-सा आलोक-वलय, छिटपुट तारे, पिंग-अरुण और असित-श्वेत बादल तथा किरणों का शर-निकर) **८. मिलन** (नर-नारी, अंजलि-पुष्प, आकाश, बादल विहग-युग्म और तारे) तथा **९. मृदु महान्** (नील गगन में उठते हुए तुषार-धवल गिरि-शृंग, उन्मुक्त दिशा, विचारमग्न आराधिका,

---

१. 'दीपशिखा' के चित्रों को इसलिए नहीं कि 'यामा' की चित्रकला जहाँ कविता की सहयोगिनी थी, वहाँ, 'दीपशिखा' के चित्र स्वतन्त्र न होकर कविता की पृष्ठभूमि अंकित करने में अधिक सचेष्ट हैं। और, इसलिए (भी) कि 'दीपशिखा' के कई चित्र 'यामा' के चित्रों से प्रभावित हैं। जैसे—'यामा' का मुखचित्र और 'दीपशिखा' का २५वाँ चित्र, 'यामा' की 'अरुणा' और 'दीपशिखा' का 'सजल है कितना सबेरा' की पृष्ठभूमि में अंकित चित्र।

परन्तु चित्र में उनका बाह्य वातावरण भी चित्रित हो सका है। मेरे निकट आँधी, तूफान, बादल, समुद्र आदि कुछ ऐसे विषय हैं, जिन पर चित्र बनाना अनायास और बना लेने पर आनन्द स्थायी होता है।''[1] इसी कारण हमें **महादेवी** के प्रकृति-चित्रों में कहीं-कहीं **वान गॉग** के प्रकृति-चित्रण का उदात्त एवं भास्वर रूप मिलता है। इस निकट, किन्तु, महार्घ साम्य को हम **महादेवी** के 'मृदु महान्' एवं **वान गॉग** के 'द साइप्रसेस' शीर्षक चित्रों में देख सकते हैं।

महादेवी की इस चित्र-चर्चा में एक और बात अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है—इनके चित्रों पर मूर्त्तिकला का प्रभाव। हमें प्रायः इनके चित्रों में 'पेरिस प्लास्टर' की मूर्त्तियों जैसी सुडौलता और चिकनाहट मिलती है। कारण, चित्रकला की तरह इन्हें मूर्त्तिकला के प्रति भी आकर्षण रहा है, यद्यपि इसमें इन्हें चित्रकला की तरह कोई विदग्धता अर्जित नहीं है। मूर्त्तिकला के प्रति इनका अनुराग इस उद्धरण से स्पष्ट होता है—"व्यक्तिगत रूप से मुझे मूर्त्तिकला विशेष आकर्षित करती है, क्योंकि उसमें कलाकार के अन्तर्जगत् का वैभव ही नहीं, बाह्य आयास भी अपेक्षित रहता है। दुर्भाग्यवश, उसे सीखने का मुझे अवकाश ही नहीं मिल सका, अतः मिट्टी की मूर्त्तियाँ गढ़-गढ़कर, मैं कुम्भकारों को दीक्षा देने की पात्रता प्राप्त करती रही हूँ।"[2] मूर्त्तिकला के प्रति यह आकर्षण ही इनके चित्रों पर मूर्त्तिकला के प्रभाव का कारण है। विश्व के अनेक चित्रकारों पर मूर्त्तिकला का पुष्कल प्रभाव पाया जाता है। मूर्त्तिकला के प्रभाव से चित्रों में मूर्त्तता, आयामों की सुनिश्चितता, अंग-न्यास की बारीक काट-छाँट, अनुपात-रक्षा और वस्तुनिष्ठ सन्धिबन्ध का सरलतापूर्वक आधान हो जाता है। घनवाद (क्युबिज़्म) के उद्भावकों मे प्रमुख, पाश्चात्य चित्रकार **पिकासो** के चित्रों पर भी मूर्त्तिकला का प्रचुर प्रभाव है। इस प्रभाव की दृष्टि से अफ्रिकन मूर्त्तिकला ने **पिकासो** को सरल और आकृतियों में नूतन भाव-व्यंजना भरने की प्रेरणा दी। अतः इस प्रभाव से **पिकासो** की चित्रकला में आकृतियों के सरलीकरण और कोण-कुशलता का अद्भुत समावेश हो गया। **पिकासो** की तरह **सिज़ां** के चित्रों में भी मूर्त्तिकला के प्रभाव से उस आकृतिनेयता और ज्यामितिक गुणों का समावेश हुआ, जिनके कारण वह अपने समकालीनों पर अछूत आकर्षण का इन्द्रजाल फेंक सका। इस प्रकार **महादेवी** के चित्रों पर मूर्त्तिकला का प्रभाव कोई नई बात नहीं होते हुए भी इनके चित्रों की कला-कुशलता के लिए अत्यन्त उपकारी है। इन्होंने अपने चित्रों पर मूर्त्तिकला के प्रभाव को

१. महादेवी वर्मा, दीपशिखा, भारती-भण्डार, इलाहाबाद, चतुर्थ संस्करण, पृ० ६२।

२. महादेवी वर्मा, दीपशिखा, भारती-भण्डार, इलाहाबाद, चतुर्थ संस्करण, पृ० ६०।

स्वीकार करते हुए लिखा है—"कुछ अजन्ता के चित्रों पर विशेष अनुराग के कारण और कुछ मूर्त्तिकला के आकर्षण से, चित्रों में यत्र-तत्र मूर्त्ति की छाया आ गई है। यह गुण है या दोष, यह तो मैं नहीं बता सकती, पर इस चित्र-मूर्त्ति-सम्मिश्रण ने मेरे गीत को भार से नहीं दबा डाला है, ऐसा मेरा विश्वास है।"[1] मूर्त्तिकला का यह प्रभाव, विशेषकर, **'दीपशिखा'** के चित्रों में मिलता है। इस दृष्टि से **'दीपशिखा'** के इन गीतों की पृष्ठभूमि में अंकित चित्र विशेष ध्यातव्य हैं—

१. ओ चिर नीरव ! मैं सरित विकल
२. सब बुझे दीपक जला लूं !
३. हुए शूल अक्षत मुझे धूलि चन्दन !
४. तरल मोती से नयन भरे !
५. जब यह दीप थके तब आना !
६. तू धूल भरा ही आया !
७. जो न प्रिय पहचान पाती !
८. झिप चलीं पलकें तुम्हारी पर कथा है शेष !
९. अलि ! कहाँ सन्देश भेजूं ?
१०. कोई यह आँसू आज माँग ले जाता !
११. निमिष से मेरे विरह के कल्प बीते !
१२. सब आँखों के आँसू उजले सबके सपनों में सत्य पला !
१३. गूँजती क्यों प्राण-वंशी !
१४. लघु हृदय तुम्हारा अमर छन्द
और १५. पुजारी ! दीप कहीं सोता है !

उक्त विवेचन के आधार पर हम यह तथ्य स्वीकार कर सकते हैं कि **महादेवी** के चित्रों पर अजन्ता की चित्रकला का प्रभाव अत्यन्त प्रकट है। वस्तुत: **'यामा'** और **'दीपशिखा'** के चित्रों में चरणों या हाथों के चित्रण से मनोभावों के व्यंजन का कौशल और भौंह, आँख तथा नाखून के प्रलम्ब रूप अजन्ता के प्रभाव की घोषणा करते हैं।

इस तरह **महादेवी** की कला के विवेचन से काव्य और चित्र के तात्त्विक अन्त:सम्बन्ध का महत्त्व स्पष्ट हो जाता है। साथ ही इस विवेचन से यह भी पता चलता है कि विभिन्न ललित कलाओं के पारस्परिक तात्त्विक अन्त:सम्बन्ध की दृष्टि से किसी व्यक्ति या युग के काव्य का अध्ययन करने पर अनेक नवीन बातें प्रकाश में आती हैं। अत: ललित कलाओं के तात्त्विक अन्त:सम्बन्ध को

---

१. महादेवी वर्मा, दीपशिखा, भारती-भण्डार, इलाहाबाद, चतुर्थ संस्करण, पृ० ६१।

ध्यान में रखते हुए छायावादी कविता के प्रमुख तत्त्वों का सौन्दर्यशास्त्रीय अध्ययन उचित और अपेक्षित प्रतीत होता है।

छायावादी कविता की सामान्य पीठिका के उपर्युक्त विश्लेषण से यह निष्कर्ष निकलता है कि छायावादी कविता में कला-संगम की प्रवृत्ति बहुत व्याप्त रही है और किसी युग के काव्य के सौन्दर्यशास्त्रीय अध्ययन के लिए काव्येतर कलाओं के साथ उसका जो तात्त्विक अन्तःसम्बन्ध अपेक्षित है, वह छायावादी कविता में प्रभूत मात्रा में उपस्थित है। साथ ही, छायावाद-युग में काव्य और काव्येतर कलाओं के तात्त्विक अन्तःसम्बन्ध की स्वीकृति सैद्धान्तिक और व्यावहारिक—दोनों ही धरातलों पर मिलती है, जिसका सम्यक् उद्घाटन हिन्दी आलोचना में अब तक नहीं किया गया है।

द्वितीय अध्याय

छायावादी कविता में सौन्दर्य-चेतना

छायावादी कविता में सौन्दर्य-चेतना

यह सर्वमान्य है कि सौन्दर्य काव्य एवं अन्य ललित कलाओं का एक अनिवार्य तत्त्व है, जिसका बहुत ही ऋजु सम्बन्ध मनुष्य के भावात्मक संवेगों के साथ है। इस सौन्दर्य-तत्त्व के प्रति छायावादी कवि पर्याप्त सचेत दीख पड़ते हैं। उनके विचारात्मक निबन्धों और कविताओं में ऐसे अनेक स्थल मिलते हैं, जिनसे सौन्दर्य के प्रति उनकी सहज और सचेष्ट अवधानता का पूरा पता चलता है। उदाहरण के लिए **निराला** ने 'सौन्दर्य' को ललित कलाओं का मुख्य आधार मानते हुए 'कविवर बिहारी और कवीन्द्र रवीन्द्र' शीर्षक निबन्ध में लिखा है, "चित्रकार जितनी सुन्दर कल्पना कर सकता है, उसका चित्र उतना ही सुन्दर होता है। सौन्दर्य की ही कल्पना ललितकला का मुख्य आधार है।"[1] इसलिए इन्होंने काव्य की समृद्धि के लिये सौन्दर्य-दृष्टि में वैविध्य को महत्त्व दिया है। सौन्दर्य-दृष्टि की प्रचुर विविधता के कारण ही इन्होंने ब्रजभाषा-कवियों की सौन्दर्य-चेतना की प्रशंसा कर दी है।[2]

अनेक स्थलों पर **निराला** के विचारों में सौन्दर्य के प्रति सहज और भावात्मक ही नहीं, सौन्दर्यशास्त्रीय चैतन्य भी मिलता है। जैसे, **निराला** ने शब्द-भेद से सौन्दर्य-भावना के उस ताटस्थ्य-सिद्धान्त[3] की चर्चा की है, जिसका विवेचन प्रस्तुत प्रबन्ध के सैद्धान्तिक खण्ड में सौन्दर्य-सम्बन्धी अध्याय में किया जा चुका है। इस सिद्धान्त के अनुसार 'तटस्थ भावन' उत्कृष्ट सौन्दर्य-सृजन के लिए अत्यावश्यक है। अतः काव्य एवं कला के क्षेत्र में उचित 'भावन' के लिए 'आंशिक अनासक्ति' आवश्यक है। **निराला** ने **विद्यापति** और **चण्डिदास** की तुलनात्मक आलोचना करते हुए सौन्दर्यशास्त्र के इस प्रसिद्ध सिद्धान्त की ओर संकेत किया है—"कवि की यह बहुत बड़ी शक्ति है कि वह विषय से अपनी सत्ता को पृथक् रखकर उसका विश्लेषण भी करे, और फिर इच्छानुसार उससे मिलकर एक भी हो जाए। विद्यापति में कवि के ये दोनों गुण थे। वह

१. निराला, चाबुक, निरुपमा प्रकाशन, प्रयाग, १९६२, पृ० २८।

२. निराला, प्रबन्ध-पद्म, भारती भाषा-भवन, दिल्ली, संवत् २०११ विक्रम, पृ० ११४।

३. Theory of Aesthetic Distance.

सौन्दर्य के द्रष्टा भी जबरदस्त थे और सौन्दर्य में तन्मय हो जाने की शक्ति भी उनमें अलौकिक थी।"[१] इस प्रकार इन पंक्तियों में **निराला** ने सौन्दर्य-भावन में अपेक्षित आंशिक तटस्थता और पार्थक्य का सुचिन्तित संकेत किया है। तदनन्तर, इन्होंने भावना के भीतर से किये गये सौन्दर्य-पर्यवेक्षण को महत्त्व दिया है।[२] अर्थात् भावना-सिद्ध सौन्दर्य-पर्यवेक्षण ही इनका काव्य है, क्योंकि भावना-सिद्ध सौन्दर्य-पर्यवेक्षण में एक प्रकार का आवेश रहता है और उससे निर्मित कलाकृति में प्रभविष्णुता का आधिक्य होता है। इसी तरह इन्होंने यह प्रतिपादित किया है कि 'रूप' सौन्दर्य का चाक्षुष पक्ष है।[3] सौन्दर्य के इस चाक्षुष पक्ष की उपस्थिति प्रत्येक युग के काव्य में रहती है, जो मानव-स्वभाव के सर्वथा अनुकूल है।

तदनन्तर, **निराला** ने बहुत ही अभिनिवेश के साथ सौन्दर्यशास्त्र की इस आत्मनिष्ठ मान्यता को समर्थित किया है कि कविता का सौन्दर्य उसकी पूर्णता में निहित रहता है, उसके खण्डों में नही। अतः कविता का सौन्दर्य अविभाज्य होता है। वह कविता के किसी एक पक्ष—विषय अथवा विधान और भावपक्ष या कला-पक्ष—में नहीं रहता। **निराला** ने सौन्दर्यशास्त्र की इस आत्मनिष्ठ मान्यता को सिद्धान्त और व्यवहार—दोनों धरातलों पर स्वीकार किया है। अपनी ही कविता से एक उदाहरण लेकर इन्होंने व्यावहारिक धरातल पर यह प्रतिपादित किया है कि 'जुही की कली' शीर्षक कविता का सौन्दर्य 'खण्ड' में नहीं, उसकी 'सम्पूर्णता' में है।[४] किसी कविता अथवा कलाकृति की 'सम्पूर्णता' में निहित रहने वाले अविभाज्य सौन्दर्य को लक्ष्य करते हुए इन्होंने यह सैद्धान्तिक निरूपण किया है कि "कला केवल वर्ण, शब्द, छन्द, अनुप्रास, रस, अलंकार या ध्वनि की सुन्दरता नहीं, किन्तु, इन सभी से संबद्ध सौन्दर्य की पूर्ण सीमा है; पूरे अंगों की सत्रह साल की सुन्दरी की आँखों की पहचान की तरह—देह की क्षीणता-पीनता मे तरंग-सी उतरती-चढ़ती हुई, भिन्न वर्णों की बनी वाणी में खुलकर क्रमशः मन्द मधुरता होकर लीन होती हुई—जैसे, केवल बीज से पुष्प की पूरी कला विकसित नहीं होता, न अंकुर से, न डाल से, न पौधे से; जड़ से लेकर तना, डाल, पल्लव और फूल के रंग-रेणु-गंध तक फूल

१. निराला, प्रबन्ध-प्रतिमा, भारती-भण्डार, इलाहाबाद, प्रथम संस्करण, पृ० १५७।

२. उपरिवत्, पृ० १६२।

३. "रूप के साथ आंखो का······घनिष्ठ सम्बन्ध है। पतंग एक दूसरे पतंग को जलकर भस्म होते देखता है, पर रह नही सकता। इतना बड़ा प्रत्यक्ष ज्ञान भी रूप के मोह से उसे बचा नही सकता—वह दीपक को सर्वस्व दे देता है।"—निराला, निरुपमा, द्वितीय संस्करण, पृ० २०।

४. निराला, प्रबन्ध-प्रतिमा, भारती-भण्डार, इलाहाबाद, प्रथम संस्करण, पृ० २८४।

की पूरी कला के लिए जरूरी हैं, वैसे ही काव्य की कला के लिए काव्य के सभी लक्षण; और, जिस तरह फूलों की सुगन्ध पेड़ के दृश्य समस्त भाग को ढके हुए अपने सौन्दर्य-तत्त्व के भीतर रखती है—पेड़ की काष्ठ-निष्ठुरता दिखती हुई भी छिपी रहती है, उसी तरह काव्य-कला आवश्यक अशोभन वर्ण-सम्प्रदाय को अपनी मनोज्ञता के भीतर डाले रहती है।"[१] इस तरह सौन्दर्य की अविभाज्य अखण्डता के सम्बन्ध में **निराला** की धारणा **पोप** से साम्य रखती है।[२]

निराला की तरह **प्रसाद** के साहित्य में भी सौन्दर्य से सबद्ध अनेक विचार-पूर्ण बातें मिलती है, जिनका सौन्दर्यशास्त्र की दृष्टि से पर्याप्त महत्त्व है। **प्रसाद** ने सौन्दर्य-भावन की मानसिक शक्ति या सुन्दर और कुरूप की निर्णय-क्षमता को 'सौन्दर्य-विवेचना' अथवा 'सौन्दर्य-विवेक' का नाम दिया है।[३] इन्होंने सौन्दर्य-तत्त्व या सौन्दर्य-चेतना के प्रति सुचिन्तित दृष्टिकोण उपस्थित किया है, जिसका एक सबल प्रमाण यह है कि इन्होंने प्राच्य और पाश्चात्य सौन्दर्यानु-भूति की पद्धति के व्यावर्त्तक भेद को अच्छी तरह समझ लिया था—"ग्रीस द्वारा प्रचलित पश्चिमी सौन्दर्यानुभूति बाह्य को, मूर्त्त को विशेषता देकर उसकी सीमा में ही पूर्ण बनाने की चेष्टा करती है और भारतीय विचारधारा ज्ञानात्मक होने के कारण मूर्त्त और अमूर्त्त का भेद हटाते हुए बाह्य और आभ्यन्तर का एकीकरण करने का प्रयत्न करती है।"[४] इस सुचिन्तन का फल यह हुआ कि **प्रसाद** ने सौन्दर्य के प्रति एक सांस्कृतिक दृष्टि अर्जित कर ली और यह मान लिया कि 'संस्कृति सौन्दर्य-बोध के विकसित होने की मौलिक चेष्टा है।'[५] इसी सांस्कृतिक दृष्टि के कारण इन्होंने सौन्दर्य को एक मनोमय लोक में उप-स्थित किया है। सौन्दर्य के इस मनोमय लोक की झलक अर्थात् सौन्दर्य के मानसिक पक्ष की प्रधानता हमें **'कामायनी'** मे ही नहीं, **'कंकाल'** जैसे उपन्यास के चतुर्थ खण्ड में मंगलदेव नामक पात्र के व्याख्यान की इन पंक्तियों में भी

---

१. निराला, प्रबन्ध-प्रतिमा, भारती-भण्डार, इलाहाबाद, प्रथम संस्करण, पृ० २७२।

२. पोप ने सौन्दर्य के प्रति इस सौन्दर्यशास्त्रीय आत्मनिष्ठ धारणा को निम्नलिखित शब्दों में उपस्थित किया है—

> 'Tis not a lip, or eye, we beauty call
> But the joint force and full result of all.
>
> —*Pope*, Essay on Criticism.

३. प्रसाद, आकाशदीप, भारती-भण्डार, इलाहाबाद, षष्ठ संस्करण, 'समुद्र-सन्तरण' शीर्षक कहानी, पृ० १०६।

४. प्रसाद, काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध, भारती-भण्डार, प्रयाग, पृ० ३६।

५. उपरिवत्, पृ० २८।

मिलती है—"सभ्यता सौन्दर्य की जिज्ञासा है। शारीरिक और आलंकारिक सौन्दर्य प्राथमिक है, चरम सौन्दर्य मानसिक है।"[1] इस मानसिक पक्ष की प्रधानता के कारण **प्रसाद** ने सौन्दर्य को एक ईश्वरीय विभूति के रूप में स्वीकार किया है, क्योंकि इनके अनुसार सौन्दर्य में सर्वदा 'चित्' की साक्षात् दीप्ति रहती है।[2] इनकी यह धारणा भारतीय सौन्दर्य-चिन्तन से पूर्ण साम्य रखती है। सौन्दर्य में सर्वत्र 'चित्' की दीप्ति रहने के कारण इन्हें सुन्दरता के प्रत्येक निदर्शन में परम चित् का दिव्य प्रभा-सन्दोह पटभूमिका की ओट में दिखलाई पड़ता है—

सौन्दर्यमयी चंचल कृतियाँ
बनकर रहस्य हैं नाच रहीं,
... ...
मैं देख रहा हूँ जो कुछ भी
वह सब क्या छाया उलझन है ?
सुन्दरता के इस परदे में
क्या अन्य धरा कोई धन है ?[3]

सौंदर्य के प्रति इस आध्यात्मिक दृष्टि के कारण इनके सौंदर्य-चित्रणों में ऐन्द्रियता से ऊपर उठने की चेष्टा मिलती है। इनका कहना है कि ऐन्द्रिय सीमाओं में बँधा हुआ सौन्दर्य क्षणभंगुर होता है, किन्तु ऐन्द्रिय सीमाओं के अतिक्रमण में अवसित रहने वाला सौन्दर्य शाश्वत होता है। अतः इन्होंने शाश्वत सौंदर्य की ओर ही लोगों को प्रेरित किया है—

क्षणभंगुर सौन्दर्य देखकर रीझो मत, देखो, देखो।
उस सुन्दरतम की सुन्दरता विश्वमात्र में छाई है।[4]

इस उच्चस्तरीय सौंदर्य की विशेषता यह है कि इसकी अनुभूति एक विशेष प्रकार की अविरल मानसिक साधना पर निर्भर करती है। और, जब यह मानसिक साधना पूर्ण हो जाती है, तब उस परम विभु सौंदर्य के प्रत्यक्ष के बाद सम्पूर्ण सृष्टि में आनन्द और मंगल का पीयूष-वर्षण होने लगता है।

तदुपरान्त, **पन्त** ने काव्य अथवा कला के मनोनीत तत्त्वों में 'सौदर्य-चेतना'

---

१. प्रसाद, कंकाल, भारती-भण्डार, प्रयाग, आठवाँ संस्करण, पृ० २८३।

२. उज्ज्वल वरदान चेतना का सौन्दर्य जिसे सब कहते हैं,
जिसमें अनन्त अभिलाषा के सपने सब जगते रहते हैं।
—प्रसाद, कामायनी, भारती-भण्डार, प्रयाग, अष्टम संस्करण, पृ० १०२।

३. प्रसाद, कामायनी, भारती-भण्डार, प्रयाग, अष्टम संस्करण, पृ० ६६।

४. प्रसाद, प्रेम-पथिक, पृ० २४।

को प्राथमिक महत्त्व दिया है। इनका कहना है कि कवि या कलाकार सबसे पहले सौंदर्य का स्रष्टा है, क्योंकि उसे जगत् और जीवन की कुरूपता को 'सौंदर्य' में परिवर्तित करना पड़ता है। इन्होंने इस मान्यता को व्यक्त करते हुए लिखा है, "कलाकार के पास हृदय का यौवन चाहिये, जिसे धरती पर उँडेलकर उसे जीवन की कुरूपता को सुन्दर बनाना है।"[१] फलस्वरूप, इन्होंने कुछ स्थलों पर सौंदर्य के सम्बन्ध में बहुत ही आत्मनिष्ठ धारणा व्यक्त की है। इन स्थलों पर इन्होने सौंदर्य को ऊर्णनाम और आत्मस्थित माना है तथा आत्मस्थित सौंदर्य के ही बाह्य प्रक्षेपण को सौन्दर्य-सृजन का नाम दिया है। उदाहरणार्थ, इन्होंने 'तितली' शीर्षक कविता में इसी धारणा को व्यक्त करते हुए लिखा है—

'चित्रिणि ! इस सुख का स्रोत कहाँ
जो करता नित सौंदर्य-सृजन ?'
'वह स्वर्ग छिपा उर के भीतर—
क्या कहती यही, सुमन-चेतन ?'[२]

इस तरह **पन्त** ने सौंदर्य-चेतना का सम्बन्ध कवि के अनुभूति-समृद्ध अन्तर्जगत् से माना है, जिसका एक छोर 'जग-जीवन की अन्तरतम स्वर-सगति' अर्थात् शिवतत्त्व से संबद्ध है और दूसरा छोर स्वप्नों के स्वर्णिम प्रवाह अर्थात् कल्पना से रसान्वित है—

क्या है यह सौंदर्य-चेतना ? जग जीवन की
अंतरतम स्वर संगति : जो अब अन्तर्नभ के
शिखरों से उतर रही स्वर्णिम प्रवाह से
स्वप्नों से शोभा उर्वर करने वसुधा को।[3]

फलस्वरूप, **पन्त** ने सौंदर्य-बोध को 'अधिदर्शन' (मेटाफ़िज़िक्स) की दृष्टि से 'अन्तर्मन का संगठन' माना है।[४] किन्तु, इन्होंने सौंदर्य को **'उत्तरा'** के पूर्व की रचनाओं में इस उन्नत मानसिक धरातल पर उपस्थित नहीं किया है। अतः इनकी प्रारम्भिक रचनाओं में सौन्दर्य के दैहिक संस्कारों की अधिकता मिलती है। अन्तर्मन के संगठन पर निर्भर सौन्दर्य-बोध की दृष्टि से **'उत्तरा'** इनकी सर्वोत्कृष्ट कृति सिद्ध होती है। **'चिदम्बरा'** की भूमिका में स्वयं कवि ने इसे स्वीकार

---

१. पन्त, गद्यपथ, साहित्य-भवन, इलाहाबाद, १९५३, पृ० २०४।

२. पन्त, युगपथ, भारती-भण्डार, प्रयाग, प्रथम संस्करण, पृ० ५३।

३. पन्त, शिल्पी, पृ० १०७।

४. "संस्कृति, सौन्दर्य-बोध आदि हमारे अन्तर्मन के संगठन हैं।"—पन्त, उत्तरा, भारती-भण्डार, इलाहाबाद, प्रथम संस्करण, प्रस्तावना, पृ० १६।

किया है, "उत्तरा को सौन्दर्य-बोध की दृष्टि से मैं अब तक की अपनी सर्वोत्कृष्ट कृति मानता हूँ।"[१]

पन्त ने आधुनिक सौदर्य-बोध को दो प्रकारों में बाँटा है—१. यंत्रयुग का मध्यवर्गीय सौन्दर्य-बोध और २. यंत्र-युग का जनवादी सौन्दर्य-बोध। इनकी धारणा है कि मध्यवर्गीय सौन्दर्य-बोध **रवीन्द्रनाथ ठाकुर** के काव्य में अपने उत्कर्ष पर है और इसी सौन्दर्य-बोध का प्रभाव छायावादी कविता पर पड़ा है—"भारतीय अध्यात्म के प्रकाश को रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने पश्चिम के यंत्र-युग के सौन्दर्य से मण्डित कर उसे पूर्व तथा पश्चिम दोनों के लिए समान रूप से आकर्षक बना दिया था। इस प्रकार नवीन युग की आत्मा के अनुकूल स्वर-झंकृति प्रस्तुत कर कवीन्द्र रवीन्द्र ने एक नवीन सौन्दर्य-बोध का झरोखा भी कल्पनाशील युवक साहित्यकारों के हृदय में खोल दिया था। इन्हीं आध्यात्मिक, सास्कृतिक तथा सौन्दर्य-बोध सम्बन्धी भावनाओं से हिन्दी मे छायावादी युग के कवि भी प्रभावित हुए।"[२] छायावादी कविता के इस सौन्दर्य-बोध की विवेचना करते हुए **पन्त** ने आगे लिखा है कि यह छायावादी सौन्दर्य-बोध 'पूँजीवादी युग की विकसित परिस्थितियों की वास्तविकता पर आधारित था।'[3] **पन्त** जी ने विश्लेषण के दूसरे कोण से इस नवीन सौन्दर्य-बोध को, जो रूप-बोध और भाव-बोध दोनों का प्रतिनिधित्व करता है, छायावादी युग की सर्वोपरि देन के रूप में स्वीकार किया है।[४] इसीलिए हिन्दी कविता की अन्य धाराओं के प्रेम-काव्य में हम जहाँ रागमूलकता की प्रधानता पाते हैं, वहाँ छायावादी प्रेम-काव्य में सौंदर्य-भावना की प्रधानता मिलती है।[५]

इस तरह **पन्त** ने छायावादी काव्य ही नही, सभी ललित कलाओं के मूल में प्रवृत्तिमूलक सौन्दर्य-चेतना को स्वीकार किया है।[६] इन्होंने **'चिदम्बरा'** की भूमिका में सौन्दर्य के अन्य रूपों पर भी विचार किया है। इनकी दृष्टि में सौन्दर्य के चार तात्त्विक रूप है—नैसर्गिक सौन्दर्य, सामाजिक सौन्दर्य, मानसिक सौन्दर्य और आध्यात्मिक सौन्दर्य।[७] नैसर्गिक सौन्दर्य अर्थात् प्राकृतिक सौन्दर्य का विकास भावनात्मक सौन्दर्य के रूप में होता है। इसलिए **'वीणा'**-काल में

---

१. पन्त, चिदम्बरा, राजकमल प्रकाशन, १९५९, 'चरण-चिह्न', पृ० १३।

२. पन्त, रश्मिबन्ध, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, १९५८, पृ० ११।

३. उपरिवत्, पृ० १२।

४. उपरिवत्, पृ० १७।

५. उपरिवत्, पृ० १८।

६. पन्त, ज्योत्स्ना, भारती-भण्डार, इलाहाबाद, द्वितीय संस्करण, पृ० ६।

७. पन्त, चिदम्बरा, राजकमल प्रकाशन, १९५९, पृ० १९।

जहाँ प्राकृतिक सौन्दर्य की प्रधानता है, वहाँ **'पल्लव'** में भावना के सौन्दर्य की।[1] नैसर्गिक सौन्दर्य **पन्त** को बहुत प्रिय है, क्योंकि इनके लिए प्रकृति सौन्दर्य के अनेक सद्य:स्फुट उपकरणों की मीलित मनोरम मूर्ति है। आशय यह है कि इनकी सौन्दर्य-चेतना के विकास में प्रकृति का उल्लेखनीय योग है।[2] इस प्रसंग मे इनकी दूसरी विशेषता यह है कि इन्होंने प्रकृति-सौन्दर्य के साथ नारी-रूप का मिश्रण कर दिया है। इन्होंने स्पष्ट लिखा है—"प्रकृति को मैंने अपने से अलग, सजीव सत्ता रखने वाली नारी के रूप में देखा है।"[3] अत: इनकी अनेक पंक्तियाँ इस धारणा को चरितार्थ करती है। जैसे—

उस फैली हरियाली में
कौन अकेली खेल रही, माँ,
वह अपनी वय वाली मे।

अथवा

खैंच ऐंचीला भ्रू-सुरचाप,
शैल की सुधि यो बारम्बार—
हिला हरियाली का सुदुकूल,
झुला झरनों का झलमल हार,
जलद-पट से दिखला मुखचन्द्र,
पलक पल-पल चपला के भार;
भग्न उर पर भूधर-सा हाय।
सुमुखि, धर देती है साकार।[4]

कुल मिलाकर, प्रारम्भिक कृतियों में **पन्त** की सौन्दर्य-चेतना प्रधानत: प्रकृति-केन्द्रित है। कवि ने इसे स्वीकार किया है कि **'वीणा'** और **'पल्लव'** की रचनाओं में उसकी सौन्दर्य-लिप्सा की पूर्त्ति प्रकृति के द्वारा ही होती थी।[5]

तदनन्तर, **पन्त** के द्वारा निरूपित सामाजिक सौन्दर्य लोक-मंगल से संबद्ध है। प्रगतिशील धारणाओं से प्रभावित **पन्त** की गुंजनोत्तर कविताओं में हम इसी

---

१. पन्त, गद्यपथ, साहित्य-भवन, इलाहाबाद, १९५३, पृ० १२६।

२. "प्रकृति के साहचर्य ने मुझे सौन्दर्य, स्वप्न और कल्पनाजीवी बनाया।"—पन्त, आधुनिक कवि, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, छठा संस्करण, पृ० ८।

३. पन्त, आधुनिक कवि, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, छठा संस्करण, पृ० ९।

४. उपरिवत्, पृ० १९।

५. "वीणा और पल्लव, विशेषत:, मेरे प्राकृतिक साहचर्य-काल की रचनाएँ हैं। तब प्रकृति की महत्ता पर मुझे विश्वास था और उसके व्यापारों में मुझे पूर्णता का आभास मिलता था। वह मेरी सौन्दर्य-लिप्सा की पूर्त्ति करती थी, जिसके सिवा उस समय मुझे कोई वस्तु पसन्द नहीं थी।"—पन्त, आधुनिक कवि, छठा संस्करण, भूमिका, पृ० ९-१०।

सामाजिक सौन्दर्य से मण्डित कला के प्रति कवि का आग्रह पाते हैं—

सुन्दर, शिव, सत्य
कला के कल्पित माप-मान
बन गये स्थूल,
जग-जीवन से हो एक प्राण।
मानव-स्वभाव ही
बन मानव-आदर्श सुकर
करता अपूर्ण को पूर्ण,
असुन्दर को सुन्दर।[1]

'युगवाणी' में भी कवि ने 'युग-उपकरण' शीर्षक कविता में कला और लोक-मंगल के संप्लवन को निर्दिष्ट करते हुए सामाजिक सौन्दर्य का निरूपण इस प्रकार किया है—

ललित कला, कुत्सित कुरूप जग का जो रूप करे निर्माण,
वह दर्शन-विज्ञान, मनुजता का हो जिससे चिर कल्याण।[2]

किन्तु, **पन्त** के काव्य में नैसर्गिक सौन्दर्य के बाद मानसिक सौन्दर्य और आध्यात्मिक सौन्दर्य को ही महत्त्व मिला है। वास्तविकता यह है कि मानसिक सौन्दर्य और आध्यात्मिक सौन्दर्य में कोई उल्लेखनीय अन्तर नहीं है, क्योंकि आध्यात्मिक सौन्दर्य मानसिक सौन्दर्य का एक विकसित रूप है। मानसिक सौन्दर्य स्वयम्भू होता है और कवि की ऊर्णनाभ कल्पना पर निर्भर रहता है। **पन्त** ने 'आवेश' शीर्षक कविता में मानसिक सौन्दर्य का स्वरूप-निर्देश बहुत काव्यात्मक ढग से किया है—

ज्यों झरते हरसिंगार झर-झर
ज्यों हिम फुहार कण फहर-फहर,
मेरे मानस से सुन्दरता,
नि:सृत होती त्यों निखर निखर।[3]

इस मानसिक सौन्दर्य का एक सुन्दर निदर्शन हमें कवि की 'मानसी' शीर्षक कविता में मिलता है—

प्रिये·········
स्वच्छ चाँदनी हो तुम स्मृति कूलों पर सोई।
ओस धुली, ऊषाओं की नि:स्वर द्वाभा-सी,

---

१. पन्त, युगवाणी, भारती-भण्डार, इलाहाबाद, प्रथम संस्करण, पृ० १५।
२. उपरिवत्, पृ० १७।
३. पन्त, चिदम्बरा, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, १९५९, पृ० ६२।

वनफूलों की कोमलता में सहज सँजोई।
स्वप्न देश की परियों की मृदु राजकुमारी कोई।
प्रिय शोभा देही में खोई।
... ...
तुम भावों के वन में
अपने मन में खोई
सौरभ-मृग हो।[1]

इस प्रकार भावना तथा कल्पना से निर्मित मानसिक सौन्दर्य ही **पन्त** का अभीष्ट है। ऐसे सौन्दर्य के प्रति अपना आग्रह व्यक्त करते हुए इन्होंने लिखा है—"अपनी भावना तथा कल्पना के पंखों से मै जिन सौन्दर्य के क्षितिजों को छू सका हूँ, वे मुझे दार्शनिक सत्यों से अधिक प्रकाशवान एवं सजीव लगते है।"[2] इन्होंने भावना तथा कल्पना से निर्मित इस सौन्दर्य की अनुपम झाँकी 'स्वर्ण-निर्झर' शीर्षक कविता में प्रस्तुत की है, जिसके लिए 'सौन्दर्य-चेतना' का प्रयोग उपशीर्षक की तरह किया गया है। प्रस्तुत कविता में सौन्दर्य का अकन विशुद्ध मानसिक धरातल पर भावना और कल्पना के सहारे सम्पन्न हुआ है। जैसे—

सुप्त स्वर्ण के चक्रांगों-से गौर उरोजों पर स्थित,
शुभ्र सुधा के मेघों की जाली उठती गिरती नित।
... ...
यह सौन्दर्य विभा रे उसके अमर प्रेम की छाया,
दिव्य प्रेम देही, सुन्दरता उसकी सतरंग काया।[3]

सौन्दर्य-विधान में ऐसी मानसिकता के प्रति आग्रह रखने के कारण **पन्त** ने सौन्दर्य-चेतना की दृष्टि से मनुष्य की 'जहदजहत् वृत्ति' का विरोध किया है। अत: इनके अनुसार सुन्दर और कुरूप—सबों को जीवन में वरण करना चाहिए—

चयन मत करो, चयन मत करो,
वरण करो,—
सुन्दर कुरूप को···कमल कीच को।[4]

उपर्युक्त विश्लेषण से यह पता चलता है कि **पन्त** की सौन्दर्य-चेतना पर

---

१. पन्त, वाणी, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, १९५८, पृ० ५७-५८।
२. पन्त, चिदम्बरा, राजकमल प्रकाशन, १९५९, पृ० ३०।
३. उपरिवत्, पृ० १११-११२।
४. पन्त, वाणी, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, पृ० २२।

रावीन्द्रिक सौन्दर्य-बोध का प्रभाव है।[१] अतः इनकी कई शृंगारिक कविताओं में भी रीतिकालीन पंकिलता नही मिलती है।

महादेवी ने भी कविता के मनोनीत तत्त्वों मे सौन्दर्य को बहुत ऊँचा स्थान दिया है और **प्रसाद** की तरह सौन्दर्य-बोध की सांस्कृतिक एवं दार्शनिक व्याख्या की है। इनका कहना है, "किसी मानव-समूह को दूसरों से भिन्न विशेषता उसके सौन्दर्य-बोध से प्राप्त होती है। सौन्दर्य-बोध जीवन की सहजात वृत्ति होने के कारण उसी के समान सामान्य और अपने परिवेश में विशेष रहती है। व्यापक अर्थ में वह जीवन के सभी क्षेत्रों में व्यक्त होकर उन्हें प्रभावित करती रहती है। परन्तु, सौन्दर्य की अनुभूति जितनी सहज है, उसकी परिभाषा उतनी ही कठिन हो जाती है। सामान्यतः वह ऐसी सुखद अनुभूति है, जो वस्तुओं, रगों, रेखाओं आदि की विशेष सामजस्यपूर्ण स्थिति में अनायास उत्पन्न हो जाती है।"[२] तदनन्तर, **महादेवी** ने मनुष्य के सौन्दर्य-बोध को दोहरा माना है। मानव-सौन्दर्य-बोध का एक छोर बाह्य जगत् से संबद्ध है और दूसरा अन्तर्जगत् से; क्योंकि "मानव के पास बाह्य जगत् के समान एक सचेतन अन्तर्जगत् भी है। अतः उसका सौन्दर्य-बोध दोहरा और अधिक रहस्यमय हो जाता है। वह केवल परिवेश के सामजस्य पर प्रसन्न नहीं होता, वरन् विचार, भाव और उनसे प्रेरित कर्म की सामंजस्यपूर्ण स्थिति पर भी मुग्ध होता है। उसके अन्तर्जगत् का सामंजस्य बाह्य जगत् में अपनी अभिव्यक्ति चाहता है और बाह्य जगत् का सामंजस्य अन्तर्जगत् में अपनी प्रतिच्छवि आँकना चाहता है।"[३] इस तरह

---

१. "(कवीन्द्र रवीन्द्र ने)····· अनेक छन्दों, तालो तथा लयों में अपनी मर्मस्पर्शी वाणी को नित्य नवीन रूप देकर रूढिग्रस्त भारतीय चेतना को अपने स्वर के तीव्र मधुर आघातों से जाग्रत, विमुक्त तथा विमुग्ध कर उसे एक नवीन आकांक्षा के सौन्दर्य तथा नवीन आशा के स्वप्नो में मण्डित कर दिया था। भारतीय अध्यात्म के प्रकाश को उन्होने पश्चिम के यन्त्रयुग के सौन्दर्य में वेष्टित कर उसे पूर्व तथा पश्चिम दोनो के लिए समान रूप से आकर्षक बना दिया था। इस प्रकार नवीन युग की आत्मा के अनुकूल स्वर-झंकृति प्रस्तुत कर कवीन्द्र रवीन्द्र ने एक नवीन सौन्दर्य-बोध का झरोखा कल्पनाशील युवक साहित्यकारो के हृदय में खोल दिया था।"—पन्त, गद्यपथ, साहित्य भवन, इलाहाबाद, १९५३, पृ० १५२।

२. महादेवी वर्मा, सप्तपर्णा, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, १९६०, पृ० १९।

३ उपरिवत्, पृ० २०। छायावादी कविता में अन्तर्जगत् के महत्त्व पर श्री मुकुटधर पाण्डेय ने भी 'हिन्दी में छायावाद' शीर्षक निबन्धमाला में इस प्रकार विचार किया है—"छायावाद के कवि वस्तुओं को एक असाधारण दृष्टि से देखते हैं। उनकी रचना की सम्पूर्ण विशेषताएँ उनकी इस 'दृष्टि' पर ही अवलम्बित रहती है। अतएव छायावाद को ठीक-ठीक समझने के लिए इस 'दृष्टि' का रहस्य जानना आवश्यक है। इसमें

महादेवी का यह विश्लेषण छायावादी सौन्दर्य-चेतना की आन्तरिकता और आत्मनिष्ठता के रहस्य पर प्रकाश-पुंज उँडेल देता है ।

अतः, कुल मिलाकर, सौन्दर्य के प्रति **महादेवी** का दृष्टिकोण आध्यात्मिक है । इनकी धारणा के अनुसार सौन्दर्यानुभूति सदैव रहस्यात्मक होती है, क्योंकि सौन्दर्य का प्रत्येक निदर्शन अन्तर्जगत् के अखण्ड और विराट् सौन्दर्य का प्रतिबिम्ब हुआ करता है । इस प्रकार सौन्दर्यानुभूति सर्वदा व्यापक सौन्दर्य की अनुभूति हुआ करती है । सौन्दर्य के प्रति **महादेवी** के इस आध्यात्मिक दृष्टिकोण का मूल कारण यह है कि इन्होंने सौन्दर्य का सम्बन्ध केवल भाव-जगत् से माना है । फलस्वरूप, इनकी सौन्दर्य-चेतना पूर्णतः आत्मनिष्ठ है । इनका कहना है कि "सत्य की प्राप्ति के लिए काव्य और कलाएँ जिस सौन्दर्य का सहारा लेते है, वह जीवन की पूर्णतम अभिव्यक्ति पर आश्रित है; केवल बाह्य रूप-रेखा पर नहीं । प्रकृति का अनन्त वैभव, प्राणि-जगत् की अनेकात्मक गतिशीलता, अन्तर्जगत् की रहस्यमयी विविधता—सब-कुछ इनके सौन्दर्य-कोष के अन्तर्गत है और इसमें से क्षुद्रतम वस्तु के लिए भी ऐसे भारी महूर्त्त आ उपस्थित होते है, जिनमें वह पर्वत के समकक्ष खड़ी होकर ही सफल हो सकती है और गुरुतम वस्तु के लिए भी ऐसे लघु क्षण आ पहुँचते हैं, जिनमें वह छोटे तृण के साथ बैठकर ही कृतार्थ बन सकती है।···बाह्य जीवन की कठोरता, संघर्ष, जय-पराजय—सब मूल्यवान है, पर अन्तर्जगत् की कल्पना, स्वप्न, भावना आदि भी कम अनमोल नही।"[1] सौन्दर्य के प्रति इस अडिग और प्रचुर आत्मनिष्ठता के कारण **महादेवी** ने सौन्दर्यानुभूति को सर्वदा रहस्यात्मक माना है । अनेक स्थलों पर व्यक्त किये गये इनके मन्तव्यों से यह सिद्ध होता है कि सौन्दर्यानुभूति अनिवार्यरूपेण रहस्यानुभूति हुआ करती है । जैसे—

(क) "प्रत्येक सौन्दर्य या प्रत्येक सामंजस्य की अनुभूति भी रहस्यानुभूति है । यदि एक सौन्दर्य-अंश या सामंजस्य-खण्ड हमारे सामने किसी व्यापक सौन्दर्य या अखण्ड सामंजस्य का द्वार नहीं खोल देता, तो हमारे अन्तर्जगत् का उल्लास से

स्थैर्य और पूर्णत्व का नितान्त अभाव रहता है ।······हाँ, इन अस्थिरता और क्षीणता के साथ-साथ उसमें एक तरह की विचित्र उन्मादकता और अन्तरंगता होती है, जिसके कारण वस्तु उसके प्रकृत रूप में नहीं, किन्तु एक अन्य रूप में दीख पड़ती है । उसके इस अन्य रूप का सम्बन्ध कवि के अन्तर्जगत् से रहता है।"—श्री शारदा, जबलपुर, वर्ष १, खण्ड १, भाद्रपद शुक्ल प्रतिपदा, १९७७, संख्या ६, पृ० ३४१ ।

१. महादेवी वर्मा, महादेवी का विवेचनात्मक गद्य, संकलनकर्त्ता गंगाप्रसाद पाण्डेय, इंडियन प्रेस, इलाहाबाद, १९४४, पृ० ८-९ ।

आन्दोलित हो उठना सम्भव नहीं।"[१]

(ख) "प्रत्येक सौन्दर्य-खण्ड अखण्ड सौन्दर्य से जुड़ा है और इस तरह हमारे हृदयगत सौन्दर्य-बोध से भी जुड़ा है।"[२]

(ग) "कलाकार सौन्दर्य की खण्डित और विकलांग प्रतिमाओं को समय के प्रवाह में छोड़कर उनके स्थान मे पूर्ण और अखण्ड को प्रतिष्ठित करता चलता है।···(अत:) कलाकार के लिए सौन्दर्य मे ही रहस्य की अनुभूति सहज है।"[३]

इस तरह सौन्दर्य के प्रति **महादेवी** का दृष्टिकोण पूर्णत: आस्तिक, आध्यात्मिक और रहस्यात्मक है। इन्होंने तो सौन्दर्यानुभूति की रहस्यपरकता को छायावादी सौन्दर्य-चेतना का विशिष्ट लक्षण माना है—"इस (छायावादी) युग की प्राय: सब प्रतिनिधि रचनाओं में किसी-न-किसी अंश तक प्रकृति के सूक्ष्म सौन्दर्य में व्यक्त किसी परोक्ष सत्ता का आभास भी रहता है और प्रकृति के व्यष्टिगत सौन्दर्य पर चेतनता का आरोप भी।"[४]

तदनन्तर, **महादेवी** ने छायावादी सौन्दर्य-चेतना की सूक्ष्मता पर विचार किया है, क्योंकि इनके विचार से हिन्दी साहित्य में छायावाद युग सूक्ष्म सौन्दर्यानुभूति के जय-घोष का काल है।[५] इस प्रसंग में सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण बात यह है कि **महादेवी** ने छायावादी सौन्दर्य-चेतना की सूक्ष्मता का दार्शनिक निदान प्रस्तुत किया है। इनका मन्तव्य यह है कि छायावादी कविता की उपर्युक्त सूक्ष्म सौन्दर्यानुभूति उस 'सर्वात्मवाद' से उत्थित हुई, जिसमें जड़ तत्त्व से चेतन की अभिन्नता रहती है।[६] सचमुच, इस सर्वात्मवादी दृष्टि के कारण ही छायावादी कवियों के लिए स्थूल और खण्ड सौन्दर्य में सूक्ष्म और अखण्ड सौन्दर्य को देखना संभव हो सका है। यों सभी छायावादी कवियों की रचना

---

१. महादेवी वर्मा, महादेवी का विवेचनात्मक गद्य, संकलनकर्ता गंगाप्रसाद पाण्डेय, इंडियन प्रैस, इलाहाबाद, १९४४, पृ० २६।

२. उपरिवत्, पृ० ५८।

३. उपरिवत्, पृ० ५८ और ९१।

४. उपरिवत्, पृ० ६५।

५. "······स्थूल सौन्दर्य की निर्जीव आवृत्तियों से थके हुए और परम्परागत नियम-श्रृंखला से ऊबे हुए व्यक्तियों को फिर उन्हीं रेखाओं में बँधे स्थूल का न तो यथार्थ चित्रण रुचिकर हुआ और न उसका रूढ़िगत आदर्श भाया। उन्हें नवीन रूपरेखाओं में सूक्ष्म सौन्दर्यानुभूति की आवश्यकता थी, जो छायावाद में पूर्ण हुई।"—महादेवी का विवेचनात्मक गद्य, इंडियन प्रेस, इलाहाबाद, १९४४, पृ० ६५।

६. "छायावाद में सर्ववाद अधिक सूक्ष्म रूप पा गया है, जिसमें जड़ तत्त्व से चेतन की अभिन्नता सूक्ष्म सौन्दर्यानुभूति को जन्म देती है और व्यष्टिगत चेतना से व्यापक चेतना की एकता भावात्मक दर्शन सहज कर देती है।"—महादेवी वर्मा का विवेचनात्मक गद्य, इंडियन प्रेस, इलाहाबाद, १९४४, पृ० ८६।

मे सौन्दर्यानुभूति की सूक्ष्मता मिलती है, किन्तु, **महादेवी** के अलावा अन्य कवियों की रचनाओं में यत्र-तत्र पर्याप्त स्थूलता या मांसलता मिलती है, जिसका विश्लेषण इस अध्याय मे यथाप्रसंग किया जाएगा।

आशय यह है कि छायावादी कवियों के बीच **महादेवी** के विचारों और रचनाओं में मांसल तथा स्थूल सौन्दर्य के प्रति उपेक्षा का भाव सबसे अधिक मिलता है। स्थूलता और मांसलता के प्रति अविरल विकर्षण के कारण ही **महादेवी** सूक्ष्म सौन्दर्य की प्रतिष्ठा को छायावाद की सबसे बड़ी उपलब्धि मान सकी हैं।[1] इस प्रकार इन्होंने सौन्दर्य को जिस अमांसल भाव से देखा है, उसकी वैचारिक पीठिका स्पष्ट है। तदनन्तर, सौन्दर्य-विवेचन के प्रसंग में कुछ स्थलों पर इन्होंने अपनी दार्शनिक पैठ का परिचय दिया है। उदाहरणार्थ, 'सौन्दर्यशास्त्र के तत्त्व' में 'सौन्दर्य' शीर्षक अध्याय में विवेचित कई सौन्दर्यशास्त्रियों की तरह इन्होने सौन्दर्य का विश्लेषण तात्त्विक दृष्टि से किया है। इस तात्त्विक विवेचन में इन्होंने 'सामंजस्य' को सौन्दर्य का अनिवार्य तत्त्व माना है। इतना अनिवार्य कि 'सामंजस्य' की उपस्थिति और अनुपस्थिति को ही इन्होंने 'सुन्दर' और 'कुरूप' का निर्णायक गुण स्वीकार किया है—"संसार मे प्रत्येक सुन्दर वस्तु उसी सीमा तक सुन्दर है, जिस सीमा तक वह जीवन की विविधता के साथ सामजस्य की स्थिति बनाये हुए है और प्रत्येक विरूप वस्तु उसी अंश तक विरूप है, जिस अंश तक वह जीवनव्यापी सामंजस्य को छिन्न-भिन्न करती है।"[2] अतः इस सामंजस्य (अर्थात् सौन्दर्य) के अधिकतम समावेश के आधार पर ही **महादेवी** ने कविता को सभी ललित कलाओं के बीच 'उत्कृष्टतम स्थान' दिया है।[3]

छायावाद-युग के इन चार प्रधान कवियों के अलावा अन्य छायावादी कवियों

---

१. "कितने दीर्घ काल से वासनोन्मुख स्थूल सौन्दर्य का हमारे ऊपर कैसा अधिकार रहा है, यह कहना व्यर्थ है। युगों से कवि को शरीर के अतिरिक्त और कही सौन्दर्य का लेश भी नही मिलता था और जो मिलता था, वह उसी के प्रसाधन के लिए अस्तित्व रखता था।...अतः मनुष्य की निम्न वासना को बिना स्पर्श किये हुए जीवन और प्रकृति के सौन्दर्य को इसके समस्त सजीव वैभव के साथ चित्रित करने वाली छायावाद युग की अनेक कृतियाँ किसी भी साहित्य को सम्मानित कर सकेगी।"—महादेवी का विवेचनात्मक गद्य, इंडियन प्रेस, इलाहाबाद, १९४४, पृ० ६६-६७।

२. महादेवी का विवेचनात्मक गद्य, इंडियन प्रेस, इलाहाबाद, १९४४, पृ० २०१।

३. "जीवन की विविधता में सामंजस्य को खोज लेने के कारण ही कविता उन ललित कलाओं में उत्कृष्टतम स्थान पा सकी है, जो गति की विभिन्नता, स्वरों की अनेकरूपता या रेखाओं की विषमता के सामंजस्य पर स्थित हैं।"—उपरिवत्, पृ० ४८।

ने भी सौन्दर्य के प्रति तात्त्विक चैतन्य व्यक्त किया है। जैसे, **डॉ० रामकुमार वर्मा** ने कला और सौन्दर्य के घनिष्ठ सम्बन्ध पर प्रकाश डालते हुए लिखा है—"कलाकार के जीवन का उद्देश्य सौन्दर्यान्वेषण है। उसे संसार के नीरस-से-नीरस पदार्थ में सौन्दर्य के खोजने की आवश्यकता पड़ती है, चाहे वह बाह्य हो अथवा आन्तरिक। ग्रीस के कलाकारों ने मनुष्य के शरीर का नग्न चित्रण सौन्दर्य और शक्ति के दृष्टिकोण से न जाने कितने रूपों मे किया है।···माइरोन और फीडियस जैसे कलाकारों की प्रतिभा ने सौन्दर्य के नग्न रूप पर अपनी कला को जीवित रखा। अजन्ता के चित्रों की रूप-रेखा मे सौन्दर्य जैसे पागल हो उठा है। कलाकार चाहे कवि हो अथवा चित्रकार, पहले अपने सौन्दर्य की भावना की तृप्ति करता है।"[१] आगे चलकर **डॉ० वर्मा** ने अपने विचारात्मक और शास्त्रीय निबन्धों में सौन्दर्य-सम्बन्धी निजी धारणाओं को अधिक स्पष्ट किया है। इन्होंने कलाकार की सौन्दर्य-प्रधान दृष्टि को 'ललित दृष्टि' की आख्या दी है। इनकी मान्यता है कि "सौन्दर्य के दो पक्ष हैं—एक इन्द्रिय-जनित और दूसरा आध्यात्मिक। प्रथम का प्रतिफलन सुख में होता है और दूसरे का आनन्द में। सुख या आनन्द का स्थूल प्रतीक सौन्दर्य है। अतः सौन्दर्य की परिभाषा में हम यही कह सकते है कि सौन्दर्य स्थूल से उत्पन्न सूक्ष्म की वह सहज परिस्थिति है, जिसकी प्रगति सुख या आनन्द की ओर है। सुख इन्द्रियों का विषय है और आनन्द अन्तःकरण का।···अतः सौन्दर्य इन्द्रियजनित या अन्तःकरणजनित रागात्मक मनोवेग के विश्राम में है।"[२] कविता के मूल में यही सौन्दर्य-चेतना विविध रूपों में उपस्थित रहती है, क्योंकि 'आत्मा की गूढ़ और छिपी हुई सौन्दर्य-राशि का भावना के आलोक से प्रकाशित हो उठना ही 'कविता' है। जिस समय आत्मा का व्यापक सौन्दर्य निखर उठता है, उस समय कवि अपने में सीमित रहते हुए भी असीम हो जाता है।'[3] इस तरह छायावादी कवियों द्वारा निरूपित सौन्दर्य-सम्बन्धी मान्यताओं से सहमत अथवा असहमत होना एक पृथक् प्रश्न है, किन्तु, उपर्युक्त विश्लेषण से यह स्पष्ट हो जाता है कि हम सभी छायावादी कवियों की सौन्दर्य-सम्बन्धी धारणा में वह तात्त्विक चैतन्य पाते हैं, जो सौन्दर्यशास्त्रीय अध्ययन की दृष्टि से बहुत ही महत्त्वपूर्ण हुआ करता है।

---

१. डॉ० रामकुमार वर्मा, चित्ररेखा, चाँद प्रेस लिमिटेड, इलाहाबाद, १९३५, पृ० १।

२. डॉ० रामकुमार वर्मा, साहित्य-शास्त्र, भारतीय विद्याभवन, इलाहाबाद, १९५६, पृ० १८।

३. डॉ० रामकुमार वर्मा, विचार-दर्शन, साहित्य-निकुंज, प्रयाग १९४८, पृ० ९९।

छायावादी सौन्दर्य-चेतना के मुख्य आधार है—प्रकृति और नारी। प्रकृति-सौन्दर्य अथवा नारी-सौन्दर्य का अंकन छायावादी कवियों को बहुत प्रिय रहा है। सच पूछिये तो प्रकृति छायावादी सौन्दर्य-दृष्टि का सहज आलम्बन है। **प्रसाद** और **महादेवी** के प्रकृति-चित्रणों में अंकित गुम्फन की सूक्ष्मता तथा **पन्त** की कविताओं में प्राप्त प्राकृतिक उपादानों की प्रचुर नूतनता इसे पूर्णत: प्रमाणित करती है। सस्कृत के काव्य, विशेषकर **कालिदास** की रचनाओं में हम प्रकृति-सौन्दर्य के प्रति ऐसे अनुराग को पाते हैं। वहाँ तो प्रकृति-सौन्दर्य को ही नारी-सौन्दर्य का प्रतिमान बना दिया गया था। छायावादी कवियो के बीच **निराला** ने भी **कालिदास** की तरह सच्चे सौन्दर्य का प्रतिमान प्रकृति को माना है, कारण, इनका कहना है कि 'सौन्दर्य की कल्पना प्रासाद से नही, वन से शुरू होती है।'[1]

छायावादी कवियो ने प्रकृति-सौन्दर्य को तीन माध्यमों मे उपस्थित किया है—चित्रधर्मी निसर्ग-वर्णना द्वारा अंकित प्रकृति-सौन्दर्य, भाव-धर्मी निसर्ग-वर्णना द्वारा अंकित प्रकृति-सौन्दर्य और सगीत-धर्मी निसर्ग-वर्णना द्वारा अंकित

---

१. निराला, प्रबन्ध-प्रतिमा, भारती-भण्डार, प्रयाग, प्रथम संस्करण, पृ० २८६। छायावादी कवियो के बीच केवल पन्त ने कहीं-कही मानव-सौन्दर्य को सृष्टि का सर्वोत्तम सौन्दर्य घोषित किया है। जैसे—

सुन्दर है विहग, सुमन सुन्दर,
मानव! तुम सबसे सुन्दरतम,
निर्मित सबकी तिल-सुपमा से
तुम निखिल सृष्टि में चिर निरुपम।

—युगान्त, इन्द्र प्रिंटिंग वर्क्स, अल्मोडा, प्रथम संस्करण, पृ० ४६।

अथवा

मानव की सजीव सुन्दरता नही प्रकृति-दर्शन में।
पूर्ण हुई मानव-अंगो में सुन्दरता नैसर्गिक,
शत ऊषा सध्या से निर्मित नारी प्रतिमा स्वर्गिक।

—युगवाणी, भारती-भण्डार, इलाहाबाद, प्रथम संस्करण, पृ० ३२।

अथवा

हार गई तुम प्रकृति!
रच निरुपम मानव-कृति।
निखिल रूप, रेखा, स्वर,
हुए निछावर
मानव के तन-मन पर।

—उपरिवत्, पृ० ७२।

प्रकृति-सौन्दर्य। किन्तु, प्रकृति-सौन्दर्य और नारी-सौन्दर्य के प्रति एक तादात्म्य दृष्टि रहने के कारण छायावादी कविता मे प्राय: प्रकृति-सौन्दर्य पर नारी के रूप और क्रिया-व्यापारों का आरोप कर दिया गया है। अत: उनमें मानवीकरण के सहारे प्रकृति-सौन्दर्य का ऐसा मूर्त्त चित्रण मिलता है, जिसके साथ सौन्दर्य के प्रति शिशु-सुलभ विस्मय और जिज्ञासा की अपूर्व अभिव्यक्ति हुई है। जैसे, पन्त की 'सध्या' शीर्षक कविता की निम्नलिखित पक्तियाँ इस धारणा को पूर्णत: चरितार्थ करती है—

कहो, तुम रूपसि कौन?
व्योम से उतर रही चुपचाप,
छिपी निज छाया-छवि में आप,
सुनहला फैला केश-कलाप,······
मधुर, मथर, मृदु, मौन।
ग्रीव तिर्यक्, चम्पक-द्युति गात,
नयन मुकुलित, नतमुख जलजात,
देह-छवि छाया मे दिन-रात,
कहाँ रहती तुम कौन?[1]

इस तरह सौन्दर्य के प्रति अविरल शिशु-सुलभ जिज्ञासा और विस्मय[2] के साथ प्रकृति पर मानवीकरण के द्वारा नारी के रूप-व्यापार का आरोप

---

१. पन्त, युगान्त, इन्द्र प्रिंटिंग वर्क्स, अल्मोड़ा, प्रथम संस्करण, पृ० ५१-५२।

२. प्रकृति के प्रति यह शिशु-सुलभ जिज्ञासा या विस्मय का भाव प्रसाद की प्रारम्भिक रचनाओं में भी प्रचुरता के साथ मिलता है। 'कानन-कुसुम' (प्रसाद की प्रारम्भिक रचनाओं का संग्रह) की 'सौन्दर्य' शीर्षक कविता में प्रसाद ने सौन्दर्य के प्रति अपनी जिज्ञासा और विस्मय को व्यक्त करते हुए लिखा है—

नील नीरद देखकर आकाश में।
क्यो खड़ा चातक रहा किस आश में।
क्यों चकोरों को हुआ उल्लास है
क्या कलानिधि का अपूर्व विकास है।
क्या हुआ जो देखकर कमलावली
मत्त होकर गूंजती भ्रमरावली।
कण्टको में जो खिला यह फूल है
देखते हो क्यों हृदय अनुकूल है।

—कानन-कुसुम, हिन्दी पुस्तक भण्डार, लहेरिया सराय, तृतीय संस्करण, पृ० ३५। इस प्रकार इन पंक्तियो में प्राकृतिक सौन्दर्य के कारण और स्वरूप के प्रति कवि की जिज्ञासा और विस्मय का भाव स्पष्टतः प्रकट है।

छायावादी सौन्दर्य-विधान की एक विशिष्ट प्रवृत्ति है। छायावाद-युगके सभी प्रमुख कवि की रचनाओं में इस ओर विशेष रुझान मिलता है। जैसे **निराला** के एक काव्य-संग्रह (**परिमल**) मे संगृहीत प्रकृति-परक कविताओं की निम्नलिखित पक्तियाँ देखी जा सकती हैं—

किस अनन्त का नीला अंचल हिला हिला कर,
जाती हो तुम सजी मण्डलाकार ?
एक रागिनी में अपना स्वर मिला-मिलाकर,
गाती हो ये कैसे गीत उदार ?
सोह रहा है हरा क्षीण कटि मे, अम्बर शैवाल,
गाती आप, आप देती सुकुमार करों से ताल।
... ...
तैर तिमिर-तल भुज-मृणाल से सलिल काटती,
आपस में ही करती हो परिहास।[१]

अथवा

बन्द कंचुकी के सब खोल दिये प्यार से
यौवन-उभार ने
पल्लव-पर्यंक पर सोती शेफालिके।
मूक आह्वान-भरे लालसी कपोलों के,
व्याकुल विकास पर
झरते हैं शिशिर से चुम्बन गगन के।[२]

इन सभी पक्तियों में हम प्रकृति-सौन्दर्य पर नारी के रूप और व्यापार का आवर्जक आरोप पाते हैं। **महादेवी** के काव्य में भी प्रकृति-सौन्दर्य पर नारी के रूप-व्यापार का एतादृश आरोप प्रचुर मात्रा में मिलता है। जैसे—

ओ विभावरी !
चाँदनी का अंगराग,
माँग में सजा पराग,
रश्मि-तार बाँध मृदुल
चिकुर भार री।[3]

इन पंक्तियों में ज्योत्स्ना-स्नात रात्रि को एक वासकसज्जा नायिका की तरह अलंकृत कर उपस्थित करने का प्रयास किया गया है। यह प्रवृत्ति **पन्त** की

---

१. निराला, 'तरंगों के प्रति', 'परिमल', गंगा पुस्तकमाला, लखनऊ, प्रथमावृत्ति, पृ० ५४।
२. निराला, 'शेफालिका', उपरिवत्, पृ० १७०।
३. महादेवी, नीरजा, प्रथम संस्करण, पृ० ६०।

कविताओं में सबसे अधिक मिलती है। जैसे, 'नौका-विहार' शीर्षक कविता की इन पंक्तियों मे न केवल प्रकृति-सौदर्य के साथ नारी-रूप का मिश्रण कर दिया गया है, बल्कि प्रकृति-सौदर्य के लिए प्रयुक्त सभी उपमानों को नारी की कोमलता से सम्पृक्त कर दिया गया है—

जिनके लघु दीपों को चंचल, अंचल की ओट किये अविरल
फिरतीं लहरें लुक-छिप पल-पल।
सामने शुक्र की छवि झलमल, पैरती परी-सी जल में कल,
रुपहरे कचों में हो ओझल।
लहरों के घूँघट से झुक-झुक दशमी का शशि निज तिर्यक् मुख,
दिखलाता, मुग्धा-सा रुक-रुक।[1]

इतना ही नहीं, पन्त ने अनेक स्थलों पर यहाँ तक लिख दिया है कि नारी-रूप प्रकृति-सौदर्य का मूल आस्पद है। अर्थात् नारी का रूप-लावण्य ही विच्छुरित होकर प्रकृति-सौदर्य के रूप में चतुर्दिक् फैल गया है। उदाहरणार्थ, पन्त ने 'भावी पत्नी के प्रति' शीर्षक कविता में लिखा है—

खोल सौरभ का मृदु कच जाल,
सूँघता होगा अनिल समोद,
सीखते होंगे उड़ खग-बाल,
तुम्हीं से कलरव, केलि, विनोद,
चूम लघु पद चंचलता, प्राण।
फूटते होंगे नवजल स्रोत,
मुकुल बनती होगी मुस्कान,
प्रिये, प्राणों की प्राण।[2]

इसी भाव को कवि ने 'मधु स्मिति' शीर्षक कविता में शब्द-भेद से व्यक्त किया है। उसे ऐसा लगता है कि उसकी प्रिया की मुस्कान ही प्रकृति-सौंदर्य के रूप में प्रसार पा गई है। तब वह विस्मय-विमुग्ध होकर अपनी प्रिया से पूछने लगता है—

मुसकुरा दी थी क्या तुम, प्राण ?
मुसकुरा दी थी आज विहान ?
आज गृह वन उपवन के पास,
लोटता राशि-राशि हिम हास,

१. पन्त, आधुनिक कवि, हिन्दी साहित्य-सम्मेलन, प्रयाग, छठा संस्करण, पृ० ५७।
२. पन्त, पल्लविनी, भारती-भण्डार, प्रयाग, तृतीय संस्करण, पृ० १४७।

खिल उठी आँगन में अवदात,
कुन्द कलियों की कोमल प्रात !
मुसकुरा दी थी, बोलो, प्राण !
मुसकुरा दी थी तुम अनजान ?[१]

इसी तरह 'मधुवन' शीर्षक कविता में भी पन्त ने प्रकृति-सौन्दर्य के दर्शन नारी-रूप के गवाक्ष से किये है। कवि को यह विश्वास हो गया है कि उसकी प्रिया की छविमयी छटा ही प्रकृति-सौन्दर्य के रूप में फैल गई है—

आज मुकुलित कुसुमित सब ओर,
तुम्हारी छवि की छटा अपार,
फिर रहे उन्मद मधु प्रिय भौंर,
नयन, पलकों के पंख पसार।
तुम्हारी मजुल मूर्त्ति निहार,
लग गई मधु के बन में ज्वाल।[२]

पन्त की कविताओं में प्रकृति-सौन्दर्य पर नारी-रूप के इतने पुरजोर आरोप का प्रबल कारण यह है कि इनको नारी-रूप से अपार स्नेह है—

तुम्हारे रोम-रोम से नारि।
मुझे है स्नेह अपार;
तुम्हारा मृदु उर ही सुकुमारि।
मुझे है स्वर्गागार।[३]

इस अपार स्नेह से ही प्रेरित हाकर इन्होंने अपने लिए नारी-वेश और नारी-शृंगार को स्वीकार कर लिया है—

घने लहरे रेशम के बाल,—
धरा है सिर पर मैंने देवि !
तुम्हारा यह स्वर्गिक शृगार,
स्वर्ण का सुरभित भार।[४]

इस प्रकार उपर्युक्त विश्लेषण से छायावादी काव्य और, विशेषकर, पन्त की कविताओं में प्राप्त प्रकृति-सौन्दर्य पर नारी-रूप-व्यापारों के आरोप का पूर्णत: स्पष्टीकरण हो जाता है।

तदनन्तर, प्रकृति-सौन्दर्य और नारी-रूप के इस तादात्म्य या मिश्रण का

---

१. पन्त, पल्लविनी, भारती-भण्डार, प्रयाग, तृतीय संस्करण, पृ० १५०।
२. उपरिवत्, पृ० १५७।
३. उपरिवत्, तृतीय संस्करण, पृ० ८०।
४. उपरिवत्, पृ० ८०।

एक दूसरा पहलू भी है, जिसे हम उपर्युक्त पद्धति का विलोम कह सकते है। यह दूसरा पहलू है—नारी-रूप पर प्रकृति-सौंदर्य का आरोप। छायावादी कविता की यह एक प्रमुख विशेषता है कि इसमें जहाँ सौंदर्य-विधान के लिए मानवीकरण का मंडान बाँधा गया है, वहाँ प्रकृति-सौंदर्य पर नारी-रूप और नारी-सुलभ क्रिया व्यापारों का आरोप कर दिया गया है; किन्तु, जहाँ नारी को मांसल सौंदर्य की स्थूल जड़ता से मुक्त करने का प्रयास किया गया है, वहाँ नारी-रूप पर प्रकृति-सौंदर्य का आरोप कर दिया गया है, ताकि नारी प्रकृति की रहस्यमयी शक्ति और भास्वर सौंदर्य से मण्डित हो सके। उदाहरणार्थ, निम्नलिखित पंक्तियों में नारी का चित्र, मानो, स्वय प्रकृति का चित्र बन गया है—

'वह विश्व मुकुट-सा उज्ज्वलतम शशि-खण्ड सदृश था स्पष्ट भाल,
दो पद्म-पलाश चषक से दृग देते अनुराग विराग ढाल।[1]

'कामायनी' जैसी उत्कृष्ट कृति की बात तो अलग है, **प्रसाद** की उन प्रारम्भिक रचनाओं में भी नारी-रूप पर प्रकृति-सौदर्य को आरोपित करने की प्रवृत्ति मिलती है, जिनमें नारी के रूप-सौदर्य के अंकन के लिए रीतिकाल से मिलती-जुलती चेष्टा की गई है। जैसे, 'रूप' शीर्षक कविता[2] (जो इनकी प्रारम्भिक रचनाओं में एक है) की पंक्तियों को देखा जा सकता है।

किन्तु, हम छायावादी कविता में नारी-रूप और प्रकृति-सौदर्य को एक-प्राण कर देने की जो प्रवृत्ति प्रायशः पाते हैं, वह **आचार्य शुक्ल** को पसन्द नही है। **आचार्य शुक्ल** ने छायावाद पर लिखते समय उक्त प्रसंग में यह धारणा व्यक्त की है कि "प्रकृति के नाना रूपों के सौंदर्य की भावना सदैव स्त्री-सौंदर्य का आरोप करके करना उक्त भावना की संकीर्णता सूचित करता है।······सौंदर्य की भावना सर्वत्र स्त्री का चित्र चिपकाकर करना खेल-सा हो जाता है। उषा-सुन्दरी के कपोलों की ललाई, रजनी के रत्न-जटित केश-कलाप, दीर्घ निःश्वास और अश्रु-बिन्दु तो रूढ़ ही हो गये हैं; किरण, लहर, चन्द्रिका, छाया, तितली सब अप्सराएँ या परियाँ बनकर ही सामने आने पाती है। इसी तरह प्रकृति के नाना व्यापार भी चुम्बन, आलिंगन, मधुग्रहण, मधुदान, कामिनी की क्रीड़ा इत्यादि में अधिकतर परिणत दिखाई देते है। कहने का तात्पर्य यह है कि प्रकृति की नाना वस्तुओं और व्यापारों का अपना-अपना अलग सौन्दर्य भी है, जो एक ही प्रकार की वस्तु या व्यापार के आरोप द्वारा अभिव्यक्त नहीं हो

---

१. प्रसाद, कामायनी, भारती-भण्डार, प्रयाग, अष्टम संस्करण, पृ० १६८।
२. प्रसाद, झरना, भारती-भण्डार, प्रयाग, सातवाँ संस्करण, पृ० २२।

सकता।"[1] किन्तु, मेरी दृष्टि में नारी-रूप और प्रकृति-सौंदर्य के मिश्रण का एक हितावह पक्ष भी है, क्योंकि इस आरोप या मिश्रण से नारी-सौंदर्य के अंकन मे रीतिकालीन (शारीरिक) मांसलता का सहज परिहार हो जाता है और नारी-सौंदर्य को एक व्यापक फलक मिल जाता है।[2] उदाहरणार्थ, निम्नलिखित पंक्तियों मे **प्रसाद** के द्वारा प्रस्तुत किये गये श्रद्धा के सौदर्य की जो भी विशेषता है, उसका प्रधान कारण धर्म-साम्य और प्रभाव-साम्य के आधार पर प्रकृति से गृहीत उपादानों का अप्रस्तुत-विधान है, न कि श्रद्धा के सौंदर्य का मात्र नारी के रूप-व्यापारों के माध्यम से किया गया मांसल अंकन[3]—

> और देखा वह सुन्दर दृश्य, नयन का इन्द्रजाल अभिराम,
> कुसुम वैभव मे लता समान, चन्द्रिका से लिपटा घनश्याम।
> ....
> उषा की पहली लेखा कान्त, माधुरी से भींगी भर मोद,
> मदभरी जैसे उठे सलज्ज, भोर की तारक-द्युति की गोद।[4]

यहाँ प्रकृति से गृहीत उपादानो के अप्रस्तुत-विधान के कारण अर्थात्, नारी-सौदर्य पर प्रकृति के रूप-व्यापारों के आरोप के कारण श्रद्धा के रूप की मांसलता से अधिक उसके सम्पूर्ण सौदर्य का प्रभाव हमारे अन्तःकरण पर

---

१. आचार्य शुक्ल, हिन्दी साहित्य का इतिहास, काशी-नागरी-प्रचारिणी सभा, संवत् २००३ विक्रम, पृ० ६७५।

२. महादेवी ने छायावादी कविता की इसी उपलब्धि को तूल देते हुए लिखा है—"छाया-युग ने ''कठोर अचलता से शाप-मुक्ति देने के लिए नारी को प्रकृति के समान ही मूर्त्त और अमूर्त स्थिति दे डाली। उस स्थिति में सौन्दर्य को एक रहस्यमयी सूक्ष्मता और विविधता प्राप्त हो जाना सहज हो गया।"—महादेवी, दीपशिखा, भारती-भण्डार, प्रयाग, चतुर्थ संस्करण, 'चिन्तन के कुछ क्षण', पृ० ५०।

३. निराला की 'बहू' शीर्षक कविता में अंकित सौन्दर्य पर भी यही बात लागू होती है—

> सौन्दर्य-सरोवर की वह एक तरंग,
> किन्तु, नहीं चंचल प्रवाह-उद्दाम वेग—
> संकुचित एक लज्जित गति है वह
> प्रिय समीर के संग।
> वह नव बसन्त की किसलय-कोमल लता,
> किसी विटप के आश्रय में मुकुलिता
> और अवनता।

—निराला, परिमल, गंगा पुस्तकमाला, लखनऊ, प्रथमावृत्ति, पृ० १३४।

४. प्रसाद, कामायनी, भारती-भण्डार, प्रयाग, अष्टम संस्करण, पृ० ४६-४७।

अंकित हो जाता है। **निराला** की 'यामिनी जागी' शीर्षक कविता की ये पंक्तियाँ भी, जो नायिका के शारीरिक सौंदर्य को उरेहने में रची गई है, प्रकृति के रूप-व्यापार के आरोप के कारण रीतिकालीन मांसलता से कुछ ऊपर उठ गई है—

खुले केश अशेष शोभा भर रहे,
पृष्ठ-ग्रीवा-बाहु-उर पर तर रहे,
बादलों में घिर अपर दिनकर रहे,
ज्योति की तन्वी, तडित्—
द्युति ने क्षमा माँगी।[1]

इसी तरह **प्रसाद** ने नारी की सूक्ष्म मनोवृत्ति लज्जा को मूर्त्त बनाने के लिए जहाँ उसका मानवीकरण प्रस्तुत किया है, वहाँ भी इन्होंने नारी के रूपांकन मे प्रकृति का सहारा लिया है। फलस्वरूप, इन पंक्तियो में नारी-सौदर्य को एक रसनीय भव्यता मिल गई है—

कोमल किसलय के अंचल मे,
नन्ही कलिका ज्यों छिपती-सी,
गोधूली के धूमिल पट में,
दीपक के स्वर में दिपती-सी।
... ...
नीरव निशीथ में लतिका-सी,
तुम कौन आ रही हो बढ़ती ?[2]

मेरी उपर्युक्त मान्यता इस कारण भी समर्थित होती है कि छायावादी कवियों, जैसे **प्रसाद** ने ही जहाँ नारी-सौदर्य के चित्रण में प्रकृति-सौंदर्य का मिश्रण या आरोप नहीं किया है, वहाँ इनका सौंदर्य-चित्रण भी मांसल सौंदर्य बन गया है। जैसे, निद्रित श्रद्धा के सौंदर्य को आँकने वाली ये पंक्तियाँ देखी जा सकती हैं—

खुले मसृण भुजमूलों से,
वह आमंत्रण था मिलता,
उन्नत वक्षों में आलिंगन,
सुख-लहरों सा तिरता।
नीचे हो उठता जो धीमे,
धीमे निश्वासों में,

१. निराला, अपरा, साहित्यकार-संसद, प्रयाग, चतुर्थ संस्करण, पृ० २४।
२. प्रसाद, कामायनी, भारती-भण्डार, प्रयाग, अष्टम संस्करण, पृ० ९७।

जीवन का ज्यों ज्वार उठ रहा,
हिमकर के हासों में ।[१]

तदनन्तर, नारी-सौन्दर्य और प्रकृति-सौंदर्य के मिश्रण का एक शोभादायक फल यह है कि इस मिश्रण से प्रकृति-सौंदर्य के अंकन को मानवीकरण से युक्त मूर्त्तता मिल जाती है और उसकी अनुभवगम्य रसनीयता बढ़ जाती है, क्योंकि नारी के रूप और व्यापारों के साथ मनुष्य का साहचर्य बहुत ही घना होता है। उदाहरण के लिए, **निराला** की 'संध्या सुन्दरी' शीर्षक कविता में सध्या के सौंदर्य को मानवीकरण से युक्त जो मूर्त्तता मिल सकी है और उसमे जो रसनीयता समा गई है, उसका प्रधान कारण सध्या पर नारी के रूप और व्यापारों का आरोप है—

दिवसावसान का समय
मेघमय आसमान से उतर रही है,
वह सध्या-सुन्दरी परी-सी,
धीरे धीरे धीरे,
... ...
सखी नीरवता के कन्धे पर डाले बाँह,
छाँह-सी अम्बर पथ से चली ।[२]

इस प्रकार छायावादी कविता में नारी-सौदर्य और प्रकृति-सौदर्य के मिश्रण से नारी-सौंदर्य को रसनीय अमांसलता मिल गई है तथा प्रकृति-सौदर्य को एक कलात्मक मूर्त्तता ।

प्रकृति-सौदर्य के मिश्रण या आरोप से पृथक् छायावादी कवियों ने जहाँ नारी-सौंदर्य का स्वतन्त्र अकन किया है, वहाँ इनका सौदर्याकन कुछ स्थलों पर सूक्ष्म और कुछ स्थलों पर अत्यन्त मांसल हो गया है। इस मांसलता का एक कारण यह है कि छायावादी कवियों ने नारी को सौंदर्य के जीवित आवास के रूप में चित्रित किया है। इनके सामने नारी लाज की छुईमुई-सी, साक्षात् अलम्बुषा-सी कोमल-प्राण बनकर उपस्थित हुई है। लाज के मारे उसकी आँखें हरीतिमा मे पाँखें बन्दकर बैठे विहग के समान राजती है। नारी की इस कोमल मांसलता को व्यक्त करते हुए **निराला** ने लिखा है, "स्त्री आँख की पुतली-सी नाजुक है, हमेशा पलको के दुहरे पर्दे मे बन्द रहती है।"[३] किन्तु, इस सुकोमल नारी के शारीरिक सौदर्य का प्रभाव इतना दुर्निवार होता है कि कानन-

---

१. प्रसाद, कामायनी, भारती भंडार, प्रयाग, अष्टम संस्करण, पृ० १२५ ।

२. निराला, परिमल, प्रथमावृत्ति, पृ० १०९-११० ।

३. निराला, अलका, गंगा पुस्तक माला, लखनऊ, संवत् १९९३ विक्रम, पृ० १२८ ।

केशरी भी उसके समक्ष हन्त-दन्त हो जाते हैं।[1]

रूप की इस दुर्निवार मासलता का कारण नारी-सौंदर्य का प्रभाव-पक्ष है, जिसका संकेत **प्रसाद** ने इन पंक्तियों मे किया है—

है यही सौंदर्य में सुषमा बड़ी, लौह हिय को आँच इसकी ही कड़ी।
देखने के साथ ही सुन्दर बदन, दीख पडता है सजा सुखमय सदन ।।
देखते ही रूप मन प्रमुदित हुआ, प्राण भी आमोद से सुरभित हुआ।
रस हुआ रसना में उसके बोलकर, स्पर्श करता सुख हृदय को खोलकर ।।[2]

इतना ही नही, **प्रसाद** ने नारी-सौंदर्य के इस प्रभाव-पक्ष का कवित्वपूर्ण वर्णन **'कामना'** नाटक मे किया है। 'सन्तोष' नामक पात्र 'कामना' से नारी के मासल सौंदर्य की प्रभविष्णुता का विश्लेषण करता हुआ कहता है—"रमणी का रूप—कल्पना का प्रत्यक्ष—सम्भावना की साकारता······जिसके सामने मानवीय महत् अहम् भाव लोटने लगता है, जिस पिच्छल भूमि पर स्खलन विवेक बनकर खडा होता है, जहाँ प्राण अपनी अतृप्त अभिलाषा का आनन्द-निकेतन देखकर पूर्ण वेग से धमनियों में दौड़ने लगता है, जहाँ चिन्ता विस्मृत होकर विश्राम करने लगती है, वहीं रमणी का—तुम्हारा रूप देखा था—और यह नही कह सकता कि मैं झुक नहीं गया।"[3] इसी तरह **प्रसाद** ने 'पाप की पराजय'[4] शीर्षक कहानी मे भी नारी के मांसल सौन्दर्य के प्रभाव-पक्ष पर बहुत ललित ढंग से विचार किया है।

मेरे कहने का आशय यह है कि नारी के मांसल सौदर्य के प्रभाव-पक्ष को इतनी मुखर स्वीकृति देने के कारण ही छायावादी कवि की कविताओं में हमें यत्न-तत्र स्थूल सौंदर्य के प्रति तीव्र ऐन्द्रिय ऊष्मा मिलती है। उदाहरण के लिए इन पंक्तियों को देखा जा सकता है, जिनमे **पन्त** ने नारी के मांसल सौंदर्य को रस-लुब्ध दृष्टि से आँकने का मादक प्रयास किया है—

तुम मुग्धा थी अति भाव-प्रवण,
उकसे थे अँबियों-से उरोज,
चंचल, प्रगल्भ, हँसमुख, उदार,
मैं सलज—तुम्हें था रहा खोज।
छनती थी ज्योत्स्ना शशिमुख पर
मैं करता था मुख-सुधा पान।[5]

---

१. प्रसाद, महाराणा का महत्त्व, भारती भण्डार, प्रयाग, चतुर्थ संस्करण, पृ० १३।
२. प्रसाद, कानन-कुसुम, पृ० ३६।
३. प्रसाद, कामना, भारती भण्डार, प्रयाग, पंचम संस्करण, पृ० ७०-७१।
४. प्रसाद, प्रतिध्वनि, साहित्य सदन, चिरगांव (झांसी), प्रथम संस्करण, पृ० २०।
५. पन्त, युगपथ, भारती-भण्डार, प्रयाग, प्रथम संस्करण, पृ० ४०।

इस तरह छायावादी कवियों ने कहीं-कहीं नारी के रूप की ज्वाला का खुलकर बखान किया है। **प्रसाद** के एक नेपथ्य-गीत की ये पंक्तियाँ इसे अच्छी तरह प्रमाणित करती है—

कैसी कड़ी रूप की ज्वाला ?
पड़ता है पतंग-सा इसमे मन होकर मतवाला।
सांध्य गगन-सी रागमयी यह बड़ी तीव्र है हाला;
लौह शृंखला से न कड़ी क्या यह फूलों की माला।[1]

सम्भवत: रूप की इस ज्वाला को एतादृश स्वीकृति देने के कारण ही छायावादी कवि नारी के नयनों की समता त्रिगुणात्मक सन्निपात के साथ स्थापित कर सका है—

नारी के नयन ! त्रिगुणात्मक ये सन्निपात
किसको प्रमत्त नहीं करते
धैर्य किसका ये नहीं हरते ?[2]

किन्तु, यह मांसल सौंदर्याकन नारी-केन्द्रित छायावादी सौंदर्य-भावना का एक गौण पक्ष है, जिसे **निराला** ने 'वेश्या-सौदर्य' कहा है। यहाँ यह ध्यातव्य है कि **निराला** ने नारी-सौदर्य को दो रूपों मे विभाजित किया है—दिव्य-सौंदर्य और वेश्या-सौदर्य। नारी-सौदर्य जब गम्भीर परिवेश में एक अतीन्द्रिय आभा के साथ स्वर्गीय बनकर उपस्थित होता है, तब **निराला** उसे दिव्य सौंदर्य कहते हैं और जब नारी-सौंदर्य चटुल अग-भंगिमाओं के साथ यौवन की शृंगारिक ऊष्मा को उदोप्त करता हुआ स्थूल ऐन्द्रिय धरातल पर उपस्थित होता है, तब **निराला** उसे वेश्या-सौंदर्य कहते है। इसी कारण **निराला** ने **पन्त** की इन पंक्तियों में अंकित सौंदर्य को वेश्या-सौंदर्य माना है—

बजा दीर्घ साँसों की भेरी,
सजा सटे कुच कलशाकार;
... ...
बाल-युवतियाँ तान कान तक
चल चितवन के बन्दनवार;
देव ! तुम्हारा स्वागत करतीं
खोल सतत उत्सुक दृग-द्वार।[3]

---

१. प्रसाद, चन्द्रगुप्त मौर्य, भारती भण्डार, प्रयाग, नवां संस्करण, पृ० १७६।

२. प्रसाद, लहर, भारती-भण्डार, प्रयाग, पंचम संस्करण, पृ० ६५।

३. निराला, प्रबन्ध पद्म, गंगा पुस्तक माला, लखनऊ, संवत् २०११ विक्रम, पृ० १२०-१२१।

इसी तरह **निराला** ने **रवीन्द्रनाथ ठाकुर** की 'उर्वशी' शीर्षक कविता के प्रारम्भिक अंश में अंकित सौन्दर्य को 'वेश्या-सौन्दर्य' (वारांगना-सौन्दर्य) कहा है,[१] क्योंकि 'उर्वशी' कुलवधू की तरह लजाती हुई अर्द्धरात के सन्नाटे में अपने प्रियतम की सेज के पास नहीं जाती, वह घूंघट से कभी मुँह नहीं मूँदती।' इतना ही नही, 'जहाँ लुब्ध कवि मधु पीकर मतवाले हुए भौरों की तरह गाते हुए उसके पीछे-पीछे चलते है, वहाँ उसका नूपुरों को बजाकर हिलोरों से अंचल को विकल करके बिजली की गति से गायब हो जाना, वास्तव में वेश्या-स्वभाव का एक बहुत ही सुन्दर दृश्य दिखा जाता है।'[२] आशय यह निकला कि **निराला** नारी की उन्मुक्त और काम-लोल देह-छवि को वेश्या-सौन्दर्य मानते है तथा देह-छवि की सीमाओं का अतिक्रमण कर फैलने वाले नारी-रूप को दिव्य सौन्दर्य कहते है।

वेश्या-सौन्दर्य के दैहिक सस्कार, जैसा कि हम उपरिलिखित विवेचन में भी देख चुके हैं, छायावादी कविता में कभी-कभी पूरी तीव्रता के साथ प्रकट हुए है और रीतिकाल की उच्छल रमिकता से पूर्ण मांसल शृंगार की याद दिला देते है। जैसे—

मिले अधरों से अधर समान,
नयन से नयन, गात से गात।
पुलक से पुलक, प्राण से प्राण
भुजों से भुज, कटि से कटि शात।[३]

---

१. निराला, रवीन्द्र-कविता-कानन, हिन्दी प्रचारक पुस्तकालय, वाराणसी, १९५४, पृ० १३७-१३८।

२. उपरिवत्।

३. पन्त, युगान्त, इन्द्र प्रिंटिंग वर्क्स, अल्मोड़ा, प्रथम संस्करण, पृ० २४। इसी तरह पन्त ने 'ग्रन्थि' में भी (तृतीय संस्करण, पृ० ३७) नारी-सौन्दर्य के मांसल पक्ष को खुलकर अंकित किया है। इनके काव्य में शारीरिक सौन्दर्य की यह ऊष्मा 'स्वर्ण-किरण'-काल तक की रचनाओं में पायी जाती है। जैसे, 'स्वर्णोदय' शीर्षक कविता की ये पंक्तियाँ देखी जा सकती हैं—

वक्ष श्रोणि ने बढ़, कटि ने छँट
सौष्ठव रेखायें की रूपित,
मुग्ध नयनिमा, त्रपा लालिमा,
पद जड़िमा ने तरुणी चित्रित।

—स्वर्णकिरण, भारती-भण्डार, इलाहाबाद, प्रथम संस्करण, पृ० ११३।

अथवा

परिरम्भ-कुम्भ की मदिरा,
निश्वास - मलय के झोंके,
मुखचन्द्र - चाँदनी जल में
मैं उठता था मुँह धो के ।[1]

अथवा

गिर रहीं पलकें, झुकी थी नासिका की नोक
भ्रू-लता भी कान तक चढ़ती रही बेरोक ।
स्पर्श करने लगी लज्जा ललित कर्ण कपोल
खिला पुलक कदम्ब-सा था भरा गदगद बोल ।[2]

शायद, ऐसे स्थलों पर छायावादी कवि अपनी वन्दिता 'आभादेही' नारी को भूल गये हैं और इनके ही द्वारा सिद्धान्ततः स्वीकृत 'विशद स्त्रीत्व'[3] इनकी दृष्टि से ओझल हो गया है। इन्हें इस बात का स्मरण नहीं रहा कि इन्होंने नारी को अनन्त सौन्दर्य की सान्त अभिव्यक्ति के रूप में स्वीकार किया है और उसे अलौकिक सौन्दर्य का पार्थिव प्रतिबिम्ब माना है—

... ...
सृष्टि के उर की साँस,
तुम्हीं इच्छाओं की अवसान,
तुम्हीं स्वर्गिक आभास ।

उपरिनिर्दिष्ट मांसल श्रृंगार की पंक्तियों को लिखते समय छायावादी कवि अपने गद्य-साहित्य में भी व्यक्त किये गये वेश्या-सौन्दर्य के प्रति उपेक्षा-भाव और दिव्य सौन्दर्य के काम्य आकर्षण को भूल बैठे है। **निराला, प्रसाद, पन्त**

---

१. प्रसाद, आँसू, पृ० २७ ।

२. प्रसाद, कामायनी, भारती-भण्डार, प्रयाग, अष्टम संस्करण, पृ० ९४ । प्रसाद ने 'कंकाल' के प्रथम खण्ड में भी नारी की देह-छवि के प्रति भोगी-दृष्टि का संकेत किया है, जिसका पता विजय और यमुना की इस वार्त्ता से चलता है—

"...मैंने और भी ऐसा कुण्ड देखा है, जिसमें कितने ही जल पिये वह भरा ही रहता है।"

"सचमुच ! कहाँ पर विजय बाबू ?"

"सुन्दरी के रूप का कूप ।"

—प्रसाद, कंकाल, भारती-भण्डार, प्रयाग, आठवाँ संस्करण, पृ० ९५ ।

३. विशद स्त्रीत्व का ही मै मन में करता हूँ नित पूजन,
जब आभादेही नारी आह्लाद प्रेम कर वर्षण
मधुर मानवी की महिमा से भू को करती पावन ।
—पन्त, ग्राम्या, भारती-भण्डार, प्रयाग, प्रथम संस्करण, पृ० ८१ ।

और **महादेवी** ने अपने गद्य-साहित्य में वेश्या-सौन्दर्य और स्थूल वासना से मण्डित शृंगार की पूरी विगर्हणा की है। **निराला** के गद्य-साहित्य में तो वेश्या-सौन्दर्य और नारी की ओर निवेदित पुरुष की रस-लम्पट दृष्टि के प्रति घोर घृणा का भाव मिलता है।[1] यूरोप मे प्रचलित नर-नारी के मुक्त चुम्बन-व्यापार पर व्यंग्य करते हुए **निराला** ने 'अलका' नामक उपन्यास में एक पुरुष पात्र (अजित) से वीणा को कहलाया है—"योरुप वाले तुम्हारे मुखों को महत्त्व में हुक्का मानते हैं, जो सहस्रों मुखों से चुम्बित होकर भी चिर पवित्र रहता है।······अर्थात् वंशी का फूँक वाला छेद जिस तरह होंठ-होंठ से लगने पर भी अपवित्र नही माना जाता, उसी तरह स्त्री का मुख है। कृष्णजी की वंशी में यही रूपक है। वह सोलह हजार गोपियों के मुख इसीलिए चूम सकते थे और चूमकर पवित्र कर देते थे, क्योंकि उन्हें वंशीवाला तत्त्व मालूम था।"[2] इसी तरह **प्रसाद** ने भी **'कामना'** नाटिका मे विवेक नामक पात्र के द्वारा नारी की देह-छवि या वेश्या-सौन्दर्य के प्रति घृणा का भाव प्रदर्शित किया है।[3] इन्होंने नारी की प्रसाधन-मण्डित देह-छवि को क्षणभंगुरता का एक उत्कृष्ट उदाहरण माना है,[4] क्योंकि सच्चे सौन्दर्य को किसी कृत्रिम प्रसाधन की आवश्यकता नहीं होती। इसलिए **प्रसाद** ने **कालिदास** के 'किमिवहि मधुराणां मण्डनं नाकृतीनाम्' या 'न षट्पद श्रेणिभिरेव पंकज सशैवालसंगमपि प्रकाशते' का समर्थन करते हुए **'विशाख'** में लिखा है—

सलोने अंग पर पट हो मलिन भी रंग लाता है।
कुसुम-रज से ढका भी हो कमल फिर भी सुहाता है॥[5]

---

१. निराला, देवी (कहानी-संग्रह), श्री राष्ट्रभाषा विद्यालय, काशी, १९४८, पृ० ११६।

२. निराला, अलका, गंगा पुस्तक माला, लखनऊ, संवत् १९९३ विक्रम, पृ० २०९।

३. प्रसाद, कामना, भारती-भण्डार, प्रयाग, पृ० ३९।

४. 'जनमेजय का नागयज्ञ' नामक नाटक में शीला दामिनी से कहती है—"बनावटी बातें क्षणिक होती हैं; किन्तु, जो सत्य है, वह स्थायी होता है। बहन दामिनी, मेरी समझ में तो स्त्रियां विशेष शृंगार का ढोंग करके अपनी स्वाभाविक स्वतंत्रता भी खो बैठती हैं।"—प्रसाद, जनमेजय का नागयज्ञ, साहित्य रत्नमाला-कार्यालय, बनारस सिटी, संवत् १९८३, तीसरा अंक, चौथा दृश्य, पृ० ९९।

५. प्रसाद, विशाख, भारती-भण्डार, बनारस सिटी, द्वितीय संस्करण, प्रथम अंक, पृ० ३। इस प्रसंग में निराला ने भी ऐसी ही धारणा व्यक्त की है कि 'सुन्दर सब समय सुन्दर है, उसे किसी अतिरिक्त मण्डन की आवश्यकता नहीं होती।'—देवी (कहानी-संग्रह) श्री राष्ट्रभाषा विद्यालय, काशी, १९४८, पृ० २२।

इसी प्रकार **प्रसाद** ने 'कला' शीर्षक कहानी में **निराला** और **पन्त** की तरह नारी के दिव्य सौन्दर्य या अदेह छवि को नारी की देह-छवि अथवा वेश्या-सौन्दर्य से उत्कृष्ट माना है[1] तथा अपनी अन्य गद्य-रचनाओं में भी 'नारी के वासना-रहित निष्काम सौन्दर्य' का अभिनन्दन किया है।

आशय यह है कि छायावादी कविता मे नारी-सौन्दर्य का चित्रण दो रूपों में हुआ है। एक रूप में नारी काम-लोल देह-छवि का जीवित अधिवास है और दूसरे रूप में वह 'अदेह सुषमा' या दिव्य सौन्दर्य का मूर्त्त आस्पद है। **रवीन्द्रनाथ ठाकुर** ने भी नारी के इस दोहरे सौन्दर्य को प्रिया और देवी के रूप में स्वीकार किया है। इन्होंने 'राते ओ प्रभाते' शीर्षक कविता में इस भाव को व्यक्त किया है कि किस प्रकार निशीथ की केलि-कुशला प्रेयसी देह-छवि की सीमाओं को अतिक्रान्त कर प्रातःकाल देवी बन जाती है। जो चम्पकप्रिया रात के एकान्त में मादक स्पर्श प्रदान करती है या साँझ के झुकते ही वेतस-लता-सी लचीली बाँहों मे प्रिय को भरकर काम का मादक संगीत गुनगुना देती है, वही सुशोभना प्रिया प्रातःकाल के आते ही देवी बन जाती है और सूर्य-नमस्कार के समय एक आध्यात्मिक प्रकान्ति से दीपने लगती है—

राते प्रेयसीर रूप धरि
तुमि एसेछो प्राणेश्वरी !
प्राते कखन देवीर वेशे
तुमि समुखे उदिले हेसे।[2]

इस तरह **रवि बाबू** रूप से ही अरूप की प्राप्ति की आशा करते है—'रूप

---

१. प्रसाद ने 'कला' शीर्षक कहानी के अन्तर्गत रूपनाथ और रसदेव नामक दो पात्रों के कथोपकथन में इस धारणा को व्यक्त किया है—

रूपनाथ ने कहा, "उसका रूप कितना सुन्दर है ?"

रसदेव ने कहा, "और उसके हृदय के सौन्दर्य का तो तुम्हें ध्यान ही नही।"

"हृदय का सौन्दर्य ही तो आकृति ग्रहण करता है, तभी मनोहरता रूप में आती है।"

"परन्तु कभी-कभी हृदय की अवस्था आकृति से नहीं खुलती, आँखें धोखा खाती है।"

"मै रूप से हृदय की गहराई नाप लूंगा। रसदेव, तुम जानते हो कि मै रेखा-विज्ञान में कुशल हूँ। मैं चित्र बनाकर उसे जब चाहूँगा, प्रत्यक्ष कर लूंगा।"

आह, रूपनाथ ! तुम्हारी आकांक्षा साधन-सापेक्ष है। भीतर की वस्तु को बाहर लाकर संसार की दूषित वायु से उसे नष्ट होने के लिए ···।"—प्रसाद, आकाशदीप (कहानी-संग्रह), भारती-भण्डार, प्रयाग, षष्ठ संस्करण, पृ० ८२-८३।

२. रवीन्द्रनाथ ठाकुर, चित्रा, संचयिता, विश्वभारती, षष्ठ संस्करण, पृ० २६७-२६८।

सागरे डूब दिया छि अरूप रतन आशा करि।"[1] **निराला** ने भी 'प्रेयसी' और 'रेखा' शीर्षक कविताओं में रूप से अरूप की ओर ऊर्ध्वगमन किया है। इन्हें यह स्वीकार है कि जब किसी रमणी की आँखों में काम का कोमल संकेत तैरने लगता है, तब वह रूपसी बन जाती है। इसीलिए 'प्रेयसी' और 'रेखा' के प्रारम्भिक अंशों में **प्रसाद** की 'प्रलय की छाया' शीर्षक कविता की तरह देह-छवि से युक्त नारी के पेलव यौवन को शब्दों मे बाँधने की चेष्टा की गई है। किन्तु, कवि को यह सदैव स्मरण है कि व्यक्ति-रूप में नर-नारी का सौन्दर्य सीमित सौन्दर्य है, लेकिन उसी के माध्यम मे असीम और दिव्य सौन्दर्य का भी प्रत्यक्ष हो सकता है। अतः हमे **निराला, प्रसाद** और **पन्त** की अधिकांश सौन्दर्यपरक कविताओं में नारी के रूप-सौन्दर्य से ही अरूप सौन्दर्य का इंगित मिलता है। छायावादी कवियों के द्वारा अंकित नारी के इस अरूप सौन्दर्य को हम मनोमय लोक का सौन्दर्य कह सकते हैं। यह मनोमय सौन्दर्य उस भाव-भूमि को स्वीकार करता है, जहाँ पहुँचकर रूप, गन्ध, शब्द, रस और स्पर्श—सभी निर्विकार हो जाते है। फलस्वरूप, इस भाव-भूमि पर नारी का सौन्दर्य भी स्वर्गीय बन जाता है, मानो, वह **शैफ्ट्सबरी, पीयर ऐन्द्रे**[2] इत्यादि जैसे रहस्यवादी सौन्दर्यशास्त्रियों (मिस्टिक एस्थीट) के द्वारा निरूपित आध्यात्मिक सौन्दर्य का पर्याय हो। **निराला** ने 'रेखा' शीर्षक कविता मे नारी के इसी स्वर्गीय सौन्दर्य का बखान किया है, जो सीमा मे असीमता के दर्शन करा देता है—

> मेरी ध्रुवतारा तुम
> प्रसरित दिगन्त से
> अन्त में लाई मुझे
> सीमा में दीखी असीमता।[3]

---

१. इन्होंने 'अरूप रतन' शीर्षक कविता में लिखा है—

> रूप सागरे डूब दियेछि अरूप रतन आशा करि;
> घाटे-घाटे घुरबो ना आर भासिये आमार जीर्ण तरी।
> ... ...
> जे गान काने जाय ना शोना
> से गान जेथाय नित्य बाजे।
> प्राणेर बीना निये जाबो सेई अतलेर सभा माझे।

—रवीन्द्रनाथ ठाकुर, संचयिता, गीतांजलि, विश्वभारती, षष्ठ संस्करण, पृ० ५०३।

२. पीयर ऐन्द्रे ने सौन्दर्य का एक रूप 'स्वर्गिक सौन्दर्य' माना है। द्रष्टव्य—'कला क्या है', लेखक तल्स्तोय, हिन्दी प्रचारक पुस्तकालय, बनारस, १९५५, पृ० ५७।

३. निराला, अनामिका, द्वितीय संस्करण, पृ० ७२।

ऐसा ही भाव पन्त ने 'रूप-सत्य' शीर्षक कविता में व्यक्त किया है, जिसमे रूप से प्राप्त भाव-सत्य के रूप की सीमा में न समा सकने का उल्लेख है—

मुझे रूप ही भाता।
प्राण ! रूप ही मेरे उर में।
मधुर भाव बन जाता।
मुझे रूप ही भाता।
... ...
प्राण ! रूप का सत्य।
रूप के भीतर नही समाता।[1]

इस तरह पन्त के सौन्दर्य-बोध में भी रूप और अरूप के सघर्ष की प्रधानता है, यद्यपि इस आपातदृश्य संघर्ष से ही कवि ने रूप और अरूप के बीच समन्वय स्थापित किया है।[2] अतः पन्त जी जहाँ यह कहते है कि रूप का सत्य रूप के भीतर नहीं समाता अर्थात् रूप का सत्य अरूप हुआ करता है, वहाँ ये अरूप सौन्दर्य को भी रूप के पाश में बाँधना चाहते है।[3] इसे हम सौन्दर्य के प्रति एक प्रकार की विशिष्ट छायावादी धारणा कह सकते हैं। इसीलिए छायावादी कवि, प्रायः, नारी में अरूप सौन्दर्य को और अरूप सौन्दर्य के निदर्शनों में नारी-रूप की मादक झाँकी को देख लिया करते है, जो एक प्रकार से रूप-तत्त्व मे भाव-तत्त्व की और भाव-तत्त्व में रूप-तत्त्व की प्रतिष्ठा है। पन्त ने इसी आधार पर सौन्दर्य के दो प्रकारों—रूप-सौन्दर्य और भाव-सौन्दर्य—का निरूपण किया है।[4] यह भाव-सौन्दर्य, स्वर्गीय सौन्दर्य, अदेह सौन्दर्य या अतीन्द्रिय सौन्दर्य इनकी दृष्टि में वह सौन्दर्य है, जो 'इन्द्रियों की देह से मुक्त होकर एक अभिनव सूक्ष्म शोभा

---

१. पन्त, युगवाणी, भारती-भण्डार, इलाहाबाद, प्रथम संस्करण, पृ० ७६।

२. पन्त ने रूप-जगत् के आकर्षण को, जो एक किशोर प्रवृत्ति है, अपने ऐन्द्रिक चित्रणों का कारण माना है। कवि के अनुसार 'ज्योत्स्ना' तक उसके 'सौन्दर्य-बोध की भावना' ऐन्द्रिकता से संपृक्त रही है। जब तक रूप-जगत् का परिचय भावना से प्राप्त किया जाता है, तब तक सौन्दर्य-बोध में ऐन्द्रिकता बनी रहती है। किन्तु, जब रूप-जगत् का परिचय बुद्धि के द्वारा किया जाता है, तब कवि के सौन्दर्य-बोध से ऐन्द्रिकता का परिहार हो जाता है।

३. 'रूप-रूप बन जायँ भाव स्वर, चित्र गीत झंकार मनोहर।'

४. पन्त, ज्योत्स्ना, भारती-भण्डार, इलाहाबाद, द्वितीय संस्करण, पृ० २८। इन्दु का कथन ज्योत्स्ना के प्रति। "···रानी अपने रूप-सौन्दर्य से तुमने संसार को जिस तरह मुग्ध किया, अपने भाव-सौन्दर्य से भी अब उसी प्रकार मुग्ध करो।"

के मात्राकाश में विचरण'[1] करता है।

इस प्रकार **पन्त** ने भी **रवि बाबू** और **निराला** की तरह नारी-सौन्दर्य के अशरीरी पक्ष को स्वीकार किया है। इन्होंने इस स्वीकृति का कारण-निर्देश करते हुए 'अगुंठिता' शीर्षक कविता मे लिखा है—

देह नही है परिधि प्रणय की,
प्रणय दिव्य है, मुक्ति हृदय की;
यह अनहोनी रीति,
देह वेदी हो प्राणों के परिणय की।[2]

अत: यह कहा जा सकता है कि प्राय: सभी छायावादी कवियों ने नारी में अशरीरी सौन्दर्य के दर्शन किये हैं; मानो, इनके लिए नारी केवल सुन्दरी न रहकर साक्षात् सौन्दर्य ही हो।

प्रसाद ने भी नारी के वाह्य रूप यानी शारीरिक सौन्दर्य के वर्णन में आन्तरिक सौन्दर्य को भर दिया है। इस प्रकार शारीरिक सौन्दर्य के भीतर आन्तरिक सौन्दर्य-चेतना को उद्घाटित करने की प्रवृत्ति के कारण इनकी रचनाओं में हम मांसल सौन्दर्य का अमांसल चित्रण पाते हैं। जैसे, निम्नलिखित पंक्तियों में किसी नवयौवना के क्रीड़ायुक्त मांसल सौन्दर्य का अमांसल चित्रण इस तरह प्रस्तुत किया गया है कि वह रीतिकालीन विषय-वस्तु पर छायावादी काव्य-शिल्प की मीनाकारी जैसा प्रतीत होता है—

तुम कनक किरण के अन्तराल में,
लुक-छिपकर चलते हो क्यों?
नतमस्तक गर्व वहन करते,
यौवन के घन, रस कन दरते;
हे लाज भरे सौन्दर्य!
बता दो, मौन बने रहते हो क्यों?
अधरों के मधुर कगारों में,
कल-कल ध्वनि की गुंजारों में।
मधु सरिता-सी यह हँसी,
तरल अपनी पीते रहते हो क्यों?[3]

इसी तरह **'आंसू'** की इन पंक्तियों में शारीरिक सौन्दर्य का अमांसल चित्रण कितनी मादक भंगिमा के साथ उतर गया है—

---

१. पन्त, ज्योत्स्ना, भारती-भण्डार, इलाहाबाद, द्वितीय संस्करण, पृ० ५२।
२. पन्त, स्वर्णकिरण, भारती-भण्डार, इलाहाबाद, प्रथम संस्करण, पृ० ३८-३९।
३. प्रसाद, चन्द्रगुप्त मौर्य, भारती-भण्डार, प्रयाग, नवाँ संस्करण, पृ० २०६।

उषा की पहली लेखा कान्त,
माधुरी से भींगी भर मोद।
मद भरी जैसे उठे सलज्ज,
भोर की तारक द्युति की गोद।[१]

प्रथमावतीर्ण यौवना मुग्धा श्रद्धा के रूप-वर्णन की अपेक्षा उसके रूप के (आश्रय पर पड़े) प्रभाव को कलात्मक ढग से उरेहने की चेष्टा प्रधान है।

इस प्रकार छायावादी कवियों ने नारी-सौन्दर्य को अंकित कर बाह्य रूप में आन्तरिक सौन्दर्य, सीमा में असीमता और रूप मे अरूप को देखने की चेष्टा की है। **रवि बाबू** की **'गीतांजलि'** की इन पक्तियों के साथ छायावादी कवियों की सौन्दर्य-चेतना का अद्‌भुत साम्य है—

सीमार माझे असीम तुमि, बाजाओ आपन सुर।
आमार मध्ये तोमार प्रकाश, ताइ एतो मधुर।[२]

अत: छायावादी काव्य, विशेषकर, **निराला** की 'प्रेयसी' और 'रेखा' शीर्षक कविताओं मे नारी-सौन्दर्य के प्रति वह निरुद्देश्य व्याकुलता मिलती है, जिसकी अधिकता के कारण **प्रमथनाथ विशी** ने **रवि बाबू** को 'सौन्दर्य की निरुद्देश्य व्याकुलता'[३] का कवि माना है। सचमुच, आन्तरिकता और आध्यात्मिकता की ओर झुकाव रखने के कारण नारी-सौन्दर्य के अंकन में छायावादी कवियों की दृष्टि युधिष्ठिर के रथ की तरह ज़मीन से कुछ ऊपर उठकर चली है, क्योंकि नारी का लोकातिक्रान्त रूप-माधुर्य ही कवि के लिए सम्पूर्ण सृष्टि में व्याप्त रहस्य-मधुर सौन्दर्य बन गया है। इसलिए छायावादी कविता में हम नारी-सौन्दर्य को विश्व-प्रकृति के शृंगार-भाव और सुषमा के मूल आधार के रूप में अंकित पाते हैं, जिसका उत्कृष्ट उदाहरण **पन्त** की 'भावी पत्नी के प्रति'[४] शीर्षक कविता प्रस्तुत करती है। सृष्टि में व्याप्त श्री, चंचलता और सौरभ— ये सभी गुण प्रिय के हैं, नारी के हैं, जो प्रकृति में फैल गये है। **रवीन्द्रनाथ ठाकुर** ने भी इस मुग्ध धारणा को व्यक्त किया है—

गंध तोमार घिरे चारि धार,
उड़िछे आकुल कुन्तल-भार,
निखिल गगन काँपिछे तोमार
परस-रस-तरंगे।

---

१. प्रसाद, कामायनी, भारती भण्डार, प्रयाग, अष्टम संस्करण, पृ० ४७।
२. रवीन्द्रनाथ ठाकुर, गीतांजलि, विश्वभारती ग्रन्थालय, कलकत्ता, पृ० १२०।
३. प्रमथनाथ विशी, रवीन्द्र काव्य-प्रवाह, प्रथम खण्ड, मित्रालय प्रकाशन, श्यामाचरण डे स्ट्रीट, कलकत्ता।
४. पन्त, गुंजन, भारती-भण्डार, प्रयाग, छठा संस्करण, पृ० ४२।

इस तरह छायावादी कविता में इन्द्रिगम्य साकार सौन्दर्य की विषयानुभूति अतीन्द्रिय, निराकार एवं निरुपाधिक रस के रूप में समन्वित हुई है। अर्थात्, छायावादी कवियों के द्वारा अंकित सौन्दर्य 'सगुण' और 'निर्गुण'—दोनों है। साथ ही, इनकी दृष्टि में सगुण सौन्दर्य का सर्वोत्तम प्रतिनिधित्व नारी किया करती है। फलस्वरूप, इनके लिए नारी अरूप का रूप है। **निराला** ने तो स्पष्ट शब्दों में यह स्वीकार किया है कि "कलाविदो ने नारी मे पुरुष और प्रकृति का सौहार्द, दोनों का अपार प्रेम और निरन्तर योग देखा है।" अत: **निराला** के लिए नारी 'माइकेल एंजेलो की भावना-मूर्त्ति' बन गई है, क्योंकि "वह मनुष्य जाति के हृदय की जागृत देवी, शक्ति की अपार महिमा और सौन्दर्य की प्रेयसी प्रतिमा है।"[1] संभवतः इसी कारण छायावाद की 'सूक्ष्मदेही' कविताओं में प्रकृति-प्रीति का लीला-रस अधिकतर नारी-सौन्दर्य के माध्यम से व्यक्त हुआ है। इस धारणा का एक रोचक फल यह हुआ कि छायावादी कवि ससीम मे असीम के प्रतिबिम्ब को **प्लेटो** और **प्लोटाइनस** की तरह देख सके तथा नारी के रूप और सौन्दर्य के अन्तर्गत पारमार्थिक तत्त्व की प्रतिष्ठा कर सके। इसलिए देह-छवि से अदेह-छवि की प्राप्ति छायावादी सौन्दर्य-चेतना की एक महत्त्वपूर्ण विशेषता है, साथ ही, रीतिकाल की तुलना में छायावादी सौन्दर्य-दृष्टि का यह सबसे बड़ा व्यावर्त्तक पार्थक्य है। रीतिकालीन सौन्दर्य-चेतना में अशरीरी भावना का अभाव था। अत: विरह-मिलन के रीतिकालीन चित्रों में शारीरिक ऊष्मा बहुत रहती थी। उनमें उपभोग-प्रधान रसिकता और ऐन्द्रिय-सौन्दर्य के आकर्षण की इतनी अधिक स्वीकृति थी कि वहाँ अपार्थिव अथवा अतीन्द्रिय सौन्दर्य के रहस्य-संकेत का कोई अवकाश नही था। किन्तु, छायावादी कविता में हम शारीरिक सौन्दर्य-भावना का अपार्थिव उन्नयन पाते हैं। इसलिए छायावादी मिलन-चित्रों में तन से तन ही नहीं मिलता, बल्कि छवि से छवि भी मिलती है—

मिली ज्योति-छवि से तुम्हारी
ज्योति-छवि मेरी
नीलिमा ज्यों शून्य से।[2]

मतलब यह कि शारीरिक सौन्दर्य-भावना के अपार्थिव उन्नयन और रूप के साथ अरूप के प्रति गहरी रुचि रखने के कारण छायावादी कवियों ने नारी-सौन्दर्य को उसके व्यापक रूप में देखा, उसका ग्रहण एक 'सांस्कृतिक शोभा-सुषमा' के रूप में किया। **पन्त** ने इस सौन्दर्य-दृष्टि के प्रकर्ष को अपनी कविताओं में

---

१. निराला, प्रबन्ध-पद्म, गंगा पुस्तकमाला, लखनऊ, द्वितीय संस्करण, पृ० १४४।

२. निराला, अनामिका, भारती-भण्डार, प्रयाग, द्वितीय संस्करण, पृ० ४०।

निबद्ध नारी-भावना के अन्तर्गत उपस्थित करने की चेष्टा की है। जहाँ-जहाँ इन्होंने प्रकृति के विराट् रूप में कोई अमोघ आकर्षण पाया है, वहाँ नारी का लावण्य इनकी नजरों के सामने उपस्थित हो गया है। 'स्नेह' अथवा 'भादों की भरन' शीर्षक कविताएँ इस दृष्टि से विशेष महत्त्वपूर्ण हैं। यद्यपि इनके प्रारम्भिक काव्य में नारी के तन की प्रधानता यत्र-तत्र मिलती है, तथापि बाद की रचनाओं में इन्होंने निश्चय ही नारी के सांस्कृतिक मन को महत्त्व दिया है। नारी की मांसल देह में जो निष्पाप-चेतना छिपी रहती है, वही इनकी मन-चीती है।[1] इस तरह आभादेही नारी को विशेष महत्त्व देने के कारण इन्होंने अपनी कविताओं में 'देह-मोह' और 'देह-द्रोह' का प्रश्न उठाया है। इनका कहना है कि जो नारी केवल तन-मन पर ध्यान देती है, जो केवल 'स्वीट पी' या 'कलिफोर्निया पॉपी' बनना चाहती हैं, वह नारी नहीं है। इसलिए सांस्कृतिक सुषमा और मनोमय सौंदर्य की अपेक्षा मन और बाह्य-शृंगार को अधिक महत्त्व देनेवाली आधुनिकाओं से इन्होंने कहा है—

तुम सब कुछ हो, फूल, लहर, तितली, विहगी, मार्जारी,
आधुनिके ! तुम नही अगर कुछ, नहीं सिर्फ तुम नारी।

इतना ही नहीं, इन्होंने सांस्कृतिक सुषमा और आन्तरिक सौन्दर्य से हीन केवल देह-छवि से आभूषित सुन्दरी नारी को कवि-दृष्टि के लिए निषिद्ध माना है। इन्होंने नारी-सौन्दर्य के प्रति इस उन्नमित दृष्टिकोण को व्यक्त करते हुए लिखा है—"कवि-दृष्टि निर्वैयक्तिक होती है, वह स्त्री-सौन्दर्य को उपभोग के गुंठन में सुरक्षित रखने के बदले उसे व्यापक आनन्द के लिए वितरित कर देती है।···भावी की प्रबुद्ध मानवता के सम्मुख स्त्री-देह को 'चाम की तुच्छ थैली' के रूप में चित्रित करना लज्जाजनक प्रतीत होता है। कला देह-सौष्ठव के साथ कामना की अग्नि को भी सौन्दर्य-बोध तथा राग की लय में वेष्टित कर उज्ज्वल बना देती है, उससे उद्दीपन से अधिक आह्लाद और तृप्ति का ही अनुभव होना चाहिए।"[2] इस प्रकार इन्होंने नारी-सौन्दर्य को 'मांस-मुनित' में देखना चाहा है। शायद, **प्रसाद** ने भी नारी का यह अमूर्त्त भावानयन इसी दृष्टि से किया है—

नारी तुम केवल श्रद्धा हो,
विश्वास-रजत नग-पदतल में

---

१ इसलिए इनकी मान्यता है—"स्त्री की शोभा पृथ्वी पर कला की पीठिका है।"
—पन्त, चिदम्बरा, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, १९५९, पृ० २५।

२. पन्त, चिदम्बरा, राजकमल प्रकान, दिल्ली, १९५९, पृ० २५।

पीयूष-स्रोत-सी बहा करो
जीवन के सुन्दर समतल में।[१]

सच पूछिए तो इसी अमूर्त्त दृष्टि और नूतन सास्कृतिक चेतना के कारण छायावादी कवियो ने नारी-सौन्दर्य के कई इत:पूर्व अकाव्यात्मक अंशों को नूतन, शोभन और उन्नत धरातल प्रदान किया है। उदाहरण के लिए, नारी के गर्भिणी रूप का चित्रण जुगुप्सायुक्त होने के कारण काव्य-जगत् में अधिक प्राप्त नहीं होता। किंतु, **प्रसाद** ने निम्नांकित पक्तियों में नारी के उक्त रूप का ऐसा उदात्तीकरण कर दिया है कि वह कलात्मक और सौन्दर्य-मण्डित हो गया है—

केतकी-गर्भ-सा पीला मुख,
आँखों मे आलस भरा स्नेह
कुछ कृशता नई लजीली-सी
कम्पित लतिका-सी लिये देह।[२]

अत: हम कह सकते हैं कि छायावादी कवियों ने नारी-सौंदर्य को मध्यकालीन मूल्यों से ऊपर उठाने की चेष्टा की है, क्योंकि मध्यकाल मे नारी केवल उपभोग्या थी, काम-कारा की बन्दिनी थी। इस प्रकार हमें यह मानना होगा कि छायावादी कवियों ने नारी-सौदर्य के दैहिक सस्कारों का मानसिक और सांस्कृतिक परिमार्जन किया है।

छायावादी कवियों के द्वारा स्थापित सौन्दर्य के इस मानसिक परिमार्जन का श्रेय कुछ अंशों में इनकी उस रहस्यात्मक सौन्दर्य-चेतना को है, जिसके कारण इन्हें मानव-जगत् और विशाल प्रकृति की सभी सुन्दरताओं के मूल में किसी दिव्य और अखण्ड सौन्दर्य की झाँकी मिलती रही। मानों, समग्र सृष्टि में इधर-उधर दिखाई पड़ने वाला सौन्दर्य किसी अलक्ष्य, स्वर्गीय और परम सौन्दर्य का प्रतिबिम्ब हो। छायावादी कवियों के इस दिव्य और परम सौन्दर्य की समता हम **प्लेटो** की उस 'आर्किटाइप ब्यूटी' के साथ स्थापित कर सकते है, जिसकी छाया समूची सृष्टि के खण्ड-सौदर्य में प्रतिभासित होती रहती है। **निराला** ने सृष्टि की लघु-लघु इकाइयों में दीपनेवाले उसी विराट् और दिव्य सौदर्य को सम्बोधित करते हुए लिखा है—

कूँची तुम्हारी फिरी कानन मे,
फूलों के आनन, आनन में।

---

१. प्रसाद, कामायनी, भारती-भंडार, प्रयाग, अष्टम संस्करण, पृ० १०६।
२. वही, पृ० १४२।

फूटे रंग बसन्ती, गुलाबी,
लाल पलास लिये सुख, स्वाबी;
नील, श्वेत शतदल, सर के जल,
चमके है केशर पंचानन में।[१]

अथवा

रूपक के रथ रूप तुम्हारा,
शारद विभावरी, नभ, तारा।
खिली चमेली देह-गन्ध मृदु,
अन्धकार सुचि केश कुटिल ऋजु।[२]

महादेवी ने भी प्रकृति के कण-कण में व्याप्त उस अलक्ष्य सौन्दर्य की उत्कंठ अनुभूति को व्यक्त करते हुए लिखा है—'जाने किसकी स्मिति रूम-झूम, जाती कलियों को चूम-चूम।'[३] और, **प्रसाद** ने तो इस रहस्यात्मक सौन्दर्य-दृष्टि को परवान पर पहुँचा दिया है। इन्होंने 'सौन्दर्य' शीर्षक कविता में सर्वव्यापी दिव्य सौन्दर्य के प्रति अपनी आस्तिक धारणा को प्रकट करते हुए कहा है—

मानवी या प्राकृतिक सुषमा सभी
दिव्य शिल्पी के कला-कौशल सभी।[४]

उस दिव्य सौन्दर्य में अडिग आस्था रखने के कारण ही इन्होंने क्षणभंगुर सौन्दर्य पर रीझने वालों को इस प्रकार उपदेश दिया है—

क्षणभंगुर सौन्दर्य देखकर रीझो मत, देखो! देखो!
उस सुन्दरतम की सुन्दरता विश्वमात्र में छाई है
... ...
स्निग्ध, शान्त, गम्भीर, महासौन्दर्य सुधा सागर के कण,
ये सब बिखरे हैं जग में—विश्वात्मा ही सुन्दरतम है।[५]

इनकी 'प्रार्थना' शीर्षक कविता[६] में भी सौन्दर्य के प्रति इसी रहस्यपरक और आस्तिक दृष्टि को व्यक्त किया गया है। इस दृष्टिकोण को इन्होंने अपनी प्रारम्भिक रचनाओं से लेकर **'कामायनी'** जैसी प्रौढ़ रचना तक में एकदम अक्षुण्ण

---

१. निराला, गीतगुंज, हिन्दी प्रचारक पुस्तकालय, वाराणसी, प्रथम संस्करण, पृ० ४२।
२. वही, पृ० ५२।
३. महादेवी, नीरजा, भारती-भण्डार, प्रयाग, प्रथम संस्करण, पृष्ठ ५४।
४. प्रसाद, कानन-कुसुम, हिन्दी पुस्तक-भण्डार, लहेरियासराय, तृतीय संस्करण, पृ० ३६।
५. प्रसाद, प्रेमपथिक, भारती-भण्डार, इलाहाबाद, संवत् २०१६, पृ० ३०-३१।
६. प्रसाद, झरना, सातवाँ संस्करण, भारती-भंडार, इलाहाबाद, पृ० ६७-६८।

रखा है। सौन्दर्य के प्रति जिस दृष्टिकोण को इन्होंने 'आँसू' की इन पंक्तियों में—

छायानट छवि परदे में
सम्मोहन वेणु बजाता
सन्ध्या कुहुकिनि अंचल में
कौतुक अपना कर जाता।[1]

व्यक्त किया है, वही दृष्टिकोण 'काम सर्ग' की निम्नांकित पक्तियों में भी शब्द-भेद से अभिव्यक्त हुआ है—

सौन्दर्यमयी चंचल कृतियाँ
बनकर रहस्य हैं नाच रही,
मेरी आँखों को रोक वहीं
आगे बढ़ने में जाँच रही।
मैं देख रहा हूँ जो कुछ भी
वह सब क्या छाया उलझन है ?
सुन्दरता के इस परदे में
क्या अन्य धरा कोई धन है ?[2]

निश्चय ही, इसी अडिग आस्तिकता और रहस्यात्मकता के कारण **प्रसाद** ने सौन्दर्य को चेतना के उज्ज्वल वरदान के रूप में स्वीकार किया है।[3] **पन्त** के साहित्य में भी हम इसी रहस्यप्रिय और आस्तिक सौन्दर्य-चेतना की अभिव्यक्ति जिज्ञासा, विस्मय तथा कौतूहल के रूप में पाते है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि छायावादी कविता में प्रस्तुत सौन्दर्य के मानसिक परिमार्जन का श्रेय कुछ अशों में इन कवियों की आस्तिक और रहस्यात्मक सौन्दर्य-चेतना को है।

यहाँ यह ध्यातव्य है कि छायावादी कवियों में सौन्दर्य के प्रति जो आस्तिक दृष्टि मिलती है, वह बहुत दूर तक रवि बाबू की सौन्दर्य-सम्बन्धी आस्तिक धारणाओं से मिलती-जुलती है। आस्तिक दृष्टि के कारण ही **रवि बाबू** का कहना है कि जो सत्य है, वह सुन्दर है और जो असत्य है, वही कुरूप है। इसी

---

१. प्रसाद, आँसू, भारती-भंडार, इलाहाबाद, नवम् संस्करण, पृ० ३३।

२. प्रसाद, कामायनी, भारती-भंडार, प्रयाग, अष्टम संस्करण, पृ० ६६।

३. उज्ज्वल वरदान चेतना का
सौन्दर्य जिसे सब कहते हैं,
जिसमें अनन्त अभिलाषा के
सपने सब जगते रहते हैं।
—प्रसाद, कामायनी, भारती-भंडार, प्रयाग, अष्टम संस्करण, पृष्ठ १०२।

धारणा के बल पर इन्होंने यह मान्यता प्रतिपादित की है कि हम लोग जहाँ सत्यबोध के द्वारा सृष्टि के नियमों का अनुभव प्राप्त करते है, वहाँ सौन्दर्य-बोध के द्वारा सम्पूर्ण सृष्टि में व्याप्त सामंजस्य अथवा संगीत (हार्मनी) की अनुभूति करते है।[१] अत: सौन्दर्य एक सर्वव्यापक विभु है, जो द्रष्टा की सौन्दर्य-चेतना के पर्याप्त विकसित हो जाने के बाद सृष्टि की प्रत्येक वस्तु के माध्यम से हमे आनन्द प्रदान कर सकता है। यही आस्तिक और आध्यात्मिक दृष्टि छायावादी कवियों की सौन्दर्य-चेतना में भी बहुलांशत: विद्यमान है। **महादेवी** ने तो स्पष्ट लिखा है कि 'प्रत्येक सौन्दर्य-खण्ड अखण्ड सौन्दर्य से जुड़ा है।'[२] इतना ही नहीं, इन्होंने सौन्दर्य के प्रति इस आस्तिक या आध्यात्मिक दृष्टिकोण को छायावादी कविता की प्रमुख विशेषता के रूप में स्वीकार किया है—"इस युग की प्राय: सब प्रतिनिधि रचनाओं में किसी-न-किसी अंश तक प्रकृति के सूक्ष्म सौन्दर्य में व्यक्त किसी परोक्ष सत्ता का आभास भी रहता है और प्रकृति के व्यष्टिगत सौन्दर्य पर चेतनता का आरोप भी।"[3] इस तरह प्रकट है कि छायावाद ने नये छन्द-बन्धों के माध्यम से सूक्ष्म सौन्दर्यानुभूति को एक आध्यात्मिक परिवेश मे रसनीय बनाकर उपस्थित किया है।

इस आस्तिक, आध्यात्मिक या सूक्ष्म दृष्टि के कारण सौन्दर्य-चेतना के विकास में एक ऐसी स्थिति आती है, जिसमें लघु और विराट्, तुच्छ और महत्—सबमें सौन्दर्य का अभिज्ञान सहज हो जाता है। तब तिल से ताड़ और राई से पहाड़ तक—सब में सौन्दर्य का आवास मिलता है। विकास की यह दशा द्रष्टा की मानसिक सूक्ष्मता पर निर्भर करती है। इस विकसित दशा के सौन्दर्यास्वादन को हम सौन्दर्य-चेतना का मुक्ति-प्रसार कह सकते हैं। सौन्दर्य-चेतना का यह मुक्ति-प्रसार कभी-कभी युग-धर्म बन जाता है।[४] इस दृष्टि से

१. Rabindranath Tagore, Sadhana, Macmillan & Co. London, p. 141.

२. महादेवी, दीपशिखा, भारती-भंडार, प्रयाग, चतुर्थ संस्करण, 'चिन्तन के कुछ क्षण', पृ० २८।

३. महादेवी, आधुनिक कवि, हिन्दी साहित्य-सम्मेलन, प्रयाग, चतुर्थ संस्करण, 'अपने दृष्टिकोण से', पृ० १०।

४. इसे ही रवि बाबू ने 'an age of emancipation in the history of aesthetics' कहा है—"In the history of aesthetics there also comes an age of emancipation when the recognition of beauty in things great and small becomes easy, and when we see it more in the unassuming harmony of common objects than in things startling in their singularity."—Rabindranath Tagore, Sadhana, 1961, p. 139.

हम छायावादी कविता को भी सौन्दर्य-चेतना के 'मुक्ति-प्रसार-युग' की कविता कह सकते हैं, क्योंकि इसमें 'अप्सरा' और 'भिखारी', 'तम्बाकू का धुआँ' और 'सध्या-सुन्दरी', 'हिमाद्रि' और 'चीटी'—सब पर कवि की नजर गई है। पन्त की इन पक्तियों में सौन्दर्य-चेतना के उपर्युक्त 'इमैन्सिपेशन' का एक उत्कृष्ट उदाहरण मिलता है—

इस धरती के रोम-रोम में भरी सहज सुन्दरता,
इसकी रज को छू प्रकाश बन मधुर विनम्र निखरता।
पीले पत्ते, टूटी टहनी, छिलके, कंकर, पत्थर,
कूड़ा-करकट सब कुछ भू पर लगता सार्थक, सुन्दर।[1]

कवि को मानव-जगत् और प्रकृति-जगत् की महान् एव तुच्छ सभी वस्तुएं सुन्दर मालूम पडती है। तभी तो उसे रूप, रंग और रेखा का यह समूचा संसार अत्यन्त आकर्षक मालूम पडता है—

राशि-राशि सौन्दर्य, प्रेम, आनन्द, गुणों का द्वार।
मुझे लुभाता रूप, रग, रेखा का यह संसार।[2]

अधिकतर, छायावादी कविता में सौन्दर्य की अभिव्यक्ति इन तीन रूपों में हुई है—मानव-सौन्दर्य, मानवेतर सौन्दर्य और कलात्मक सौन्दर्य। इन तीन रूपों के बीच कलात्मक सौन्दर्य कला-जगत् में अधिक पूजित है और सौन्दर्य-शास्त्रीय तथा काव्यशास्त्रीय विवेचनों में सर्वाधिक चर्चित है। कारण, कलात्मक सौन्दर्य का सम्बन्ध मनुष्य के मनोमय लोक अथवा अन्तर्जगत् से है, यद्यपि यह कलात्मक सौन्दर्य भी तभी उत्पन्न होता है, जब अन्तःकरण मानव-जगत् अथवा मानवेतर जगत् की छाया-छवियो को ग्रहण कर उन्हें अपने अनुरूप इस प्रकार परिवर्तित कर लेता है कि एक उच्चतर आनन्द की सृष्टि हो सके। इसलिए काव्य के बिम्ब-विधान या उपमान-योजना पर मानव-जगत् अथवा मानवेतर जगत् के रूप-व्यापारों का गहरा प्रभाव रहता है। अर्थात्, मानव-सौन्दर्य या मानवेतर सौन्दर्य को जब कल्पना का रमणीय आवरण प्राप्त हो जाता है, तब वह कलात्मक सौन्दर्य का रूप धारण कर लेता है। किन्तु, अन्तर्मुखी वृत्तियों की प्रधानता के कारण छायावादी सौन्दर्य-विधान में एक बहुत बड़ा अंश कल्पित सौन्दर्य का है। कल्पित सौन्दर्य का अवतरण वहाँ होता है, जहाँ कवि कल्पना-शक्ति से अपने भाव के आलम्बन अथवा उद्दीपन के गुणों का अंकन सृष्टि की श्री और विभूतियों को इस प्रकार चुन-चुनकर करता है कि वस्तु-जगत् में उनका एकत्र मिलना संभव नही हो। ऐसी ही सौन्दर्य-सृष्टि को, जिसकी पृष्ठ-

---

१. पन्त, युगवाणी, भारती-भंडार, इलाहाबाद, प्रथम संस्करण, पृ० २९।
२. वही, पृ० ७३।

भूमि में कल्पना का अतिरेक रहता है, साहित्य-विवेचन में 'रोमाण्टिक' कहा जाता है। **पन्त** की 'अप्सरा' और **प्रसाद** की 'लज्जा' को हम कल्पित सौन्दर्य का उल्लेखनीय उदाहरण मान सकते हैं।

तदनन्तर, छायावादी सौन्दर्य-विधान में 'उदात्त' को भी यथोचित स्थान मिला है। उदात्त के लिए निराला ने 'विराट्' शब्द का प्रयोग किया है। इनका कहना है कि "काव्य में साहित्य के हृदय को दिगन्त-व्याप्त करने के लिए विराट् रूपों की प्रतिष्ठा करना अत्यन्त आवश्यक है। अवश्य छोटे रूपों के प्रति यहाँ कोई द्वेष नहीं दिखलाया जा रहा। रूप की सार्थक लघु-विराट कल्पनाएँ संसार के सुन्दरतम रगों से जिस तरह अंकित हों, उसी तरह रूप तथा भावनाओं का अरूप में सार्थक अवसान भी आवश्यक है। कला की यही परिणति है और काव्य का सबसे अच्छा निष्कर्ष।"[1] इसी तरह अन्य छायावादी कवियों ने भी अपने गद्य-लेखों और कविताओ मे उदात्त को यथोचित स्थान दिया है, जिसका विस्तृत विवेचन छायावादी कविता के कल्पना-विधान और बिम्ब-विधान से संबद्ध अध्यायों के अन्तर्गत किया जायगा। अतः पुनरुक्ति-दोष से बचने के लिए यहाँ उदात्त की चर्चा समाप्त की जाती है।

कहा जाता है कि सौन्दर्य की भोग-प्रक्रिया जहदजहत्स्वरूपा है। जहदजहत् का अर्थ है निर्वाचन—कुछ को छोड़ना, कुछ को लेना। छायावादी सौन्दर्य-विधान इस प्रक्रिया का अन्यतम निदर्शन है। नियाग्रा अथवा काबेरी के जल-प्रपात के कठोर सौन्दर्य से, जिसमें भैरव भास्वर है, छायावादी कवि प्रभावित नहीं हो सके। इनकी रुचि उस ओर नहीं रही। इनकी वृत्ति उस शान्त गंगा के सौन्दर्य में रमी, जिसमें इनके जल-विहार की नौका पालों के पंख खोलकर 'मृदु मंद-मंद मंथर मंथर' तिर सकी। फलस्वरूप, 'कठोर' और 'कुरूप' को छायावादी सौन्दर्य-विधान में नगण्य स्थान मिला है। **निराला** ने स्पष्ट लिखा है कि 'जब दृष्टि सुन्दर से लिपटती है, तब कुरूप से हट जाती है—उसे अवज्ञा का धक्का मारती हुई।'[2] इस तरह प्रायः सभी छायावादी कवियों की दृष्टि में सौंदर्य के साथ कुरूपता का निरन्तर वैपरीत्य है और 'कुरूप' 'सुन्दर' का सनातन प्रतीप है।

अतः सौन्दर्य के केवल कोमल पक्ष की स्वीकृति रहने के कारण छायावादी कवियों की सौंदर्य-चेतना में उस जीवंतता का अभाव है, जो संघर्षशील कर्म-सौंदर्य और लोकमंगल की स्थापना के लिये आवश्यक है। इसी जीवंतता के

---

१. निराला, प्रबन्ध-पद्म, गंगा पुस्तकमाला, लखनऊ, संवत् २०११ विक्रम, पृ० १५४-१५५।

२. निराला, देवी, श्री राष्ट्रभाषा विद्यालय, काशी, १९४८, पृ० १२८।

अभाव के कारण प्रारम्भ में छायावादी कवि सौन्दर्य-विधान के क्षेत्र में स्थूल और सूक्ष्म की दो जातियों के बीच सामंजस्य का सेतु स्थापित नहीं कर सके। रीतिकालीन मांसल सौदर्य-दृष्टि के प्रति तीव्र प्रतिक्रिया के कारण इन्होंने 'सूक्ष्म' को स्वीकार किया, किन्तु, यथार्थोन्मुख दृष्टि के अभाव में ये अपनी धारणा मे दृढ़ नही हो सके। फलस्वरूप, इनकी सौन्दर्य-चेतना कुछ स्थलों पर सूक्ष्म और कुछ स्थलों पर मांसल हो गई है। ऐसे अनेक स्थल हैं (पूर्ववर्त्ती पृष्ठों में इनका प्रसंगानुसार उल्लेख किया जा चुका है), जहाँ मांमलता की दृष्टि से छायावादी कवि रीतिकाल से टक्कर ले सकते है।

स्पष्ट है कि सौंदर्य के प्रति अध्यासमय दृष्टिकोण रखने से दोलाचल वृत्ति के कारण छायावादी कवि न तो 'सूक्ष्म' को स्वायत्त कर सके और न 'स्थूल' पर ही जम सके, जबकि स्वस्थ सौंदर्य-चेतना के लिए सन्तुलित यथार्थोन्मुख दृष्टि की प्राथमिक आवश्यकता है। इन्होने यथार्थोन्मुख दृष्टि के रिक्त स्थल की पूर्ति कल्पना के द्वारा की, जिसमें एक प्रकार का केन्द्रापगमन था। इसलिए इनका सौन्दर्यांकन कुछ दूर तक अध्यासमय रहा।

तदनन्तर, छायावादी कवियों ने काव्य-निबद्ध वस्तु के सौन्दर्य को अंकित करने के साथ ही उसकी अभिव्यक्ति के माध्यम (जैसे—शब्द-योजना, अप्रस्तुत-विधान, काव्य-संगीत इत्यादि) का अभिविन्यसन और परिमार्जन किया है। सचमुच, सौदर्य की अभिव्यक्ति के लिए माध्यम का सौंदर्य अपेक्षित है। इसलिए सौंदर्य-चेतना के विश्लेषण में माध्यम का सौन्दर्य भी अर्थप्रतिपत्ति के क्षेत्र में अन्तर्भुक्त है। इस दृष्टि से छायावादी कवियों ने माध्यम के सौंदर्य अर्थात् अभिव्यंजना के सौंदर्य को उपस्थित करने में अद्भुत सफलता पाई है। इन्होंने लक्षणा और व्यंजना के सहारे अर्थ की मार्मिक छवियों के साथ ही शब्दशोधन की एक नयी कला (मणिकुट्टिम शैली) के द्वारा यह सिद्ध कर दिखाया कि वास्तव में काव्य शब्दों और भावों का मलित संगीत है। विशेषकर **निराला** ने मुक्त छन्द के परिसर में वर्ण-मैत्री और शब्द-सगीत की सहायता से जिस नाद-सौन्दर्य की सृष्टि की, वह छायावाद के कला-पक्षगत सौन्दर्य की एक महत्त्वपूर्ण उपलब्धि है। जैसे—

मौन रही हार !
प्रिय पथ पर चलती, सब कहते शृंगार !
कण-कण कर कंकण, प्रिय
किण-किण रव किङ्किणी,
रणन-रणन नूपुर, उर लाज,
लौट रंकिणी;

और मुखर पायल स्वर करें बार-बार,
प्रिय-पथ पर चलती, सब कहते शृंगार ।[1]

इन पंक्तियों में नादप्रधान शब्द-संगीत और व्यंजनाश्रित भाव-संगीत की जो युगपद् सिद्धि प्रस्तुत की गई है, वह उपर्युक्त धारणा को प्रमाणित करने के लिए अलम् है । इस प्रकार छायावादी सौन्दर्य-विधान मे अभिव्यंजना के माध्यम का सौन्दर्य भी उल्लेखनीय महत्त्व रखता है ।

इस प्रसग में प्रमुख छायावादी कवियों की सौन्दर्य-चेतना पर सक्षेप में पृथक्-पृथक् विचार कर लेना आवश्यक प्रतीत होता है । **प्रसाद** ने सौन्दर्य को मनोमय लोक में देखा है । फलस्वरूप, इनकी प्रौढ़ कृतियों की सौदर्य-सृष्टि में सतही मांसलता का उन्नयन मिलता है । दूसरी बात यह है कि दर्शन के अध्ययन-मनन के द्वारा अपनी संवेदनशील चित्तवृत्तियों को उन्नीत बना देने से इनके सौन्दर्य-विधान में सूक्ष्मोदात्त के अनेक निदर्शन मिलते हैं । इनके काव्य के अवलोकन से यह प्रतीत होता है कि कवि की अनुभूतियों का उत्कृष्टतम अश जब सौन्दर्य का विधायक बनता है, तब वह असामान्य अतिशयता से वलियत होकर 'उदात्त' का रूप धारण कर लेता है । ऐसी ही स्थिति में पहुँचकर सौन्दर्य 'हिरण्मय पात्र से ढँके सत्य' की तरह रहस्यमय बनकर नाचने लगता है । किन्तु, इनकी सौन्दर्य-चेतना भी उस छायावादी दृष्टि-भ्रम से नहीं बच सकी, जिसने उसे स्थूल और सूक्ष्म के बीच किसी एक को पूर्णत: स्वायत्त करने में असमर्थ बना दिया । यही कारण है कि इनकी वह सौन्दर्य-मूर्त्ति नारी, जो 'रति की प्रतिकृति' लज्जा से शालीनता सीखकर 'मन की मरोर' मात्र बनती थी, मौका पाते ही 'भुज-लता फँसाकर नर-तरु से झूले-सी झोंके' खाने में नहीं हिचकती ।

तदनन्तर, **निराला** ने सौन्दर्य-चेतना की दृष्टि से अन्य छायावादी कवियों की अपेक्षा भाव-जगत् और वस्तु-जगत् के बीच वांछनीय सन्तुलन का अधिक निर्वाह किया है । अत: इनके लिए सौन्दर्य केवल कल्पना का विलास अथवा 'अवाङ् मानसगोचरम्' की अकथ अनुभूति को व्यक्त करने का साधन नहीं है, बल्कि वह मनुष्य के वास्तविक जीवन में छिपी हुई भीषण कठोरताओं का उट्टंकण अथवा उत्खनन करने वाला उपादान है । 'सरोज-स्मृति' शीर्षक शोक-गीति में इन्होंने असमय काल-कवलित युवती पुत्री के प्रति अपनी मर्मान्तक वेदना को व्यक्त करने में सौन्दर्य का इस रूप में पर्याप्त उपयोग किया है—

देखती मुझे तू, हँसी मन्द
होठों में बिजली फँसी स्पन्द

---

१. निराला, गीतिका, भारती-भंडार, इलाहाबाद, चतुर्थ संस्करण, पृ० ८ ।

उर मे भर झूली छवि सुन्दर,
प्रिय की अशब्द शृंगार-मुखर ।
तू खुली एक उच्छ्वास-सग,
विश्वास-स्तब्ध बँध अङ्ग-अङ्ग
नत नयनों से आलोक उतर,
काँपा अधरों पर थर-थर-थर ।[१]

इस तरह इनकी सौदर्य-चेतना के मूल में तथ्यग्राही बुद्धि-तत्त्व और आंशिक वस्तु-निष्ठता विद्यमान है ।

पन्त की सौन्दर्य-चेतना ने विकास की एक लम्बी डगर तय की है । इनकी प्रारम्भिक कविताओं में किशोर प्रवृत्ति के कारण मांसल सौन्दर्य की चाक्षुष अंगिता मिलती है । इन्होंने निजी सौन्दर्य-बोध की विकास-प्रक्रिया को संकेनित करते हुए लिखा है कि "जब तक रूप का विश्व मेरे हृदय को आकर्षित करता रहा, जो कि एक किशोर प्रवृत्ति है, मेरी रचनाओं में ऐन्द्रिक चित्रणों की कमी नहीं रही । प्राकृतिक अनुराग की भावना क्रमशः सौन्दर्य-प्रधान से भाव-प्रधान और भाव-प्रधान से ज्ञान-प्रधान"[२] होती गई । इनकी गुजनोत्तर कविताओं मे सौन्दर्य की मासल निबिड़ता घटती गई तथा सोपान-आरोहण के सदृश इनकी ऊर्ध्वमुखी 'सौन्दर्य-कल्पना क्रमशः आत्म-कल्याण और विश्व-कल्याण की भावना को अभिव्यक्त करने के लिए' मांगलिक उपादान बन गई । इन्होने स्वयं ही लिखा है, "ज्योत्स्ना तक मेरे सौन्दर्य-बोध की भावना मेरे ऐन्द्रिक हृदय को प्रभावित करती रही है, मैं अब तक भावना ही से जगत् का परिचय प्राप्त करता रहा, उसके बाद मैं बुद्धि से भी संसार को समझने की चेष्टा करने लगा हूँ ।"[3] किन्तु, इनकी सौन्दर्य-चेतना के विकास ने इस स्तर पर पहुँचकर अन्तिम रूप नहीं ग्रहण किया है, क्योंकि इनकी सौन्दर्य-चेतना का प्रकर्ष **'स्वर्णकिरण'** और उसके परवर्त्ती संग्रहों की उन रचनाओं में मिलता है, जिन्हें इन्होंने 'नवीन सगुण' से उत्थित 'चेतना-काव्य' कहा है । यहाँ पहुँचकर इनकी सौन्दर्य-चेतना सूक्ष्मता, आध्यात्मिकता और 'अधिदर्शन' (मेटाफ़िज़िक्स) की सगम-भूमि पर पूर्णतः अधिष्ठित हो गई है ।

तदुपरान्त, **महादेवी** के काव्य में स्थूल सौन्दर्य के प्रति विकर्षण का भाव सबसे अधिक है । इसके दो कारण है । एक यह कि इनकी अनुभूति आत्मनिष्ठ और प्रवृत्ति अन्तर्मुख है । साथ ही, नारी होने के कारण आलम्बन के प्रति

---

१. निराला, अनामिका, भारती-भंडार, इलाहाबाद, द्वितीय संस्करण, पृ० १३२ ।

२ पन्त, आधुनिक कवि, भाग २, छठा संरकरण, पृ० १३ ।

३. वही, पृ० १५ ।

इनके सौन्दर्यानुप्राणित संवेगों का मर्यादित होना सर्वथा स्वाभाविक है। दूसरा कारण यह है कि इनके काव्य का सम्पूर्ण वातावरण विरह से आच्छन्न है। विरह-काव्य, विशेषकर जिसकी आभ्यन्तर चेतना का धरातल कुछ उन्नीत और सूक्ष्म रहता है, संस्मरणात्मक तथा सुधि-विह्वल हुआ करता है। साथ ही, आलम्बन के मनसा प्रत्यक्ष और चक्षुषा अप्रत्यक्ष रहने के कारण आश्रय की अधिकांश स्थूल दुर्बलताएं उज्झित होकर अस्तमित हो जाती है। फलस्वरूप, ऐसी अवस्था में आश्रय या कवि के मनोलोक में सूक्ष्म और सौम्य भावों का ही उदय अधिकतर हुआ करता है। इसलिए **महादेवी** की सौन्दर्यानुभूति सर्वाधिक सूक्ष्म है। छायावाद के सम्बन्ध में इनका दावा है कि "......स्थूल सौन्दर्य की निर्जीव आवृत्तियों से थके हुए और कविता की परम्परागत नियम-श्रृंखला से ऊबे हुए व्यक्तियों को फिर उन्हीं रेखाओं में बंधे स्थूल का न तो यथार्थ चित्रण रुचिकर हुआ और न उसकी रूढ़िगत आदर्श भाया। उन्हें नवीन रूप-रेखाओं में सूक्ष्म सौन्दर्यानुभूति की आवश्यकता थी, जो छायावाद में पूर्ण हुई।"[1] इस तरह, **महादेवी** के अनुसार, हिन्दी साहित्य मे सौन्दर्य-चेतना के विकास की दृष्टि से छायावाद ने एक ऐतिहासिक कार्य सम्पन्न किया। जिस प्रकार कला-पक्ष की दृष्टि से हिन्दी कविता द्विवेदी-युग की इतिवृत्तात्मकता से दबी हुई थी, उसी प्रकार वह दीर्घकाल से स्थूल सौन्दर्य के भार से आक्रान्त थी। "कितने दीर्घकाल से वासनोन्मुख स्थूल सौन्दर्य का हमारे ऊपर कैसा अधिकार रहा है, यह कहना व्यर्थ है। युगों से कवि को शरीर के अतिरिक्त और कहीं सौन्दर्य का लेश भी नहीं मिलता था, वह उसी के लिए अस्तित्व रखता था।"[2] इसी वासनोन्मुख स्थूल सौन्दर्य के विरुद्ध छायावाद ने विद्रोह किया। किन्तु, छायावाद के साथ दुर्भाग्य यह रहा कि वह अपने प्रस्तावित या अभीप्सित 'सूक्ष्म' पर निर्भर नहीं रह सका। पूर्ववर्त्ती पृष्ठों में इसका यथाप्रसंग विवेचन किया जा चुका है कि स्थूल और सूक्ष्म के बीच एक अध्यासमय दृष्टि रखने के कारण किस प्रकार छायावाद के समर्थ कवियों का ध्यान स्थूल शारीरिक सौन्दर्य तक चला गया। **महादेवी** ने भी छायावादी सौन्दर्य-द्रष्टाओं के इस स्खलन को स्वीकार किया है।[3] किन्तु, इन सभी स्खलनों के बीच पंक से निकले पंकज की तरह निर्लिप्त रहकर **महादेवी** ने अपने सौन्दर्य-विधान में वासनोन्मुख स्थूल सौन्दर्य के प्रति विकर्षण और वांछित सूक्ष्मता का आद्यन्त निर्वाह किया है।

---

१. महादेवी वर्मा, आधुनिक कवि, भाग १, पृ० १०।

२. वही, पृ० १४।

३. वही, पृ० १४।

कुल मिलाकर छायावाद-युग 'सौन्दर्य-चेतना की उन्मुक्ति का प्रसार-काल'[1] है। इस काल में कवि की सौन्दर्य-भावना का उन्मुक्त सचरण विराट् से लेकर क्षुद्र तक समान रूप से हुआ है, क्योंकि सर्वात्मवादी दृष्टि की प्रधानता के कारण छायावादी कवि को सम्पूर्ण सृष्टि के कण-कण में परम चेतना का भास्वर प्रकाश देखने को मिला है। अत: छायावादी काव्य में सौन्दर्य को एक विभु सत्ता के रूप मे स्वीकार किया गया है।

किन्तु, प्रगतिशील विचारकों की दृष्टि में छायावादी सौन्दर्य-चेतना जीवन्त नही है, क्योंकि छायावादी कवि न तो रीतिकालीन कवियों की तरह मांसल अथवा स्थूल सौन्दर्य का दृढ़तापूर्वक अंकन कर सके है और न रहस्यवादियों की तरह एक उच्चतर धरातल पर 'परम सुन्दर'[2] को ही स्थापित कर सके है। रीतिकाल की वासनोन्मुख मांसल सौन्दर्य-दृष्टि के प्रति तीव्र प्रतिक्रिया के कारण छायावादी कवि 'सूक्ष्म' सौन्दर्यानुभूति की ओर झुके, किन्तु, यथार्थोन्मुख दृष्टि के अभाव में ये अपनी धारणा पर दृढ़ नही रह सके। फलस्वरूप, इनकी सौन्दर्य-चेतना कुछ स्थलो पर सूक्ष्म और कुछ स्थलों पर मांसल हो गई है, जिस दोलाचल स्थिति का आंशिक परिहार इन्होने अपनी प्रौढ़तर कृतियों में किया है।

---

1. Age of aesthetic emancipation.
2. Absolute Beauty.

तृतीय अध्याय

छायावादी कविता में कल्पना-तत्त्व

छायावादी कविता में कल्पना-तत्त्व

कल्पना कलाकार की वह सृजन-शक्ति है, जिसके द्वारा कलाकृतियों में अभिनव रूप-व्यापारों और नूतन सम्बन्ध-सूत्रों का मानसिक विधान किया जाता है। छायावादी कविता इस कल्पना तत्त्व की दृष्टि से बहुत ही समृद्ध है। कविताओं में प्रयुक्त कल्पना-विधान के विविध प्रकारों के अलावा छायावादी कवियों ने अपने ढग से कल्पना-तत्त्व का सैद्धान्तिक विवेचन भी किया है, जो उनके काव्य-संग्रहों की भूमिकाओं और गद्य-लेखों में यत्र-तत्र बिखरा पड़ा है। छायावादी कवियों के इन बिखरे हुए कल्पना-संबंधी विचारों के समवेत अवलोकन से हमारे समक्ष कल्पना-तत्त्व का कुछ वैसा ही सौन्दर्यशास्त्रीय स्वरूप खड़ा हो जाता है, जिसका सैद्धान्तिक विश्लेषण 'सौन्दर्यशास्त्र के तत्त्व' में 'कल्पना' शीर्षक अध्याय के अन्तर्गत किया जा चुका है। स्पष्ट है कि इस बात से कल्पना-तत्त्व के प्रति छायावादी कवियों की सौन्दर्यशास्त्रीय जागरूकता प्रतिपादित होती है। अतः यहाँ हम प्रथम खण्ड के अन्तर्गत निर्धारित कल्पना-सम्बन्धी सिद्धान्तों का व्यावहारिक समीक्षण छायावादी कविता के विशेष संदर्भ में इस प्रकार प्रस्तुत करेंगे—

(क) प्रमुख-छायावादी कवियों के द्वारा कल्पना के सम्बन्ध में व्यक्त विचार और इन विचारों की विशिष्ट रोमाण्टिक कवियों की कल्पना-सम्बन्धी मान्यताओं के साथ यथाप्रसंग तुलना।

(ख) उक्त अध्ययन के आधार पर कल्पना के प्रति छायावादी दृष्टिकोण के वैशिष्ट्य का निरूपण और पाश्चात्य सौदर्यशास्त्र, विशेषकर अंग्रेज़ी साहित्य में निरूपित रोमाण्टिक कल्पना के साथ उसके साम्य-वैषम्य का निर्देश।

(ग) छायावादी कविता में प्रयुक्त कल्पना-विधान के विविध प्रकारों का विवेचन।

(घ) निष्कर्ष।

छायावादी कवियों के बीच **प्रसाद** ने काव्य में कल्पना के शीर्षस्थानीय महत्त्व को बहुत स्पष्टता के साथ स्वीकार किया है। गीति-काव्य अथवा उत्पाद्य कविताओं में ही नहीं, **'कामायनी'** ऐसे कथोत्थ काव्य की रचना में भी इन्होंने

कल्पना का उपयोग प्रधान उपादान की तरह किया है।[1] जिन कई बातों से यह तथ्य प्रतिपादित होता है कि कल्पना छायावादी काव्य का मेरुदंड है, उनमें एक यह भी है कि छायावादी चतुष्टय में वय की दृष्टि से सबसे बड़े कवि **प्रसाद** ने अपनी किशोरावस्था मे ही कल्पना-सुख (ऑन प्लेजर्स आव इमैजिनेशन पर)! सोचना आरम्भ कर दिया था और यह अनुभव किया था कि कल्पना की शक्ति से ही कविगण काव्य-जगत् में अद्‌भुत क्रीड़ा किया करते है।[2] इन्होंने 'कल्पना-सुख' शीर्षक कविता मे लिखा है—

हे कल्पना—सुखदान। तुम मनुज जीवन प्राण।
तुम विसद व्योम समान। तब अन्त नर नहिं जान॥
प्रत्यक्ष, भावी, भूत। यह रँगे त्रिविध जु सूत।
तब तानि प्रकृति सुतार। पट विनत सुचि संसार॥
येहि विश्व को विश्राम। अरु कछुक जो है काम।
सबको अहौ तुम ठाम। तब मधुर ध्यान ललाम॥
तब मधुर मूर्त्ति अतीत। है करत हीतल सीत।
व्याकुल नरन को मीत। तुम करहु कबहुँ अभीत॥

---

१. 'कामायनी' के आमुख में इन्होंने लिखा है—"कामयनी की कथा-शृंखला मिलाने के लिए कहीं-कहीं थोड़ी बहुत कल्पना को भी काम में ले आने का अधिकार मैं नहीं छोड़ सका हूं।"—प्रसाद, कामायनी, भारती-भण्डार, इलाहाबाद, अष्टम संस्करण, पृ० ८।

२. कल्पना-शक्ति पर तात्विक दृष्टि से सोचने की अस्पष्ट प्रवृत्ति भारतेन्दु-युग के निबन्ध-कारों से ही मिलती है। उदाहरणार्थ, श्री बालकृष्ण भट्ट ने 'कल्पना-शक्ति' शीर्षक निबन्ध में लिखा है—"मनुष्य की अनेक मानसिक शक्तियों में कल्पना-शक्ति भी एक अद्‌भुत शक्ति है। यद्यपि अभ्यास से यह शतगुण अधिक हो सकती है, पर इसका सूक्ष्म अंकुर किसी-किसी के अन्तःकरण में आरम्भ ही से रहता है, जिसे प्रतिभा के नाम से पुकारते हैं और जिसका कवियों के लेखों में पूर्ण उद्गार देखा जाता है। कालिदास, श्रीहर्ष, शेक्सपियर, मिल्टन प्रभृति कवियों की कल्पना-शक्ति पर चित्त चकित और मुग्ध हो, अनेक तर्क-वितर्क की भूल भुलैया में चक्कर मारता, टकराता, अन्त को इसी सिद्धान्त पर आकर ठहरता है कि यह कोई प्राक्तन संस्कार का परिणाम है या ईश्वर-प्रदत्त शक्ति (Genius) है। कवियों का अपनी कल्पना-शक्ति द्वारा ब्रह्मा के साथ होड़ करना कुछ अनुचित नही है, क्योंकि जगत्स्रष्टा तो एक ही बार, जो कुछ बन पड़ा, सृष्टि-निर्माण-कौशल दिखलाकर आकल्पान्त फरागत हो गए; पर कवि जन नित्य नई-नई रचना के गढ़ंत से न जाने कितनी सृष्टि-निर्माण-चातुरी दिखलाते रहते हैं।"—'साहित्य-सुमन', श्री बालकृष्ण भट्ट, गंगा पुस्तकमाला, लखनऊ, संवत् २०१३ वि०, पृ० ११३।

शैशवमनोहर चित्र। तुम रचहु कबहुँ विचित्र।
मनु धूल धूसर बाल। पितु गोद खेलत हाल।।
तब सुखद भावी मूर्त्ति। जेहि कहत आशा स्फूर्त्ति।
मनुजहि रखै बिलमाय। जासों रहै सुख पाय।।
नवजात शिशु को ध्यान। हुलसावही पितु प्रान।
वह कमल-कोमल गात। जनु खेलिहै कहि तात।।
कहुँ प्रेममय संसार। नव प्रेमिका को प्यार।
कल्पित सुछाया चित्र। बहु रचहु तुम जग भिन्न।।
तव शक्ति लहि अनमेल। कवि करत अद्भुत खेल।
लहि तृण-सबिन्दु तुषार। गुहि देह मुक्ताहार।।
जहँ सुन्दरी के नैन। वह रचत तहँ सुख दैन।
जलजात के जुग पात। तहँ नील मनि सुविभात।।
येहि भाँति कौतुक केलि। सब नियति को अवहेलि।
जो करत नर सुख मानि। सो तब कृपा को जानि।।
तुम दान करि आनन्द। हिय को करहु सानन्द।
नहि यह विषम संसार। तहँ कहाँ शान्ति बयार।।[1]

यह कविता प्रतिनिधि-रूप में हमारे समक्ष एक किशोर छायावादी कवि की कल्पना के प्रति जागरूकता (कल्पना के तात्त्विक स्वरूप के प्रति जागरूकता) को विशिष्ट ढंग से प्रतिपादित करती है। **प्रसाद** की यह कल्पना-प्रियता **'कामायनी'** तक कायम रही है, जिसका पता हमें 'आशा' सर्ग[2] में मनु के इस कथन से चलता है—

आह! **कल्पना** का सुन्दर यह
जगत मधुर कितना होता।
सुख-स्वप्नों का दल छाया में
पुलकित हो जगता सोता।।

सचमुच, छायावाद-युग में कल्पना ही कवि की पूजनीया देवी रही है। छायावादी कवि निःशंक भाव से कल्पना को अपना सर्वस्व मानता रहा है। संभवतः, इसीलिये **निराला** ने कविता को 'कल्पना के कानन की रानी' के रूप में स्वीकार किया है।

निराला ने भी कल्पना पर, विशेषकर वास्तविकता और कल्पना के संबंध पर गम्भीर ढंग से विचार करने की चेष्टा की है। इन्होंने लिखा है कि

१. प्रसाद, चित्राधार, भारत जीवन पुस्तकालय, ज्ञानवापी, काशी, पृ० १४१-१४२।
२. प्रसाद, कामायनी, भारती-भंडार, प्रयाग, अष्टम संस्करण, पृ० ३७।

"कल्पना कभी निर्मूल नहीं होती—उसमें भी सत्य की झलक रहती है, अथवा यों कहिये कि कल्पना स्वयं सत्य है।[१]······(अतः) कल्पना कभी असत्य नहीं होती, एक कल्पना में चाहे दूसरी कल्पना भले ही भिड़ा दी जाय।"[२] किन्तु, कल्पना में सत्य की प्रतिष्ठा और सत्य में कल्पना की प्रतिष्ठा की दृष्टि से **निराला** के विचार बहुत सुस्थ नहीं है। एक ओर ऊपर की पंक्तियों में हम देख चुके हैं कि **निराला** ने कल्पना को सत्य की सहचरी के रूप में स्वीकार किया है और दूसरी ओर इनके द्वारा लिखित 'कवि' शीर्षक कविता की इन पंक्तियों से—

देखता हूँ,
फूलते नहीं है फूल वैसे बसन्त में
जैसे तव कल्पना की डालों पर खिलते हैं।[३]

यह भासित होता है कि कल्पना निश्चय ही अलीक होती है। इसी तरह अनेक स्थलों पर **निराला** ने 'कल्पना' को मन की निराधार उड़ान के अर्थ में प्रयुक्त किया है। जैसे, 'सुकुल की बीबी' शीर्षक कहानी में इन्होंने लिखा है, "······ मैं कल्पना में पृथ्वी-अन्तरिक्ष पार करने लगा। कल्पना की वैसी उड़ान आज तक नहीं उड़ा।"[४] इतना ही नहीं, इन्होंने कभी-कभी लोकाचार में प्रचलित धारणा की तरह 'कल्पना' शब्द का प्रयोग 'सत्य' के विलोमार्थ में किया है। जैसे—

बोलूँ अल्प, न करूँ जल्पना,
सत्य रहे, मिट जाय कल्पना।[५]
अथवा
नहीं यह कल्पना, सत्य है मनुष्य का
मनुष्यत्व के लिये।[६]

---

१. डब्लू० बी० येट्स ने भी अपनी अनुभूतियों के आधार पर यह प्रतिपादित किया है कि कल्पना में सत्य रहता है तथा कल्पना में सत्य को उद्भासित करने की शक्ति रहती है—W. B. Yeats, Essays And Introductions, 1961, p. 65.

२. निराला, रवीन्द्र-कविता-कानन, हिन्दी प्रचारक पुस्तकालय, बनारस, १९५४, पृ० ८०-८१।

३. निराला, परिमल, गंगा पुस्तक माला, लखनऊ, पंचम संस्करण, पृ० २०८।

४. निराला, देवी, श्री राष्ट्रभाषा विद्यालय, काशी, १९४८, पृ० ५६।

५. निराला, अणिमा, युग-मन्दिर, उन्नाव, १९४३, पृ० १२।

६. निराला, अणिमा, युग-मन्दिर, उन्नाव, १९४३, पृ० ४९।

निराला ने कल्पना के प्रति इस धारणा को अपने विचारात्मक गद्य मे भी व्यक्त किया है—"कविता-प्रिय मनुष्य कल्पना-प्रिय हो जाता है। उससे काम नहीं होता। ललित कल्पना मनुष्य को कर्म के कठोर क्षेत्र पर उतरते भय दिखाती है। कविता की सुकुमार भावना लोगों को सौन्दर्योपासक बना देती है। इससे जाति के कर्म-जीवन के शिथिल होने की संभावना है।"[1] इस प्रकार उपर्युक्त विरोधी बातों से यह निष्कर्ष निकलता है कि निराला ने कल्पना के महत्त्व को स्वीकार किया है, किन्तु, कल्पना के अतिरेक का विरोध किया है। सच पूछा जाय तो कल्पना और अनुभूति (सत्य) को लेकर छायावादी कवियों के एतद्सम्बन्धी मन्तव्यों में एक अनिर्णीत अन्तर्द्वन्द्व परिव्याप्त है। इनका अन्तर्द्वन्द्व मूलतः इस समस्या पर निर्भर है कि काव्य में अनुभूति की महत्ता सर्वाधिक है या कल्पना की। एक ओर **पन्त** कल्पना की महत्ता को स्वीकार करते हैं और दूसरी ओर **महादेवी** अनुभूति की महत्ता को। तीसरी ओर **प्रसाद** और **निराला** मध्यम मार्ग ग्रहण कर इन दोनों (अनुभूति और कल्पना) के प्रति एक समन्वयात्मक दृष्टिकोण रखते हैं। इस समन्वयात्मक दृष्टि के कारण ही **निराला** की अधिकाँश कल्पनायें भावानुसारी हैं। इनकी कल्पना और इनके भावों मे एक अविरल सहचारिता है।[2] किन्तु, भाव और कल्पना के प्रति इस समन्वयात्मक दृष्टिकोण का यह आशय नहीं है कि **निराला** ने अपने काव्य में कल्पना के 'छायावादी महत्त्व' को घटा दिया है। इनके लिए भी कविता 'कल्पना के कानन' की वह 'रानी' है, जो हौले पाँवों से कवि के पास आया करती है—

> कल्पना के कानन की रानी।
> आओ, आओ मृदु-पद, मेरे
> मानस की कुसुमित वाणी।[3]

इस प्रसंग में छायावादी कवियों के बीच **रामकुमार वर्मा** की कल्पना संबंधी

---

१. निराला, चयन, पृ० २५।

२. निराला के कल्पना-विधान की इस विशिष्टता को लक्ष्य करते हुए आचार्य नन्ददुलारे बाजपेयी ने लिखा है—"निरालाजी की कल्पनायें उनके भावों की सहचरी हैं। वे सुशीला स्त्रियों की भाँति पति के पीछे-पीछे चलती हैं।"
—गीतिका, निराला, भारती भंडार, प्रयाग, चतुर्थ संस्करण, 'समीक्षा', पृ० १८।

३. निराला, गीतिका, भारती-भंडार, प्रयाग, चतुर्थ संस्करण, पृ० २६। निराला ने 'प्रलाप' शीर्षक कविता में भी छायावादी काव्य के 'कल्पनाधिक्य' को संकेतित करते हुये लिखा है—

> बता तो सही किन्तु वह कौन घेरनेवाली
> बाहु-वल्लियों से मुझको है एक कल्पना-लता?

—निराला, अनामिका, भारती-भंडार, प्रयाग, द्वितीय संस्करण, पृ० २६।

मान्यतायें भी ध्यातव्य हैं, क्योंकि उन्होंने अपने प्रारम्भिक कवि जीवन में **पन्त** के सदृश कल्पना को विशेष महत्त्व दिया है, जिसकी स्पष्ट स्वीकृति हमें **'रूपराशि'** की भूमिका में मिलती है। किन्तु, आगे चलकर **रामकुमार वर्मा** ने **महादेवी** की तरह (महादेवी ने कल्पना को अत्यधिक प्रश्रय देना छायावाद के पराभव का एक कारण माना है) कल्पना के अतिरेक को काव्य का दूषण मानते हुये अनुभूति को कल्पना से अधिक गौरव दिया है। अतः इन्होंने **'चित्र-रेखा'** के 'परिचय' में लिखा है, "मैं पहले कल्पना का उपासक था। मेरी 'रूपराशि' तो अधिकतर कल्पना से ही निर्मित है। पर अब अनुभूति मुझे कल्पना से अधिक रुचिकर है।"[1] इस प्रकार सिद्धान्ततः छायावादी कवियों के बीच अनुभूति और कल्पना के प्राथमिक महत्त्व को लेकर द्वन्द्व है, किन्तु, व्यवहारतः सभी छायावादी कवि एक बिन्दु पर है और इनकी रचनाओं में कल्पना का सर्वत्र अवाधित महत्त्व है।

यह सच है कि कल्पना में अनुभूति का समावेश उसमें सवेदनशीलता ला देता है और पाठक को उसके साथ तादात्म्य स्थापित करने अथवा साधारणीकरण की दशा तक पहुँच पाने में सुविधा हो जाती है। यों इससे इन्कार नहीं किया जा सकता है कि कल्पना मे स्वयंमेव एक अद्भुत शक्ति रहती है और उसमें प्रत्यक्ष की अपेक्षा अधिक सौन्दर्य रहता है। इसीलिये काव्य एवं अन्य कलाओं में प्रत्यक्ष जीवन का सौन्दर्य कल्पना का पारस-स्पर्श पाकर ही परोक्ष सौन्दर्य के रूप में प्रतिष्ठित हुआ करता है। इस प्रकार काव्य-निर्माण में कल्पना को विधायक का पद प्राप्त है, क्योंकि यह विधायक कल्पना ही जीवन की प्रत्यक्ष वास्तविकता और काव्यगत सत्य के बीच सादृश्याभास प्रस्तुत करती है, अर्थात् काव्य और जीवन के बीच अभिन्नता का भ्रम पैदा करती है। अतः कला-सृजन में कल्पना का दायित्व बहुत ही बड़ा है। इसी दायित्व के निर्वाह के लिये कल्पना अपनी पृष्ठभूमि में अनुभूति को एक वाँछित तत्त्व की तरह स्वीकार करती है अन्यथा 'अनुभूति' के पूर्ण असहयोग से विराट कल्पना भी बालू की भीत सिद्ध होती है। इसलिये यह एक स्वीकृत तथ्य है कि जब कल्पना के पीछे अनुभूति का सहयोग नहीं रहता, तब वह 'फैंसी' बनकर रह जाती है।

कल्पना के प्रति **पन्त** ने बहुत ही मुग्ध धारणायें व्यक्त की हैं।[2] इन्होंने

---

१. रामकुमार वर्मा, चित्र-रेखा, चाँद प्रेस, इलाहाबाद, प्रथम संस्करण, १९३५, 'परिचय', पृ० १।

२. छायावादी कवियों के बीच पन्त ने अन्य कवियों की अपेक्षा कल्पना को उसी तरह बहुत अधिक महत्त्व दिया है, जिस तरह रोमांटिक कवियों के बीच ब्लेक ने। ब्लेक का कहना था कि कल्पना ही वह एकमात्र अलौकिक शक्ति है, जो किसी व्यक्ति को पूर्ण कवि

साभिनिवेश लिखा है, "मैं कल्पना के सत्य को सबसे बड़ा सत्य मानता हूँ और उसे ईश्वरीय प्रतिभा का अंश भी मानता हूँ।"[1] इतना ही नहीं, इन्होंने अपने को 'कल्पना-पुत्र'[2] कहने में किसी द्विधा का अनुभव नहीं किया है। अपने व्यक्तिगत जीवन में भी ये कल्पना के प्रति आग्रही रहे हैं, जिसका समर्थन इन पक्तियों से होता है—"मै सदैव अपने ही मन में, अपने ही कल्पनालोक के भीतर रहा हूँ और मेरे कल्पना-जगत् मे सदैव इतना जीवन का स्पन्दन रहा है कि मुझे रिक्तता का अनुभव नहीं निगल सका है।"[3] यों, **पन्त** के कल्पना-सम्बन्धी विचारों में **निराला** के सदृश ही स्वतोव्याघात मिलता है, क्योंकि **पन्त** ने भी 'कल्पना' शब्द का प्रयोग अलीक सत्य के अर्थ में किया है। जैसे—

कवि कपोल कल्पना नहीं,—अनुभूत सत्य यह—
और भ्रान्तियों के युग का निर्भ्रान्त सत्य यह।[4]

इसी तरह इन्होंने **'रजत-शिखर'** मे सुखव्रत के द्वारा 'कल्पना' शब्द का प्रयोग अलीक अथवा निरर्थक सत्य के अर्थ में कराया है—

तुमने नहीं सुना, साधक, कवि, प्रेमी, पागल
बायवीय तत्त्वों के बने हुये होते है :
विधि ने उनका हृदय सूक्ष्म कल्पना द्रव्य से
स्वप्न ग्रथित है किया : नित्य वे स्वर्ग-धरा के
मध्य भावना पंख मारते रहते निष्फल।[5]

इसके पहले **पन्त** ने **'ज्योत्स्ना'** मे कल्पना का प्रयोग सत्य के विलोम के रूप में किया है। संभवतः इसी कारण इन्होंने उक्त नाटिका **'ज्योत्स्ना'** में कल्पना की जोड़ी स्वप्न के साथ बैठाई है।

किन्तु, दूसरी ओर इनकी दृढ़ धारणा है कि छायावाद कल्पना (उच्च अर्थ में प्रयुक्त 'कल्पना') की आवर्जना का काव्य है। उच्च अर्थ में प्रयुक्त कल्पना से इनका आशय पलायन से दूर रहने वाली कल्पना है, क्योंकि इन्होंने

बनाने के लिए पर्याप्त है—"One Power alone makes a poet ; Imagination, The Divine Vision."—William Bla' e, Poetry And Prose, Page 821.

१. पन्त, आधुनिक कवि, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, छठा संस्करण, पर्यालोचन, पृ० ३६।

२. कवि अल्प, उडुपमति, भव-तितीर्षु, दुस्तर अपार।
कल्पना-पुत्र मै, भावी द्रष्टा, निराधार।—पन्त, ग्राम्या।

३. पन्त, साठ वर्ष : एक रेखांकन, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, १९६०, पृ० ६८।

४. पन्त, चिदम्बरा, राजकमल प्रकाशन, १९५९, पृ० २९४।

५. पन्त, रजतशिखर, भारती भंडार प्रयाग, प्रथम संस्करण, पृ० १९।

लिखा है—"छायावाद मुख्यतः प्रेरणा का काव्य रहा और इसीलिये वह कल्पना-प्रधान भी रहा। कल्पना का पलायन से भिन्न, उच्च अर्थ में प्रयोग छायावादी काव्य में ही हो सका है।"[१] कल्पना के उच्च और सामान्य अर्थ को लेकर जो भी विवाद हो, लेकिन यह सच है कि छायावादी कविता में कल्पना की प्रधानता है। विशेपकर, पन्त की कविताओं में तो 'कल्पना के गंध-मधु' की निर्विवाद प्रचुरता है, जिसका पूर्ण समर्थन इनके ऐसे आत्मोद्‌गारों से ही हो जाता है—"अगर कभी मुझे खिड़की के पथ से फूलों से भरी पेड़ की डाल दिखाई दी अथवा चिड़ियों का चहकना कानों में पड़ गया तब मेरी कल्पना जैसे उसमें अपना गंध-मधु मिलाकर मुझे किसी अपरूप स्वर्ग में उड़ा ले गई है।"[२] अतः कल्पना के प्रति इन्हें इतना मोह है कि इनकी अपूर्व शोभना प्रिया कल्पना के साथ सदैव एकाकार रहती है, कल्पना मे ही आठो याम डूबी रहती है—

> हृदय-नभ-तारा बन छबि-धाम
> प्रिये ! अब सार्थक करो स्वनाम।
> ... ...
> कल्पना तुम में एकाकार,
> कल्पना में तुम आठो याम।[३]

तदनन्तर, कल्पना के तात्त्विक विवेचन की दृष्टि से पन्त ने जो मुख्य मान्यतायें प्रस्तुत की है, उनमें से एक यह है कि कल्पना का राग से घनिष्ठ संबन्ध है। इन्होंने लिखा है कि "राग ध्वनि-लोक की कल्पना है। जो कार्य भाव-जगत् में कल्पना करती है, वह कार्य शब्द-जगत् में राग; दोनों अभिन्न हैं।"[४] अतः स्पष्ट है कि छायावादी कविता में राग की प्रधानता के कारण कल्पना की और कल्पना की प्रधानता के कारण राग की प्रधानता है। दूसरी बात यह है कि पन्त ने आत्मनिष्ठता के आग्रह से चालित होकर छायावादी कल्पना को बहिर्जगत् के कृत्रिम बन्धनों और अधीक्षणों से मुक्त माना है। अतः इन्होंने छायावादी कवियों की कल्पना को 'मुक्त कल्पना' की अख्या दी है। इनके अनुसार 'मुक्त कल्पना' तर्कसिद्ध सत्य, रूढ़ दृष्टि और वस्तुनिष्ठ याथातथ्य से दूर रहती है तथा उसमें भिन्नवर्णी बिम्बों की योजना के द्वारा प्रस्तुत होने

---

१. पन्त, रश्मिबन्ध, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, १९५८, पृ० १७।
२. पन्त, गद्य-पथ, साहित्य-भवन, इलाहाबाद, १९५३, पृ० १७८।
३. पन्त, गुंजन, भारती-भंडार, इलाहाबाद, छठा संस्करण, पृ० ६५।
४. पन्त, पल्लव, इंडियन प्रेस, प्रयाग, १९३१, पृ० ४२।

वाले सौन्दर्य की बहुविध छटाओं का आलिम्पन-कौशल रहता है।[1] इनकी 'नक्षत्र' शीर्षक कविता की अनेक पंक्तियाँ छायावादी मुक्त कल्पना को उदाहृत करती हैं—

अग्नि-शस्य ! रवि के चिह्नित पग !
म्लान दिवस के छिन्न वितान !
... ...
दिवस-स्रोत से दलित उपल-दल।
स्वप्न-नीड़, तम-ज्योति धवल।[2]

इस छायावादी 'मुक्त कल्पना' को **पन्त** ने आगे चलकर 'प्रगल्भ कल्पना' का नाम दे दिया है। 'प्रगल्भ कल्पना' की व्याख्या करते हुए इन्होंने **'सौवर्ण'** में लिखा है—

सब कुछ संभव है **प्रगल्भ कल्पना** के लिये,
जो विद्युत गति से, अणु जव से वेगवती है।[3]

इस तरह पन्त ने 'मुक्त कल्पना' को कई नामों से अभिहित किया है। जैसे— 'ऊर्णनाभ कल्पना', 'सृजनशील कल्पना', 'अन्तर्मुखी कल्पना', इत्यादि।[4] कल्पना का यह रूप **पन्त** की 'गुंजन'-काल तक की रचनाओं में प्रचुरता के साथ मिलता है। हम देख चुके हैं कि इस प्रकार की कल्पना में सूक्ष्मता और भावात्मकता की ओर विशेष आग्रह रहता है। अतः **पन्त** ने भी लिखा है कि **'गुंजन'** तक की भाषा 'कल्पना के सूक्ष्म सौन्दर्य से गुंजित' है।[5] इस प्रसंग मे यह भी ध्यातव्य है कि जिस प्रकार **पन्त** की प्रारम्भिक (विशेषकर 'पल्लव'-कालीन) सौन्दर्य-चेतना 'नारी' से सम्पृक्त है, उसी प्रकार इनकी प्रारम्भिक 'कल्पना' के

---

१. पन्त ने छायावादी 'मुक्त कल्पना' का लक्षण-निर्देश करते हुये लिखा है —

छायावादी मुक्त कल्पना
गद्यबद्ध बन गल्प जल्पना,
शाब्दिक रांगोली सँवार कर
फूल बेल-बूटे उतार कर,
अनगिन बिम्बों को उभार कर
रचती नव अल्पना
शारदा के आँगन में।

—पन्त, वाणी, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, १९५८, पृ० ८७।

२. पन्त, पल्लव, इंडियन प्रेस, इलाहाबाद, १९३१, पृ० ८५।

३. पन्त, सौवर्ण, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, १९५७, पृ० २१।

४. पन्त, आधुनिक कवि, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, छठा संस्करण, पृ० १६।

५. पन्त, आधुनिक कवि, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, छठा संस्करण, पृ० १२।

मूल में भी 'नारी' अवस्थित है। 'उच्छ्वास की बालिका' शीर्षक कविता (पहले 'पल्लव' की 'सावन' शीर्षक कविता मे प्रकाशित) में किशोर कवि ने नारी को कल्पना की कल्पलता के रूप मे स्वीकार किया है—

> कह उसे कल्पनाओं की
> कल कल्पलता अपनाया,
> बहु नवल भावनाओं का
> उसमें पराग था पाया।[1]

तदनन्तर, तात्त्विक विवेचन की दृष्टि से पन्त ने कल्पना का सम्बन्ध व्यक्ति की सांस्कृतिक चेतना से माना है। इसीलिये इन्होने 'फूलों का देश' नामक काव्य-रूपक में 'कल्पना' को कवि अथवा कलाकार की विचरण-भूमि का निभृत पथ कहा है—

> यह फूलों का देश, ज्योति मानस का रूपक;
> जहाँ विचरते अन्तर्द्रष्टा कलाकार, कवि
> निभृत कल्पना पथ से नित, भावोन्मेषित हो।[2]

कल्पना और सांस्कृतिक चेतना के अन्तःसम्बन्ध का कारण यह है कि इन दोनों में स्थूलता का यथासंभव वर्जन और सूक्ष्मता के प्रति आग्रह रहता है। पन्त ने उक्त तथ्य को इस रूप में स्वीकार किया है कि कल्पना में विद्रावण और सूक्ष्मीकरण की शक्ति होती है, क्योंकि कल्पना की परिधि में पहुँचते ही यह वस्तुजगत् भी अपना घनत्व खोकर भाव-द्रवित हो जाता है और सूक्ष्म रूप धारण कर लेता है। 'फूलों का देश' शीर्षक काव्य-रूपक में 'कवि' नामक पात्र उपरिनिर्दिष्ट सांस्कृतिक चेतना के धरातल (अर्थात् फूलों का देश) का परिचय देता हुआ कहता है—

> यह छाया का देश, कल्पना का क्रीड़ा-स्थल,
> वस्तु जगत् अपना घनत्व खोकर इस जग में
> सूक्ष्म रूप धारण कर लेता, भाव द्रवित हो।[3]

पन्त के कल्पना सम्बन्धी विचार अंग्रेजी रोमाण्टिक कवियों के बीच शेली के कल्पना-सम्बन्धी विचारों से बहुत दूर तक साम्य रखते हैं। शेली के अनुसार भी कल्पना वस्तु-जगत् से प्राप्त सामग्रियों का मानसिक पुनःसृजन करती है। कल्पना को इस मानसिक पुनःसृजन मे अन्तःकरण से प्रेरणा मिलती है, क्योंकि बाह्य जगत् की वस्तुएँ ऐन्द्रिय सन्निकर्ष के उपरान्त अन्तःकरण को प्रभावित

---

१. पन्त, आधुनिक कवि, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, छठा संस्करण, पृ० १०।
२. पन्त, रजत शिखर, भारती भंडार, प्रयाग, प्रथम संस्करण, पृ० ४९।
३. पन्त, रजत शिखर, भारती भंडार, प्रयाग, प्रथम संस्करण, पृ० ५१।

करती हैं। इस प्रभाव या संयोग से कलाकार के चित्त में एक आलोक-सृष्टि होती है, जिसमें उसे एक उन्नत आदर्श जगत् की झलक मिलती है। कल्पना से प्राप्त इस उन्नत आदर्श जगत् की अनुकृति प्रस्तुत करने में ही काव्य एव अन्य ललित कलाओं की सृष्टि होती है। **शेली** के कल्पना-सम्बन्धी विचार 'A Defence of Poetry' शीर्षक निबन्ध में मिलते है, जो निवन्ध शेली ने १८२१ ईसवी में लिखा था।[१] इन्होंने भी **पन्त** की तरह काव्य-सृजन में कल्पना को पार्यन्तिक महत्त्व दिया है और कल्पना के अप्रतिम महत्त्व को प्रतिपादित करने के लिए अनेक काव्यात्मक सूक्तियों का प्रयोग किया है। इन्होंने सबसे पहले तर्क (रीज़न) और कल्पना के अन्तर को स्पष्ट किया है और निष्कर्ष-रूप में कल्पना को सादृश्य प्रतिपादित करने वाला एक प्रत्यक्षात्मक मूल्य माना है।[२] इन्होने कहीं-कहीं कल्पना पर सोद्देश्य दृष्टि से भी विचार किया है और लोकमगल के साथ कल्पना का सम्बन्ध स्थापित करना चाहा है।[३] किन्तु, यहाँ हम **शेली** के कल्पना-सिद्धान्त के केवल उस पक्ष को निर्दिष्ट करना चाहते हैं, जिसका प्रभूत साम्य **पन्त** के विचारों के साथ है। वह निर्दिष्ट पक्ष यह है कि **शेली** ने कविता को कल्पना की ही अभिव्यक्ति के रूप में स्वीकार किया है[४] और इसी बात का पौन:पुन्य-कीर्तन करते हुये उन्होंने यह भी माना है कि कविता कल्पना का दिग्विस्तार करती है।[५] इस प्रकार **शेली** और **पन्त** की कल्पना-संबंधी मान्यताओं का साम्य अंशत: स्पष्ट हो जाता है।

महादेवी ने छायावादी काव्य की कल्पनातिशयता का श्रेय उसके प्रकृति-प्रेम को दिया है। इन्होंने सैद्धान्तिक रूप में यह मान्यता व्यक्त की है कि 'काव्य जब प्रकृति का आधार लेकर चलता है, तब कल्पना में सूक्ष्म रेखाओं

---

१. English Critical Essays (19th Century), selected and edited by Edmund D. Jones, London, 1950, p. 102.

२. P. B. Shelley, A Defence of Poetry, English Critical Essays, edited by Edmund D. Jones, London, 1950, p. 102.

३. "The great instrument of moral good is the imagination" —Ibid, p. 112.

४. "Poetry···may be defined to be the expression of the imagination."—Ibid, p. 102.

५. "Poetry enlarges the circumference of the imagination by replenishing it with thoughts of ever new delight···."— Ibid, p. 112.

का बाहुल्य और दीप्त रंगों का फैलाव स्वाभाविक'[१] हो जाता है। फलस्वरूप, प्रकृति-प्रेम की प्रचुरता के कारण छायावादी काव्य में कल्पना को प्रधानता मिल गई है, जिसे लक्षित करते हुये **महादेवी** ने लिखा है, "छायावाद तत्त्वत: प्रकृति के बीच में जीवन का उद्‌गीथ है, अत: उसकी कल्पनायें बहुरंगी और विविधरूपी हैं।"[२] इस प्रकार इन्होंने छायावादी काव्य में कल्पना-विधान की प्रचुरता का श्रेय बहुत अंशों में उसके प्रकृति-प्रेम को दिया है।

तदनन्तर, **महादेवी** ने कल्पना को अनुभूति-ग्रहण में सहायक के रूप में स्वीकार किया है और अनुभूति को प्रधान स्थान देकर भी कल्पना को काव्य के स्वस्थ विकास के लिए अनिवार्य माना है। अत: इन्होंने अनुभूति को प्राथमिकता देने के कारण कल्पना में वास्तविकता का रंग भर देना कलाकार के लिये वांछनीय स्वीकार किया है—"कलाकार यदि सत्य अर्थो में कलाकार हो, तो वह कल्पना को सौंदर्यमय आकार देगा, उसमें वास्तविकता का रंग भरेगा और उससे जीवन-संगीत की सुरीली लय की सृष्टि कर लेगा।"[3] अनुभूति की तुलना में कल्पना को सिद्धान्तत: द्वितीय स्थान देने के बाद भी इन्होंने कल्पना-विधान को छायावादी कविता का एक विशिष्ट गुण माना है। इनका कहना है कि कल्पना का प्रकृति-काव्य से अनुकूल सम्बन्ध है, क्योंकि प्रकृति का पारस-स्पर्श पाते ही कल्पना विविध रंग-छटाओं से उपेत हो जाती है। अत: छायावाद अधिकांश में प्रकृति-काव्य होने के कारण कल्पना के बहु-वर्णी आलिम्पन से युक्त है।

इसके बाद **महादेवी** ने 'प्रत्यक्ष' के साथ कल्पना के सम्बन्ध पर भी विचार किया है। इनका कहना है कि प्रत्यक्ष के साथ कल्पना (अनुमान की संगिनी बनकर) हस्तक्षेप करती रहती है।[४] इनके अनुसार कल्पना और प्रत्यक्ष में मुख्य अन्तर यह है कि "कल्पना के सम्पूर्ण वायवी संसार को सुन्दर से सुन्दरतम बना लेना जितना सहज है, उसके किसी छोटे अंश को भी स्थूल मिट्टी में उतारकर सुन्दर बनाना उतना ही अधिक कठिन रहता है। कारण स्पष्ट है

---

१. महादेवी वर्मा, महादेवी का विवेचनात्मक गद्य, इंडियन प्रेस, इलाहाबाद, १९४४, पृ० ९४।

२. महादेवी वर्मा, महादेवी का विवेचनात्मक गद्य, इंडियन प्रेस, इलाहाबाद, १९४४, पृ० ९४।

३. महादेवी, क्षणदा, भारती-भंडार, प्रयाग, प्रथम संस्करण, ५०।

४. "हमारे प्रत्यक्ष ज्ञान में भी कल्पना और अनुमान अपना धूपछाँही ताना-बाना बुनते रहते हैं।"—महादेवी वर्मा, पथ के साथी, भारती-भंडार, प्रयाग, प्रथम संस्करण, पृ० ५।

है कि किसी की सुन्दर कल्पना का अस्तित्व किसी को नही अखरता, अतः किसी से उसे सघर्ष नही करना पड़ता। पर प्रत्यक्ष जीवन में तो एक के सुन्दर निर्माण से दूसरे के कुरूप निर्माण को हानि पहुँच सकती है। अतः संघर्ष सृजन की शपथ बन जाता है।"[1] आशय यह है कि परस्पर प्रतीप सम्बन्ध रखकर कल्पना प्रत्यक्ष के साथ सदैव हस्तक्षेप करती रहती है। दूसरी ओर **महादेवी** यह भी स्वीकार करती हैं कि कल्पना के साथ प्रत्यक्ष सर्वत्र लगा रहता है। अतः इन दो प्रकार की धारणाओं को एक साथ देखने से यह निष्कर्ष निकलता है कि **महादेवी** की दृष्टि में कल्पना के लिये प्रत्यक्ष ज्ञान की पृष्ठभूमि अत्यावश्यक है। इसीलिये इन्होंने निश्चयात्मक शब्दों मे लिखा है, "मेरा प्रत्यक्ष ज्ञान मेरी कल्पना के पीछे सदा ही हाथ बाँधकर चलता रहा है।"[2] इस प्रकार प्रत्यक्ष ज्ञान के प्रति आग्रह रखने के कारण इन्होंने कल्पना को जीवन से विच्छिन्न नही माना है। इन्हें यह धारणा कदापि मान्य नहीं है कि जीवन और कल्पना के बीच दो टूक पृथकता है। अपने मन्तव्य को स्पष्ट करते हुए इन्होंने लिखा है—"कल्पना के सम्बन्ध में यह स्मरण रखना उचित है कि वह स्वप्न से अधिक ठोस धरती चाहती है। प्रायः परिचित और प्रिय वस्तुओं से सम्बन्ध रखने के कारण उसका विदेशी होना सहज नहीं। विशेषतः प्रत्येक कवि और कलाकार अपने संस्कार, जीवन तथा वातावरण के प्रति इतना सजग सवेदनशील होता है कि उसकी कल्पना, उसके ज्ञान और अनुभूतियों की चित्रमय व्याख्या बन जाती है।"[3] फलस्वरूप, **महादेवी वर्मा** कलाकार की 'कल्पना' मे केवल सौन्दर्य ही नहीं, वास्तविकता की भी प्रतिष्ठा चाहती हैं।[4] 'किन्तु, व्यवहारतः इनकी कल्पना में विस्मय और जिज्ञासा का तत्त्व बहुत अधिक मिलता है। जैसे, **'नीहार'** की 'कौन ?' शीर्षक कविता में।[5] विस्मय और जिज्ञासा की प्रधानता के कारण ही इनकी कुछ कविताओं

---

१. महादेवी वर्मा, पथ के साथी, भारती-भंडार, प्रयाग, प्रथम संस्करण, पृ० ७।

२. महादेवी वर्मा, सांध्यगीत, भारती-भंडार, प्रयाग, चतुर्थ संस्करण, 'अपनी बात', पृ० ११।

३. महादेवी वर्मा, महादेवी का विवेचनात्मक गद्य, इंडियन प्रेस, इलाहाबाद, १९४४, पृ० ९२-९३।

४. "कलाकार यदि सत्य अर्थों में कलाकार हो, तो वह कल्पना को सौन्दर्यमय आकार देगा, उसमें वास्तविकता का रंग भरेगा और उससे जीवन-संगीत की सुरीली लय की सृष्टि करेगा।"—महादेवी वर्मा, क्षणदा, भारती-भंडार, इलाहाबाद, प्रथम संस्करण, पृ० ५०।

५. महादेवी, नीहार, साहित्य-भवन, इलाहाबाद, चतुर्थ संस्करण, पृ० १०।

में (इनके उपरिवर्णित सिद्धान्त के विपरीत) वस्तु-सम्पृक्त आधार से हीन कल्पना मिलती है। जैसे—

इन हीरक से तारों को
कर चूर बनाया प्याला
पीड़ा का सार मिलाकर
प्राणों का आसव ढाला।[1]

अतः हम कह सकते हैं कि विस्मय और जिज्ञासा के मिश्रित तत्त्व ने **महादेवी** को काव्य-सृजन के व्यावहारिक (सैद्धान्तिक नहीं) व्यापार में 'विपुल कल्पनाओं'[2] का प्रेमी बना दिया है।

तदनन्तर, कल्पना के तात्त्विक विवेचन की दृष्टि से छायावादी कवियों के बीच **रामकुमार वर्मा** के विचार बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। इनकी भूमिकाओं और साहित्य-शास्त्र से सम्बद्ध निबन्धों में कल्पना पर तात्त्विक विचार करने का अच्छा प्रयास मिलता है। कल्पना के प्रति इनके अमोघ आग्रह का सर्वोत्तम उदाहरण **'रूप-राशि'** नामक कविता-संग्रह के प्राक्कथन में मिलता है। इसमें इन्होंने लिखा है—"कविता में मुझे कल्पना सबसे अच्छी मालूम होती है। वही एक सूत्र है, जिसको पकड़कर कवि इस ससार से उस स्थान पर चढ़ जाता है, जहाँ उसकी इच्छित भावनाओं के द्वारा एक स्वर्ण-संसार निर्मित रहता है। भावना (इमोशन) तो इच्छा का तेजस्वी और परिष्कृत रूप है। वह हृदय को केवल वेगवान बना देती है; किन्तु कवि में निर्माण करने की शक्ति कल्पना के द्वारा ही आती है।"[3] इन पंक्तियों में **वर्माजी** ने कल्पना के प्रति जो धारणा व्यक्त की है, वह **कॉलरिज** की 'एजेम्प्लासी'[4] और भारतीय काव्य-शास्त्र के नूतन 'निर्माणक्षमत्वम्' से मिलती-जुलती है। इन्होंने **'रूप-राशि'** के उक्त 'परिचय' में अपने को 'कल्पना का उपासक' कहा है। सचमुच, **'रूप-राशि'** की अनेक पंक्तियों में कल्पना की निबिड़ उपासना है। जैसे—

---

१. महादेवी, नीहार, साहित्य भवन, इलाहाबाद, तृतीयावृत्ति, पृ० २६।

२.　मिलन इन्दु बुनता जीवन पर
　विस्मृति के तारों से चादर,
　विपुल कल्पनाओं का मन्थर
　बहता सुरभित वात।
—महादेवी, रश्मि, साहित्य भवन, इलाहाबाद, तृतीयावृत्ति, पृ० ३१।

३. रामकुमार वर्मा, रूप-राशि, सरस्वती प्रेस, बनारस सिटी, १९३३, परिचय, पृ० १।

४. Esemplasy.

मै तुमसे मिल सकूँ यथा उर से सुकुमार दुकूल,
समय-लता मे खिले मिलन के दिन का उत्सुक फूल ।[1]
अथवा
इन्द्र-धनुप-सा वस्त्र कर रहा था सज्जित सब अग,
जिनमें अनिपुण चोर सदृश था आधा छिपा अनग ।[2]

डॉ० **रामकुमार वर्मा** ने अन्यत्र भी काव्य-तत्त्वों के बीच कल्पना के महत्त्व पर प्रकाश डाला है। जैसे—

(क) "कल्पना साहित्य की सृजन-शक्ति है। जिस प्रकार ब्रह्म माया के माध्यम से अखिल विश्व की सृष्टि करता है, उसी प्रकार प्रतिभा-सम्पन्न लेखक या कवि कल्पना के सहारे साहित्य में सौन्दर्य की सृष्टि करता है।"[3]

(ख) "कल्पना के बीच मे सत्य का सौन्दर्य और भी मर्मस्पर्शी तथा हृदय-द्रावक हो जाता है। इसलिये सत्य के रूप को विकृत करने के लिए नहीं, वरन् सत्य को सजाने के लिये मैंने कल्पना को सेवक की भाँति बुला लिया है।"[4]

(ग) "कल्पना जीवन के सत्य एवं प्रकृति के नियमों से संबध रखती है।···इस प्रकार कल्पना जीवन के समानान्तर बहनेवाली एक नूतन प्रकृति की असीम कार्य-शक्ति है।"[5]

इस तरह 'कल्पना' के प्रति **वर्मा** जी का विशेष आग्रह स्पष्ट है। इस 'विशेष आग्रह' का एक प्रमाण यह भी है कि जहाँ इन्होंने छायावाद के प्रमुख तत्त्वों की गणना की है, वहाँ इन्होंने कल्पना का सबसे पहले उल्लेख किया है—"उच्च कोटि की कल्पना प्रकृति के रहस्यों का उद्घाटन, सुख-दुख की एक तीव्र संवेदना, सौंदर्य का एक आलोकमय दृष्टिकोण और चित्रात्मकता छायावाद की विभूतियाँ हैं···।"[6]

तदनन्तर, **रामकुमार वर्मा** ने (महादेवी वर्मा की तरह) प्रत्यक्षानुभूति के सन्दर्भ में कल्पना पर विचार किया है। इनकी मान्यता है कि कल्पना के लिए जगत् और जीवन की अधिक से अधिक प्रत्यक्षानुभूति अपेक्षित है।[7] वस्तुतः

---

१. रामकुमार वर्मा, रूपराशि, सरस्वती प्रेस, बनारस सिटी, १९३३, पृ० ४।
२. वही, पृ० ४१।
३. डा० रामकुमार वर्मा, साहित्यशास्त्र, भारतीय विद्याभवन, इलाहाबाद, १९५६, पृ० ६२।
४. चित्तौर की चिता, चाँद कार्यालय, इलाहाबाद, परिचय, पृ० २।
५. रामकुमार वर्मा, संवत, मेहरचन्द लछमणदास, दिल्ली, १९४८, पृ० ३४।
६. रामकुमार वर्मा, विचार-दर्शन, साहित्य-निकुंज, प्रयाग, १९४८, पृ० ७५।
७. रामकुमार वर्मा, साहित्यशास्त्र, भारतीय विद्या भवन, इलाहाबाद, १९५६, पृ० ६२।

जगत् और जीवन की प्रत्यक्षानुभूतियाँ कल्पना के लिए वस्तु-सम्पृक्त-आधार का काम करती हैं, जिनके अभाव मे कल्पना प्रभाव-शून्य अतिकल्पना बन जाती है। सचमुच, प्रत्यक्षानुभूति पर आश्रित कल्पना ही कला-जगत् मे वस्तु-जगत् के सत्यों या सत्याभासों की प्रतिच्छवियाँ अंकित कर सकती है तथा उन पर नयी सूझों की मीनाकारी के द्वारा मानव-जगत् के सम्मुख प्रत्यक्षानुभूति के धरातल से ऊपर उठकर भौतिक, मानसिक और आध्यात्मिक नूतन सभावनाओं को प्रस्तुत कर सकती है। इस प्रकार कल्पना प्रत्यक्षानुभूतियों के निरन्तर साहचर्य से ही बलिष्ठ बनती है। अतः **डा० रामकुमार वर्मा** कल्पना के साथ अनुभूति की विद्यमानता पर विशेष बल देते हैं। इनका कहना है कि "कल्पना यद्यपि कविता में नये-नये संसार की सृष्टि करती है, तथापि वह अनुभूति का स्थान नहीं ले सकती। उससे भावना में तीव्रता तो अवश्य आ जाती है, किन्तु, वह कविता में स्पन्दन नहीं ला सकती। मुझे तो कल्पना वैसी ही मालूम देती है, जैसे असितकुमार हाल्दार या कनु देसाई की तूलिका से बने हुए कलापूर्ण चित्र, जिनमें सौन्दर्य तो अवश्य है, किन्तु वे चित्र चल-फिर नही सकते···।"[१]

इसके बाद **डा० वर्मा** ने रूप-निर्धारण की दृष्टि से कल्पना की चार कोटियाँ निरूपित की हैं—स्वस्थ कल्पना, अतिरंजित कल्पना, मानवीकरण-प्रेरित कल्पना और आदर्श कल्पना।[२] प्रथम प्रकार की कल्पना, अर्थात्, स्वस्थ कल्पना के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए उन्होंने लिखा है कि 'स्वस्थ कल्पना कारण और कार्य की श्रृंखला से स्वाभाविकता की सृष्टि करती है और जगत् में अन्तर्व्यापी सत्य के समानान्तर प्रवाहित होती है। यह कल्पना-प्रसूत ससार वस्तुतः प्रत्यक्ष संसार का प्रतिरूप ही है अथवा सत्य का दर्पणगत चित्र है। इसके द्वारा स्वानुभूति की परिधि अत्यन्त विस्तृत होकर संसारगत व्यापार मात्र को समेट लेती है। यह कल्पना कथा-साहित्य की सबसे बड़ी सम्पत्ति है।'[3] तदनन्तर, **डा० वर्मा** के अनुसार, अतिरजित कल्पना का सम्बन्ध प्रायः कवि-प्रसिद्धियों, दन्त-कथाओं या परियों के देश की कहानियों के साथ रहा करता है। यह कल्पना 'फैंसी' के समान होती है तथा इसमे अनुरंजनात्मक प्रवृत्ति और कौतूहल-वर्द्धन की प्रधानता रहती है। किन्तु, इस कल्पना के द्वारा भी कवि को 'जीवन के रागात्मक सम्बन्धों की वास्तविकता एवं उनकी समष्टिगत परिव्याप्ति'[४] को दिखलाने में सहायता मिलती है। इसी प्रकार मानवीकरण-प्रेरित कल्पना काव्य के लिये

१. रामकुमार वर्मा, विचार-दर्शन, साहित्य-निकुंज, प्रयाग, १९४८, पृ० १२१।

२. रामकुमार वर्मा, साहित्यशास्त्र, भारतीय विद्या भवन, इलाहाबाद, १९५६, पृ० ६३।

३. वही, पृ० ६३।

४. वही, पृ० ६४।

बहुत हितावह सिद्ध होती है। **डा० वर्मा** ने मानवीकरण-प्रेरित कल्पना की विवेचना शास्त्रीय ढग से प्रस्तुत की है। "साहित्य में मानवीकरण की प्रेरणा सवेदना के प्रत्यक्षीकरण के लिए होती है। मानव वस्तु-जगत् के विविध रूपों मे जब अपनी चेतना का दर्शन करना चाहता है, तब उसकी कल्पना उन वस्तुओं के मानवीकरण की ओर अग्रसर होती है। दूसरे शब्दों में जड़ वस्तुओं पर मानव-चेतना का प्रतिबिम्ब ही मानवीकरण है।"[1] इस प्रसंग में इन्होंने विचारकों का ध्यान इस बात की ओर भी आकृष्ट किया है कि मानवीकरण की भारतीय पद्धति में 'आध्यात्मिक पक्ष' की प्रचुरता रहती है, जबकि "पश्चिम के साहित्य मे मानवीकरण की कल्पना आत्मपरक है। उसमें मनोविज्ञान के प्रभाव से ऐसी अनेक स्थितियाँ आती है, जिनमें भावनागत चित्र की पूर्त्ति मानवीकरण से संभव होती है।"[2] अपनी विवेचना को अधिक स्पष्ट करने के लिये **डा० वर्मा** ने मानवीकरण-प्रेरित कल्पना के उद्देश्य को तीन क्षेत्रों में बाँट दिया है। ये तीन क्षेत्र है—विश्व में परिव्याप्त सत्य की निष्ठा, अनुभूति-प्रवणता और चारित्रिक उत्कर्षापकर्ष।[3] इन तीन क्षेत्रों में अनुभूति-प्रवणता का क्षेत्र मानवीकरण-प्रेरित कल्पना के लिये सबसे अधिक विस्तृत है। यों, चारित्रिक उत्कर्षापकर्षवाली मानवीकरण-प्रेरित कल्पना भी इन दिनों साहित्य में पर्याप्त प्रचलित है, क्योंकि इसके द्वारा मनोजगत् अथवा आचार-जगत् की अमूर्त्त वृत्तियों को मूर्त्त बनाकर एक नई सृष्टि प्रस्तुत कर दी जाती है। **प्रसाद** की **'कामना'** और **'कामायनी'**, **पन्त** की **'ज्योत्स्ना'** तथा **रामकुमार वर्मा** की **'बादल की मृत्यु'** शीर्षक रचनायें इस दृष्टि से विचारणीय हैं।

तत्पश्चात् **डा० वर्मा** के द्वारा निरूपित कल्पना का चौथा प्रकार अर्थात् आदर्श कल्पना सोद्देश्य साहित्य की सृष्टि से सम्बन्धित है। इस आदर्श कल्पना के मूल में जो प्रेरणायें रहती हैं, उन्हें इन चार प्रकारों में बाँटा जा सकता है—धार्मिक, राजनीतिक, सामाजिक और व्यक्तिगत। छायावादी काव्य में हमें आदर्श कल्पना का कोई विशेष महत्त्व नहीं मिलता है, अत: उसकी विस्तृत चर्चा अनावश्यक है। **डा० वर्मा** के कल्पना-सिद्धान्त के इस विश्लेषण के बाद यह कहा जा सकता है कि इन्होंने कल्पना का तात्त्विक और सैद्धान्तिक विवेचन अन्य छायावादी कवियों की अपेक्षा अधिक विस्तार से किया है और कल्पना के साथ अनुभूति के महत्त्व पर इन्होंने **महादेवी** से मिलती-जुलती धारणा व्यक्त की है।

---

१. रामकुमार वर्मा, साहित्यशास्त्र, भारतीय विद्या भवन, इलाहाबाद, १९५६, पृ० ६६।

२. वही, पृ० ६७।

३. वही, पृ० ६७।

गौण छायावादी कवियों ने भी काव्य में कल्पना के प्राथमिक महत्त्व को स्वीकार किया है, जिनमे **मोहनलाल महतो 'वियोगी'**[1] और **लक्ष्मीनारायण मिश्र 'श्याम'**[2] के नाम उल्लेखनीय माने जा सकते हैं।

इस प्रकार प्रमुख छायावादी कवियों के द्वारा कल्पना के सम्बन्ध में व्यक्त विचारों के विवेचन-विश्लेषण के बाद अब कल्पना के प्रति छायावादी दृष्टिकोण के वैशिष्ट्य का निरूपण कर लेना आवश्यक है। इस निरूपण के प्रसंग में यथास्थान पाश्चात्य सौदर्यशास्त्र, विशेषकर अग्रेजी साहित्य मे निरूपित 'रोमाण्टिक' कल्पना के साथ उसके साम्य-वैषम्य का भी निर्देश किया जायगा।

कल्पना के प्रति एक विशिष्ट भगिमा ही वह व्यावर्त्तक गुण है, जो छायावादी कवियों को अपने पूर्ववर्त्तियों से नितान्त पृथक् सिद्ध करती है।[3] छायावादी युग से पूर्व द्विवेदी-युग में कल्पना का विशेष महत्त्व नहीं था। किन्तु, छायावादी कवियों ने सिद्धान्त और व्यवहार में यह घोषित तथा सिद्ध किया कि कल्पना ही कविता का आधारभूत तत्त्व है। इन्होंने यह सिद्ध किया कि कल्पना कोई निराधार क्रिया, मनोरथमात्र अथवा मनोविजृम्भण नहीं है, बल्कि वह मानव-चेतना की विधायक शक्ति, मानव-मन की एक आत्मनिलीन क्रिया और वस्तुगत सत्य की अवगति के आधार पर नवीन रूपों की मानसिक रचना है। स्पष्टत: छायावादियों का कल्पना के प्रति यह निविड़ आग्रह

---

१. कर प्रवेश कल्पना-लोक में
कविता-उत्स प्रवाहित कर।
—वियोगी, एकतारा, हिन्दी पुस्तक भण्डार, लहेरियासराय, प्र० सं०, पृ० ५१।

अथवा

सुखद कल्पना की वीणा ले,
गाता फिर अनन्त संगीत।
—वियोगी, निर्माल्य, पुस्तक भण्डार, लहेरियासराय, प्र० सं०, पृ० २०।

२. मनस्तत्व का निपुण पारखी
तन्मयता का नेमी—
अमर कल्पना का स्रष्टा
... ...
रहता मेरे मन में।
—लक्ष्मीनारायण मिश्र 'श्याम', अन्तर्जगत्, हिन्दी पुस्तक भण्डार, लहेरियासराय, प्रथम संस्करण, पृ० १६।

३. अंग्रेजी के रोमाण्टिक कवियों की प्रमुख विशेषता का निर्देश करते हुए बाउरा ने भी उनकी कल्पना-भंगी के वैशिष्ट्य का ही उल्लेख किया है।—S. M. Bowra, The Romantic Imagination, London, 1961, p. I.

वैयक्तिकता के प्रति इनके प्रबल मोह का परिणाम था। इस तरह प्रत्येक छायावादी कवि अपनी रुचि और परिवेश के अनुकूल अलग-अलग कल्पना-लोक का स्रष्टा बन बैठा।

जिस प्रकार अंग्रेजी के रोमाण्टिक कवि कल्पना के प्रति कुछ-कुछ भिन्न धारणाएँ[1] रखते हुए भी कल्पना के महत्त्व के विषय मे एकमत थे, उसी प्रकार छायावादी कवि कल्पना के प्रति थोड़ी भिन्न धारणा (जिसका उल्लेख पिछले पृष्ठों में प्रसाद, निराला, पन्त, महादेवी और रामकुमार वर्मा के कल्पना-सिद्धान्त के विवेचन मे किया जा चुका है) रखते हुए भी कल्पना को पार्यन्तिक महत्त्व देने में एकमत थे। उपर्युक्त विश्लेषण से यह सिद्ध होता है कि रोमाण्टिक कवियों की तरह छायावादी कवि भी कल्पना के सम्बन्ध में इन तीन बातों पर एकमत थे :

(क) कल्पना कवि और काव्य के लिये सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है।

(ख) कल्पना में एक अलौकिक शक्ति होती है।

(ग) कल्पना अलीक नहीं होती, उसमे भी सत्य का अश रहता है।

सामान्यत: छायावादी कवि कल्पना का सम्बन्ध उस अन्तर्दृष्टि से मानते हैं, जो अनुद्घाटित और अदृश्य सत्यों का नवान्वेषण करती है। सचमुच, कल्पना और अन्तर्दृष्टि एक ही शक्ति के दो आसन्न पहलू है। इसलिये छायावादी कवि कल्पना का आशय सत्य और यथार्थ से पलायन नही मानते है। अंग्रेजी के रोमाण्टिक कवि भी कल्पना को ही चरम-सत्य मानते थे और कल्पना-शक्ति के अधिकरण आत्म-जगत् को बहिर्जगत् या भूतात्मक सत्ता की तरह सत्य स्वीकार करते थे।[2] इन रोमाण्टिक कवियों की इस दृष्टि का समर्थन, जैसा कि **बाउरा**[3] ने भी कहा है, **काण्ट** और **शेलिंग** के दर्शन से भी होता

---

१. जैसे, कल्पना के प्रति विलियम ब्लेक की धारणा बहुत ही आस्तिक और आध्यात्मिक थी। इनके अनुसार कल्पना साक्षात् ब्रह्म की विभूति है, जिसके प्रसार का क्षेत्र मनुष्य का आत्मजगत् है। इसी तरह कॉलरिज ने यद्यपि कल्पना के लिए ऐसे आस्तिक और परम रहस्यमय शब्दों का व्यवहार नही किया है तथापि कॉलरिज की कल्पना-संबंधी मान्यताओं का निष्कर्ष ब्लेक से भिन्न नहीं है। किन्तु, वर्ड्सवर्थ, शेली और कीट्स ने कल्पना के संबंध में जो विचार व्यक्त किये हैं, वे ब्लेक और कॉलरिज के विचारों से भिन्न है।

२. Lascelles Abercrombie, Romanticism, London, 1963, p. 43, 102.

३. S. M. Bowra, The Romantic Imagination, London, 1961, page 8.

था ।[1] किन्तु, मेरी दृष्टि में अंग्रेजी के रोमाण्टिक कवि हों, या हिन्दी के छायावादी कवि,—इन्होंने किसी अधीत ज्ञान के आधार पर कल्पना को महत्त्व नहीं दिया, बल्कि यह तो उनकी आन्तरिकता और आत्मानुभूति की माँग थी। इसी आन्तरिकता और आत्मानुभूति की माँग के अनुसार **ब्लेक** जैसे रोमाण्टिक कवियों ने **न्यूटन** इत्यादि की कोटि के वैज्ञानिकों द्वारा निर्दिष्ट भूतात्मक जगत् को तुच्छ सिद्ध कर दिया।[2] इन कवियों का विश्वास था कि ये कल्पना और अन्तर्दृष्टि द्वारा बाह्य जगत् और अन्तर्जगत् को अच्छी तरह समझ सकते हैं और उसकी विशेषताओं का सत्य के आलोक में उद्घाटन कर सकते हैं। इन्हीं अनुद्घाटित सत्यों और अन्तर्जगत् के अन्वेषण ने छायावादी कवियों के उन संवेगो को समीरित किया, जिनके कारण वे कवि बन सके। अन्तर्जगत् की इस कल्पना के 'अतिशय' का प्रभाव छायावादी कविता की प्रेषणीयता पर भी पडा, क्योंकि वे जिस वैयक्तिक कल्पना-लोक का प्रलुब्ध चित्रण अपनी कविताओ में करने लगे, उसकी व्यंजना अस्पष्ट संकेतों और अपूर्ण अभिव्यक्ति के द्वारा ही संभव हो सकी। फलस्वरूप, उन अस्पष्ट संकेतों और अपूर्ण अभिव्यक्ति से निष्पन्न होने वाली व्यंजना तक पहुँचने में सामान्यतः पाठकों को कठिनाइयाँ होने लगी। इसलिये छायावादी कविता की प्रेषणीयता एक नितान्त नवीन भूमि पर प्रतिष्ठित हो गई, जो प्रेषणीयता के सभी पूर्व-वर्ती मानदण्डों से भिन्न थी—रहस्यवादी कविता को प्रेषणीयता से भी भिन्न। कहा जा सकता है कि रहस्यवादी कविता में भी अस्पष्ट संकेतों और अपूर्ण अभिव्यक्ति से काम लिया गया था। अतः छायावादी कविता की प्रेषणीयता रहस्यवादी कविता की प्रेषणीयता से मिलती-जुलती है। किन्तु, गहराई मे जाने पर इन दोनों की प्रेषणीयता में पर्याप्त अन्तर मिलता है। अस्पष्ट संकेतों और अपूर्ण अभिव्यक्ति के बावजूद रहस्यवादी कविता के कुछ सुनिश्चित कूट प्रतीक थे (जैसे—चक्र, आज्ञा, गाय, सिंह, कौआ, इत्यादि) और उनकी दार्शनिक

---

१. "...the individual is at every moment a microcosm, and in him is reflected the whole cosmos." quoted on p. 22. The Romantic Theory of Poetry by A. E. Powell, London, 1926.

२. The Atoms of Democritus
And Newton's Particles of light
Are sands upon the Red sea-shore,
Where Israel's tents shine so bright.
—William Blake, 'Poetry And Prose', p. 107.

तानी-भरनी के पीछे किसी 'मत' या 'पंथ' की सुनिर्णीत पीठिका थी, लेकिन छायावादी कविता के अस्पष्ट सकेतों और अपूर्ण अभिव्यक्ति के पीछे छायावादी कवियों की आन्तरिकता और आत्मानुभूति ही प्रमाण थी। अतः छायावादी कविता के साथ आधुनिक हिन्दी कविता मे एक नवीन आत्मनिष्ठ प्रेषणीयता का अवतरण हुआ। इसीलिये छायावादी कविता की प्रेषणीयता का आधार, माध्यम या साधन मनुष्य की तर्कप्रवण बुद्धि या भाव-पक्ष की कोई विधिबद्ध सुनिश्चित प्रणाली नही है, बल्कि उसकी प्रेषणीयता का आधार, माध्यम या साधन अन्तर्जगत् मे प्रसार पाने वाली सहृदय-चित्त की तद्वत् आन्तरिकता और आत्मानुभूति है, जिनसे प्रेरित होकर उसकी (छायावादी कविता की) सृष्टि हुई है। इस प्रकार छायावादी कल्पना का विशिष्ट गुण है—आन्तरिकता और आत्मानुभूति के आधार पर अस्पष्ट सकेतों के द्वारा अन्तर्जगत् के सत्यों का नवान्वेषण करना; उन सत्यो का भी, जो तर्कबुद्धि से अधीत बाह्य जगत् के प्रत्यक्ष सत्य अर्थात् यथार्थ से भिन्न तक प्रतीत हो सकते है। सारांश यह है कि छायावादी कल्पना के द्वारा निर्दिष्ट सत्य अन्तर्जगत् का सत्य होता है, अतः वैयक्तिक होता है—सर्वसाधारण या सामान्य नही होता है।[1]

छायावादी कवियों के लिए बाह्य जगत् और उसकी ऐन्द्रिय प्रतीति का इतना ही महत्त्व था कि उनसे उद्बुद्ध होकर ये कवि अन्तर्जगत् मे पर्यटन करने लगते थे। अर्थात्, छायावादी कवियों के लिए यह बाह्य जगत् इनके अन्तर्जगत् का उद्दीपन-मात्र था और इसका सारा श्रेय इनकी कल्पना की विशिष्ट भंगिमा को था—उस विशिष्ट भगिमा को, जिसके अनुसार कल्पना सर्वातिशायी अदृश्य तक पहुँचाने वाली एक अलौकिक शक्ति है।

इस कथन का यह आशय नहीं है कि कल्पना की उपर्युक्त विशिष्ट भंगिमा के कारण छायावादी कवि केवल अन्तर्जगत् की बातें करते थे और बहिर्जगत् उनके लिए एक वर्जित प्रदेश था। छायावादी कवि तो **कीट्स** की तरह बहिर्जगत् को भी प्रलुब्ध आँखों से देखते थे—बहिर्जगत् के सौंदर्य मे रसलीन होते थे; किन्तु, जब उनका तत्त्व-बोध जगता था, तब वे बहिर्जगत् की अपेक्षा अन्तर्जगत् को महत्त्व देने लगते थे और वे अन्तर्जगत् को ही सर्वातिशायी शक्ति या परम चेतना का अधिकरण मानने लगते थे। इसलिए छायावादी कविता में हम अदृश्य जगत् के सत्य और शोभा-सुषमा को उद्घाटित करने के लिए भावुक

---

१. अंग्रेजी के रोमाण्टिक कवियो, विशेषकर विलियम ब्लेक ने भी अन्तर्जगत् के इस वैयक्तिक सत्य को साधारण सत्य या ज्ञान की तुलना में बहुत ऊँचा स्थान दिया है। ब्लेक ने तो साधारण सत्य या सामान्य ज्ञान की बहुत ही अवमानना की है।

—William Blake, Poetry & Prose, p. 777.

के अवतरण में एक प्रकार का आनन्द-संचार रहता है, जिसे **एडिसन** ने 'कल्पना से प्राप्त द्वितीय आनन्द'[1] कहा है। छायावादी कविता में हम **एडिसन** द्वारा प्रतिपादित दोनों प्रकार का कल्पना-विधान पाते है—आलम्बन की उपस्थिति में योजित कल्पना और अनुपस्थित आलम्बन की स्मृति में योजित कल्पना, जिनका सोदाहरण विश्लेषण आगामी पृष्ठों में किया जायगा।

एडिसन ने कल्पना से प्राप्त द्वितीय आनन्द को ही कला-जगत् का उपजीव्य माना है। किसी भी कलाकृति की श्रेष्ठता इसी द्वितीय आनन्द की सृष्टि के साथ सानुपातिक सबंध रखती है। जो कलाकृति इस 'द्वितीय आनन्द' का निबन्धन जितनी अधिक मात्रा मे कर पाती है, वह कलाकृति उतनी ही श्रेष्ठ सिद्ध होती है। इस प्रसग में **एडिसन** ने एक विचारणीय बात कही है, जो सौन्दर्यशास्त्रीय दृष्टि से बहुत महत्त्वपूर्ण है। इनका कहना है कि दृश्य कलाएँ—वास्तुकला, मूर्तिकला और चित्रकला—द्वितीय आनन्द के साथ ही प्राथमिक आनन्द की भी सृष्टि करती हैं। अत: इनसे प्राप्त आनन्द का स्तर काव्य-कला से प्राप्त आनन्द के स्तर से हीन कोटि का रहता है, क्योंकि काव्य-कला विशुद्ध रूप मे केवल द्वितीय आनन्द की सृष्टि करती है। इस प्रकार **एडिसन** ने प्राथमिक और द्वितीय आनन्द की मिश्रित भूमि को दृश्य कलाओं का क्षेत्र माना है तथा मात्र द्वितीय आनन्द की विशुद्ध भूमि को श्रव्य-कला, विशेषकर काव्य का क्षेत्र माना है। द्वितीय आनन्द के प्रति अभिशंसक दृष्टिकोण रखने के कारण इन्होंने कल्पना पर विचार करते समय प्राथमिक आनन्द को उपेक्षित कर द्वितीय आनन्द का ही खास ढग से विश्लेषण किया है। छायावादी कविता में भी हम 'द्वितीय आनन्द' की प्रधानता पाते हैं, क्योंकि छायावादी कल्पना-विधान में स्मृति-निर्भर कल्पना की प्रचुरता है।

कल्पना से प्राप्त उक्त दो प्रकार के आनन्द की तरह **एडिसन** ने कल्पना के दो प्रकार के व्यापारों का भी निर्देश किया है। आशय यह है कि इनके अनुसार कला-जगत् में कल्पना दो रूपों में अपना व्यापार करती है। कल्पना का प्रथम व्यापार कलाकार के मस्तिष्क को प्रभावित करता है और उसका दूसरा व्यापार सृष्ट कलाकृति के अभिशंसन के निमित्त सहृदयचित्त को अनुकूल वना देता है। इस प्रकार कल्पना का प्रथम व्यापार कल्पना-जनित प्राथमिक आनन्द से संबद्ध है, क्योंकि प्रथम व्यापार की दशा मे कवि-चित्त बाह्य उद्दीपन, आलम्बन-रूप मे गृहीत वस्तु या अन्य ऐन्द्रिय सन्निकर्ष के प्रभाव-क्षेत्र में रहता

---

१. 'Secondary Pleasure'. विस्तार के लिए द्रष्टव्य :

Joseph Addison, The Spectator, No. 411, June 21, 1712, page 28.

है। किन्तु, जब कलाकार का चित्त उत्तेजना की दशा को पार कर वास्तु, मूर्त्ति, चित्र या काव्य जैसी कला का सृजन कर लेता है, तब उसकी कला में द्वितीय आनन्द को उत्पन्न करने की शक्ति आ जाती है। कल्पना का यह द्वितीय आनन्द, जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, अन्य कलाओं की अपेक्षा काव्य-कला में अधिक विकास पाता है। इस प्रकार **एडिसन** ने अठारहवी शताब्दी के पूर्वार्द्ध में कल्पना-तत्त्व पर ऐसे मौलिक विचार प्रस्तुत किये है, जिनसे परवर्ती साहित्य-चिन्तन भूरिशः प्रभावित हुआ है[1] और जिनके आलोक मे छायावादी कल्पना-विधान का विश्लेषण करने पर उसमें प्राप्त चाक्षुष प्रतीतियों एव चाक्षुष बिम्बों की प्रचुरता का रहस्य स्पष्ट हो जाता है।

छायावादी कविता मे अन्तर्जगत्, वैयक्तिकता और रहस्यप्रियता के प्रति आग्रह रहने के कारण उसके द्वारा योजित कल्पना-विधान में कभी-कभी वस्तु-सम्पृक्त आधार की अवहेलना हो गई है, जिसके फलस्वरूप छायावादी कविता में यत्र-तत्र अतिकल्पना (फैंसी) का अवतरण हो गया है। कल्पना जब कवि के भाव की अभिव्यक्ति अथवा अनुभूति के प्रेषण के लिए उपयुक्त सामग्री या समर्थ वस्तु-सम्पृक्त-आधार प्रस्तुत नही कर सकती है, तब वह अतिकल्पना बन जाती है। जैसे, **प्रसाद** ने निम्नलिखित पंक्तियों में प्रिया की शोभा को व्यक्त करने के लिए जिस कल्पना का आनयन किया है, वह किसी समर्थ वस्तु-सम्पृक्त आधार के अभाव में अतिकल्पना बनकर रह गई है—

चचला स्नान कर आवे
चन्द्रिका-पर्व में जैसी,
उस पावन तन की शोभा
आलोक मधुर-थी वैसी।[2]

भला, बिजली पूर्णिमा की चाँदनी में कैसे स्नान कर सकती है! बादलों के बिना बिजली नही चमक सकती और बादलों के रहने पर चाँदनी नहीं छिटक सकती। अतः यहाँ बिजली और चाँदनी को, जिन दोनों में अन्योन्याभाव-सबंध है, परस्पर मिला देना 'फैंसी' का ही कमाल है। इसी तरह जब कवि अपने कल्पना-विधान में पर्यवेक्षण और अनुभूति को त्यागकर तर्क-बुद्धि का सहारा लेता है, तब अतिकल्पना (फैंसी) का अवतरण होता है। जैसे, **प्रसाद** ने 'निर्वेद' सर्ग में मनु के हृदय पर पड़े हुए श्रद्धा के प्रभाव को मनु के ही मुख से वर्णित कराते समय लिखा है—

---

१. Walter N. John Hipple, 'The Beautiful, The Sublime And The Picturesque', Carbondale, 1957, page 13.

२. प्रसाद, आँसू, भारती-भण्डार, प्रयाग, नवम् सस्करण, पृ० २४।

आशा की आलोक किरन से
कुछ मानस से ले मेरे,
लघु जलधर का सृजन हुआ था
जिसको शशि-लेखा घेरे—
उस पर बिजली की माला-सी
झूम पड़ी तुम प्रभा-भरी
और जलद वह रिमझिम बरसा
मन वनस्थली हुई हरी।[१]

यहाँ लघु जलधर के सृजन और मन-वनस्थली की हरीतिमा के लिए जितने उपकरण जुटाए गए है, उनमें अनुभूति के बदले तर्क-बुद्धि का योग है। **प्रसाद** की 'जल-विहारिणी' शीर्षक कविता में भी 'फैंसी' की उन्मुक्त उड़ान मिलती है, जिसमें कवि ने प्रसन्न चाँदनी का वर्णन अविरल उत्कट प्रेक्षणों के द्वारा प्रस्तुत किया है।[२] **प्रसाद** ने तो 'चित्र-मन्दिर'[3] शीर्षक कहानी और **'कामना'**[४] नाटिका में भी 'फैंसी' का प्रयोग किया है।

छायावादी कवियों के बीच **पन्त** की कविताओं में 'फैंसी' का विनियोग सबसे अधिक हुआ है। विशेषकर **पन्त** की प्रारम्भिक कविताओं, अर्थात् 'वीणा'-कालीन रचनाओं में तो 'फैंसी' की प्रचुरता है। **'वीणा'** का बालकवि कभी तुहिन-बिन्दु बनना चाहता है, कभी तरल तरंग और कभी कुमुद-कला। वह अपनी ऊर्णनाभ इच्छाओं के हिन्दोल पर पेंग भरता हुआ अनिर्णीत विकल्पों का अनमिल संग्रह बन जाता है—

तुहिन-बिन्दु बनकर सुन्दर,
कुमुद-किरण से सहज उतर
... ...

---

१. प्रसाद, कामायनी, भारती-भण्डार, प्रयाग, अष्टम संस्करण, पृ० २२५।

२. प्रसाद, कानन-कुसुम, हिन्दी-पुस्तक-भण्डार, लहेरियासराय, पृ० २९-३०।

३. 'चित्र-मन्दिर' शीर्षक कहानी में प्रसाद ने धाता और विधाता के अन्तरिक्षगमन के प्रसंग में लिखा है—"...चलो, सुरबालाओं का सोमपान हो रहा है। एक-एक चषक हम लोग भी लें—कहकर विधाता ने किरणों की रस्सी पकड़ ली और धाता ने भी। दोनों पेंग बढ़ाने लगी। ऊँचे जाते-जाते वे अन्तरिक्ष में छिप गईं।"
—प्रसाद, इन्द्रजाल, भारती-भण्डार, इलाहाबाद, तृतीय संस्करण, पृ० ८७।

४. 'कामना' नाटिका के प्रथम अंक के तृतीय दृश्य में प्रसाद ने 'फैंसी' का प्रयोग किया है। विलास से कामना कहती है—"जब विलोड़ित जल-राशि के स्थिर होने पर यह द्वीप ऊपर आया, उसी समय हम लोग शीतल तारिकाओं की किरणों की डोरी के सहारे नीचे उतर गये।"
—प्रसाद, कामना, भारती-भण्डार, प्रयाग, पंचम संस्करण, पृ० ११।

कुमुद-कला बन कलहासिनि,
अमृत-प्रकाशिनि, नभ-वासिनि,
तेरी आभा को पाकर माँ !
जग का तिमिर-त्रास हर दूँ—
नीरव-रजनी मे निर्भय ।[1]

'वीणा' में इस उन्मुक्त अतिकल्पना से रचित और भी कविताएँ मिलती हैं । जैसे, कवि विहग-बाला से कहता है—

है स्वर्ण-नीड़ मेरा भी जग-उपवन में,
मै खग-सा फिरता नीरव भाव-गगन में,
उड़ मृदुल कल्पना-पंखों में, निर्जन में,
चुगता हूँ दाने बिखरे तृन में, कन में ।[2]

पन्त के प्रौढ़ि-काल की कुछ रचनाओं मे भी अतिकल्पना की अविरल आकाश-गंगा मिलती है । जैसे, 'दिवा-स्वप्न' शीर्षक कविता में कवि अतिकल्पना के प्रवाह मे सोचता है—

यह सैकत तट पिघल पिघल यदि बन जाता जल,
बह सकती यदि धरा चूमती हुई दिगंचल,
... ...
मेरे चल पद चूम धरणि हो उठती कम्पित
एक सूर्य होता नभ में, सौ भू पर विजडित ।[3]

पन्त ने कविताओं मे ही नही, **प्रसाद** की तरह गद्य में भी 'फैसी' का प्रयोग किया है । उदाहरणार्थ, **'ज्योत्स्ना'** में 'छाया' नामक पात्र को प्रस्तुत करते हुए इन्होंने लिखा है—"यह स्त्री-आकृति छाया है, जो दोपहर की धूप न सह सकने के कारण दिन भर पेड़ों के नीचे सो रहने के बाद स्निग्ध संध्या का उपभोग करने बाहर निकली है और बहुत प्रसन्न जान पड़ती है । दिनभर के आलस्य की थकान मिटाने के लिए अपने कुम्हलाये अंगों को बार-बार खींचकर ही मानो उसने अपनी आकृति इतनी लम्बी बना ली है ।"[4] ठीक ऐसी ही अतिकल्पना का प्रयोग **पन्त** ने रोहिणी के इस कथन में उपस्थित किया है —"तू अभी नई आई है बहन ! इस तरह कई तन्वंगी ताराएँ नृत्य के उल्लास में फिसल पड़ती हैं । मर्त्यलोक वाले इसे तारे का टूटना कहते हैं ।"[5]

---

१. पन्त, वीणा, इण्डियन प्रेस, प्रयाग, १९४२, पृ० २-३ ।
२. वही, पृ० ४८ ।
३. पन्त, ग्राम्या, भारती-भण्डार, प्रयाग, प्रथम संस्करण, पृ० ७३-७४ ।
४. पन्त, ज्योत्स्ना, भारती-भण्डार, इलाहाबाद, द्वितीय संस्करण, पृ० २-३ ।
५. वही, पृ० १९ ।

पन्त की दृष्टि में 'फैंसी' कल्पना का वह रूप है, जो किसी प्रकार के वस्तु-सम्पृक्त आधार से एकदम हीन रहता है। अतः इनके शब्दों में हम 'फैसी' को 'कल्पना का अनिर्वचनीय इन्द्रजाल'[1] कह सकते हैं। यह 'अनिर्वचनीय इन्द्रजाल' 'बादल' शीर्षक कविता की इन पक्तियों में देखा जा सकता है—

नग्न गगन की शाखाओं में,
फैला मकडी का-सा जाल।
अम्बर के उड़ते पतंग को,
उलझा लेते हम तत्काल।[2]

उपरिउद्धृत पंक्तियों में **पन्त** ने बादल के लिए जिस अतिकल्पना या विशुद्ध 'फैसी' का प्रयोग किया है, उसी का आश्रय निराला ने भी 'जलद के प्रति' शीर्षक कविता में लिया है। सम्पूर्ण कविता में अतिकल्पना की परिव्याप्ति है, जिसका प्रकर्ष ऐसी पक्तियों में मिलता है—

भौऍं तान दिवाकर ने जब
भू का भूषण जला दिया,
माँ की दशा देखकर तुमने
तब विदेश प्रस्थान किया;
वहाँ होशियारों ने तुमको
खूब पढाया, बहकाया,
'द' जोड़ ग्रेड बढ़ाया, तुम पर,
जाल फूट का फैलाया,
'जल' से 'जलद' कहा, समझाया,
भेद तुझे ऊँचे बैठाल।[3]

इसी तरह **निराला** ने 'वन-कुसुमों की शय्या' शीर्षक कविता की इन पंक्तियों में अतिकल्पना का आश्रय लिया है—

सोती हुई सरोज-अंक पर,
शरत्-शिशिर दोनों बहनों के
सुख-विलास-पद-शिथिल अंग पर,
पद्म-पत्र पंखे झलते थे,
मिलती थी कर-परण समीरण धीरे-धीरे आती—
नींद उचट जाने के भय से थी कुछ-कुछ घबराती।[4]

---

१. पन्त, पल्लव, इण्डियन प्रेस, प्रयाग, द्वितीयावृत्ति, १९३१, पृ० ५।
२. पन्त, आधुनिक कवि, हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन, प्रयाग, छठा संस्करण, पृ० २७।
३. निराला, परिमल, गंगा पुस्तक माला, लखनऊ, प्रथमावृत्ति, पृ० ५६-५७।
४. वही, पृ० १२७।

महादेवी की कविताओं में भी यह प्रवृत्ति यत्र-तत्र मिलती है। किन्तु, इन्होंने अतिकल्पना को अधिकतर 'कल्पना-कौतुक' के रूप में स्वीकार किया है। जैसे—

शून्य नभ में तम का चुम्बन
जला देता असख्य उडुगन;
बुझा क्यों उनको जाती मूक,
भोर ही उजियाले की फूंक ?[1]

अथवा

पी उजाला तिमिरपल में,
फेंकता रवि-पात्र जल में।
तब पिलाते स्नेह अणु-अणु,
को छलकते नयन !
दु:ख-मद के चषक यह नयन।[2]

इस तरह प्राय: सभी छायावादी कवियों ने अतिकल्पना का सहारा लिया है, किन्तु **पन्त** की कविताओं में इसका प्रयोग सबसे अधिक हुआ है। इनकी अतिकल्पना कहीं-कहीं अनगढ़ भी हो गई है। जैसे, 'चाँदनी' शीर्षक कविता की ये आरम्भिक पंक्तियाँ देखी जा सकती है—

नीले नभ के शतदल पर,
वह बैठी शारद हासिनि।
मृदु करतल पर शशि-मुख धर,
नीरव, अनिमिष, एकाकिनि।[3]

यहाँ नीले नभ के शतदल पर बैठने वाली शशिमुखी को औंधे मुँह लटकना होगा। अत: कई स्थलों पर **पन्त** की अतिकल्पना 'बाल-कल्पना-सी'[4] मालूम पडती है। यों, **पन्त** की कुछ कविताओं में अतिकल्पना और वर्ण-बोध का सुष्ठु मिश्रण मिलता है। उदाहरणार्थ, '**पल्लव**' में संगृहीत 'भादों की भरन' के प्रथम खण्ड की इन पंक्तियों को देखा जा सकता है—

धुधुकती है जलदों से ज्वाल,
बन गया **नीलम** व्योम **प्रबाल,**
आज **सोने** का संध्याकाल,
जल रहा जतुगृह-सा विकराल;

---

१. महादेवी, रश्मि, साहित्य भवन, इलाहाबाद, तृतीय संस्करण, पृ० ५।
२. महादेवी, नीरजा, प्रथम संस्करण, भारती-भण्डार, प्रयाग, पृ० ८६।
३. पन्त, आधुनिक कवि, हिन्दी साहित्य-सम्मेलन, प्रयाग, छठा संस्करण, पृ० ५६।
४. पन्त, पल्लव, इण्डियन प्रेस, प्रयाग, १६३१, 'विश्ववेणु' शीर्षक कविता, पृ० ६१।

पटक रवि को बलि-सा पाताल,
एक ही वामन-पग में—
लपकता है तिमिर तत्काल,
धुएँ का विश्व विशाल ![1]

तदनन्तर, पन्त ने वैसी अतिकल्पना का भी प्रयोग किया है, जिसे हम कल्पना के पार्श्व में प्रदोलित अतिकल्पना कह सकते हैं। जैसे, 'गंगा की साँझ'[2] शीर्षक कविता पर हम इस दृष्टि से विचार कर सकते है। उक्त कविता के प्रारम्भ में कवि ने मुक्त अतिकल्पना का प्रयोग किया है—

अभी गिरा रवि, ताम्र कलश-सा,
गंगा के उस पार।
क्लान्त पांथ, जिह्वा बिलोल,
जल में रक्ताभ प्रसार।
भूरे जलदों से धूमिल नभ,
विहग छदों से बिखरे—
धेनु-त्वचा-से सिहर रहे,
जल में रोओं-से छितरे।

किन्तु, कवि पुनः सचेत होकर उस मानसिक धरातल पर उतर आया है, जो अतिकल्पना के निकट पड़ता है—

शान्त, स्निग्ध सध्या सलज्ज मुख,
देख रही जल-तल में।
नीलारुण अंगों की आभा,
छहरी लहरी-दल में।
छलक रहे जल के अंचल से,
कंचु-जलद स्वर्णप्रभ।
चूर्ण कुन्तलों-सा लहरों पर,
तिरता घन उर्मिल नभ।[3]

इसी तरह पन्त की कई कविताओं में कल्पना के पार्श्व में प्रदोलित होने वाली कल्पना का विधान मिलता है।[4] ऐसी अतिकल्पना के एक रूप को हम सावयव

---

१. पन्त, आधुनिक कवि, हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन, प्रयाग, छठा संस्करण, पृ० १६।
२. पन्त, युगवाणी, भारती भण्डार, इलाहाबाद, प्रथम संस्करण, पृ० ३१।
३. पन्त, युगवाणी, भारती-भण्डार, प्रयाग, प्रथम संस्करण, पृ० ३२।
४. जैसे, 'प्रभात का चाँद' शीर्षक कविता की इन पंक्तियों में—
तिरते उजले बादल नभ में
बेला कलियों से कुम्हलाये,

अतिकल्पना कह सकते है। सावयव अतिकल्पना में 'फैंसी' से आनीत अप्रस्तुतों और बंकिम उक्तियों का एक अविरल क्रम रहता है। पन्त को सावयव अतिकल्पना बहुत ही प्रिय है। 'ग्रन्थि' में नायिका के रूप-वर्णन के प्रसंग में इन्होंने इसका सुन्दर प्रयोग किया है—

देख रति ने मोतियों की लूट यह,
मृदुल गालों पर सुमुखि के लाज से
लाख सी दी त्वरित लगवा, बन्द कर
अधर-विद्रुम-द्वार अपने कोष के।[1]

इसी तरह पन्त की 'गिरि प्रान्तर'[2] शीर्षक कविता भी सावयव अतिकल्पना का रोचक उदाहरण प्रस्तुत करती है।

इस प्रकार इस सोदाहरण विवेचन से यह स्पष्ट है कि काव्य-निबद्ध भावों के प्रेषण के लिए समर्थ वस्तु-सम्पृक्त आधार के अभाव तथा पर्यवेक्षण और अनुभूति के बदले तर्क-बुद्धि की प्रधानता के कारण छायावादी कल्पना-विधान का एक अनुपेक्षणीय अंश अतिकल्पना से आक्रान्त है।

उपरिलिखित आवश्यक पृष्ठभूमि के उपरान्त अब छायावादी कविता में प्रयुक्त कल्पना-विधान के विविध प्रकारों का विवेचन प्रस्तुत किया जाएगा। 'सौन्दर्यशास्त्र के तत्व' के अन्तर्गत हम कल्पना के तात्त्विक अध्ययन में यह देख चुके है कि कल्पना के प्रमुख प्रकार दो हैं—पुनर्निमायक कल्पना और रचनात्मक कल्पना।[3] पुनिर्मायक कल्पना में विगत घटनाओं अथवा प्राप्त अनुभूतियों को स्मृति से उद्‌बुद्ध कर मानसिक बिम्बों में बदला जाता है और उनका कलात्मक प्रेषण किया जाता है। यह कल्पना अधिकतर स्मृति-निर्भर होती है।

छायावादी कविता मे स्मृति-निर्भर कल्पना का विनियोग संस्कारोद्‌बोध के रूप में अधिक हुआ है। अतः उसमें अतीत अथवा पूर्वभुक्त की आवृत्ति से अधिक सश्लेषण-व्यापार की प्रधानता है। संश्लेषण-व्यापार-प्रवण कल्पना प्रायः विधायक कल्पना का रूप धारण कर लेती है, जिसका अप्रतिम योग हम छायावादी कविता के अभिव्यक्ति-पक्ष में पाते है। यह इसलिए कि छायावादियों की वैयक्तिक अनुभूति और भाव को छायावादी कवियों की कल्पना-शक्ति ने

उड़ता सँग-सँग नागदन्त-सा
चाँद सीप के पर फैलाये।
—पन्त, रश्मिबंध, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, १९५८, पृ० ८१-८२।

१. पन्त, ग्रन्थि, भारती भण्डार, इलाहाबाद, तृतीय संस्करण, पृ० १४।
२. पन्त, रश्मिबंध, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, १९५८, पृ० १०९।
३. द्रष्टव्य—संलग्न तालिका (संख्या १)।

ही वह संक्रमणशीलता का गुण प्रदान किया, जो कवि की वैयक्तिक अनुभूतियों और भावों को पाठक-वर्ग के लिए ग्राह्य बना सका। यह विशेषता उन स्थलों पर और भी निखर सकी है, जहाँ छायावादी कवियों ने जगत्-जीवन के संस्कारों तथा ऐन्द्रिय बोधों के साथ अपनी कल्पना के सश्लेषण को खण्डित होने से बचा लिया है अथवा अप्रस्तुत-विधान के लिए रूप-साम्य एवं धर्म-साम्य का परित्याग कर प्रभाव-साम्य को योजित करते समय भी तद्गत आधार (प्रभाव-साम्य के आधार) को गोचरता की सीमा का अतिक्रमण नहीं करने दिया है। इस प्रसंग में यह प्रश्न उठाया जा सकता है कि छायावादी कल्पना-विधान में स्मृति अथवा संस्कारोद्‌बोध के द्वारा आनीत पूर्वानुभूतियाँ किस प्रकार सर्वाधिक अभिव्यक्ति पा सकी है। इसका उत्तर यह है कि सस्कारोद्‌बोध अथवा संचित अनुभूतियों से भी काव्य का स्फुरण होता है। काव्य-सृजन के लिए विभाव की स्थूल अथवा प्रत्यक्ष उपस्थिति सदैव अनिवार्य नहीं है। इस तथ्य के समर्थन में वर्ड्स्वर्थ की प्रसिद्ध उक्ति—इमोशन्स रिकलेक्टेड इन ट्रैंक्विलिटी' और उनके 'डैफोडिल्स' को स्मरण कर लेना पर्याप्त है।

इस प्रकार स्मृति-निर्भर कल्पना की यह एक विशेषता है कि इसमें आलम्बन चक्षुषा अप्रत्यक्ष, किन्तु, मनसा प्रत्यक्ष रहता है। मनश्चक्षुओं के समक्ष इसके आलम्बन की दशा वर्ड्स्वर्थ के 'डैफोडिल्स' जैसी होती है। ऐसी ही स्मृति-निर्भर कल्पना निराला की इन पक्तियों में निखर उठी है—

> रही आज मन में,
> वह शोभा जो देखी थी वन मे।
> ... ...
> साथ-साथ नृत्यपरा कलि-कलि की अप्सरा,
> ताल लतायें देती करतल पल्लव-धरा,
> भक्त भोर चरणों के नीचे, नत तन में।[1]

इसी तरह पन्त की 'हिमाद्रि'[2] तथा 'हिमाद्रि और समुद्र'[3] शीर्षक कविताएँ स्मृति-निर्भर कल्पना को उदाहृत करती हैं। इन दोनों कविताओं के कल्पना-विधान की स्मृति-निर्भरता को लक्ष्य करते हुए स्वयं कवि ने लिखा है—"हिमालय पर मेरी सबसे बड़ी रचना मद्रास मे लिखी गई, जहाँ विशाल समुद्र के तट पर हिमालय के विराट् सौन्दर्य की शुभ स्मृति मनश्चक्षुओं के सामने निखर उठी और किशोर जीवन की अनेक मधुर स्मृतियों एवं अनुभवों में पुंजीभूत

---

१. निराला, गीतिका, भारती भण्डार, प्रयाग, चतुर्थ संस्करण, पृ० ६६।
२. पन्त, स्वर्णकिरण, भारती भण्डार, प्रयाग, प्रथम संस्करण, पृ० ८।
३. वही, पृ० ४४।

प्रवासी मन में 'हिमाद्रि' तथा 'हिमाद्रि और समुद्र' शीर्षक रचनाएँ मूर्त्त हो उठीं।"[1] इतना ही नहीं, कवि ने 'हिमाद्रि' शीर्षक कविता की इन पक्तियों में कल्पना और स्मृति के सहयोग का स्पष्ट निर्देश किया है—

हृदय चाहता काव्य **कल्पना** को
किरीट पहनाना उज्ज्वल
स्मृति में ज्योति तरंगित स्वर्गिक
शृंगों के आलोक का तरल।[2]

इस प्रसग में स्मृति-निर्भर कल्पना और स्मृत्याभास-निर्भर कल्पना के अन्तर को ध्यान में रखना आवश्यक है। ये दोनों पुनर्निमायक कल्पना के उपभेद हैं। इन दोनों में मुख्य अन्तर यह है कि स्मृति-निर्भर कल्पना की आधारभूत अनुभूति कवि काव्य-निबद्ध पात्र की अपनी अनुभूति (स्मृति) होती है—व्यक्तिगत धरातल पर भोगी हुई होती है; किन्तु, स्मृत्याभास कल्पना की आधारगत अनुभूति (स्मृति) परोपलब्ध होती है, इतिवृत्तों अथवा पूर्ववर्त्तियों के कथन या आप्त मान्यताओं पर निर्भर रहती है। जैसे, **निराला** द्वारा रचित 'राम की शक्ति-पूजा' की ये पंक्तियाँ काव्य-निबद्ध पात्र की स्मृति-निर्भर कल्पना को उदाहृत करती है—

······याद आया उपवन
विदेह का,—प्रथम स्नेह का लतान्तराल मिलन
नयनों का—नयनों से गोपन—प्रिय सम्भाषण,—
पलकों का नव पलकों पर प्रथमोत्थान—पतन—
काँपते हुए किसलय, झरते पराग-समुदय—
गाते खग नव जीवन-परिचय, तरु मलय-वलय—
ज्योतिःप्रपात स्वर्गीय, ज्ञात छवि प्रथम स्वीय,
जानकी-नयन-कमनीय प्रथम कम्पन तुरीय।[3]

निराला के काव्य में ऐसी स्मृति-निर्भर पुनःप्रत्यक्षकारी कल्पना का विनियोग बहुत मिलता है। इनकी 'प्रेयसी' शीर्षक कविता में भी स्मृति-निर्भर पुनःप्रत्यक्षकारी कल्पना का सुन्दर विधान हुआ है—

याद है, उषःकाल,—
प्रथम किरण-कम्प प्राची के दृगों में,
प्रथम पुलक फुल्ल चुम्बित बसन्त की

---

१. पन्त, चिदम्बरा, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, १९५९, पृ० १९।
२. पन्त, स्वर्णकिरण, भारती भण्डार, प्रयाग, प्रथम संस्करण, पृ० ९।
३. निराला, अनामिका, भारती भण्डार, प्रयाग, द्वितीय संस्करण, पृ० ४५।

मंजरित लता पर,
प्रथम विहग-बालिकाओं का मुखर स्वर—
प्रणय-मिलन-गान,
प्रथम विकच कलि-वृन्त पर नग्न तनु
प्राथमिक पवन के स्पर्श से काँपती ।[1]

मानो, सभी बीती बातें स्मृति में तैर-तैरकर मनश्चक्षुओं के सामने फिर से उपस्थित हो रही है ।

इसी तरह **महादेवी** की रचनाओं में स्मृति-निर्भर कल्पना की प्रचुरता है । उदाहरण के लिए 'विसर्जन' शीर्षक कविता की ये पंक्तियाँ देखी जा सकती हैं—

झटक जाता था पागल वात
धूल मे तुहिन कणों के हार,
सिखाने जीवन का सगीत
तभी तुम आये थे इस पार ।
... ...
भूलती थी मैं सीखे राग,
बिछलते थे कर बारम्बार,
तुम्हें तब आता था करुणेश ।
उन्ही मेरी भूलों पर प्यार ।[2]

संभवत: काव्य के विरह-प्रधान होने के कारण ही **महादेवी** के कल्पना-विधान में स्मृति-निर्भर कल्पना की प्रचुरता है । विरह-काव्य में स्मृतियों की अधिकता रहती है, क्योंकि विरह-दशा में स्मृतियों के प्रति मोह का आविर्भाव स्वाभाविक है । **महादेवी** को भी स्मृतियों के प्रति मोह है, जिसका समर्थन इनकी 'स्मृति' शीर्षक कविता की इन पंक्तियों से होता है—

विस्मृति तिमिर में दीप हो,
भवितव्य का उपहार हो;
बीते हुए का स्वप्न हो,
मानव-हृदय का सार हो ।
... ...
तेरे बिना संसार में
मानव-हृदय श्मशान है,

---

१. निराला, अनामिका, भारती भण्डार, प्रयाग, द्वितीय संस्करण, पृ० २-३ ।
२. महादेवी, नीहार, साहित्य भवन लिमिटेड, इलाहाबाद, चतुर्थ संस्करण, पृ० १-२ ।

तेरे बिना है संगिनी !
अनुराग का क्या मान है ?[१]

विश्लेषण करने पर यह पता चलता है कि स्मृति-निर्भर कल्पना का एक प्रकार वह है, जिसमे प्रमृष्ट तत्ताक स्मृति रहती है, अर्थात् वह स्मृति, जिसमें विषय का अधिक ग्रहण नहीं होता है। इस प्रकार की स्मृति भी कल्पना के लिए बहुत सहायक होती है। **पन्त** की निम्नलिखित पंक्तियाँ—

पावस ऋतु थी पर्वत प्रदेश
पल पल परिवर्त्तित प्रकृति-वेश।
... ...
—यों जलद-यान में विचर, विचर
था इन्द्र खेलता इन्द्रजाल।
(वह सरला उस गिरि को कहती थी बादल-घर।)[२]

प्रमृष्ट तत्ताक स्मृति पर निर्भर कल्पना का सुन्दर उदाहरण प्रस्तुत करती हैं। कभी पर्वत का चित्रण, कभी पावस का और उस सरला का आद्यन्त अस्पष्ट रूप-लेख स्मृति-प्रमोष के निदर्शन हैं।

इसके बाद स्मृत्याभास कल्पना की बारी आती है। ऊपर की पक्तियों में यह कहा जा चुका है कि स्मृत्याभास कल्पना की आधारगत अनुभूति परोपलब्ध होती है, इतिवृत्तों अथवा पूर्ववर्त्तियों के कथन या आप्त मान्यताओं पर निर्भर रहती है। उदाहरण के लिए **निराला** की 'यमुना के प्रति'[३] और 'सहस्राब्दि'[४] शीर्षक कविताएँ स्मृत्याभास कल्पना से निर्मित हैं, क्योंकि इन दोनों के मूल में परोपलब्ध स्मृतियाँ प्रधान है। इसी यरह **निराला** की अन्य कई कविताएँ स्मृत्याभास-निर्भर अतीत-संवेदनाओं से भरी पड़ी हैं।[५]

---

१. महादेवी, नीहार, साहित्य भवन लिमिटेड, प्रयाग, चतुर्थ संस्करण, पृ० ६३-६४।

२. पन्त, आधुनिक कवि, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, छठा संस्करण, पृष्ठ १३-१०।

३. निराला, अपरा, साहित्यकार संसद, प्रयाग, चतुर्थ संस्करण, पृ० ९२।

४. वही, पृ० १७९।

५. इस प्रचुरता का कारण है स्मृतियो के प्रति निराला का मोह। प्रमाण-स्वरूप उनकी 'स्मृति' शीर्षक कविता की ये पंक्तियाँ देखी जा सकती हैं—

जटिल जीवन-नद में तिर-तिर
डूब जाती हो तुम चुपचाप,
सतत द्रुत गतिमयि अयि फिर फिर
... ...
वही सुख, वही भ्रमर-गुंजार
वही मधु गलित पुष्प-संसार।
—निराला, अपरा, साहित्यकार संसद, प्रयाग, चतुर्थ संस्करण, पृ० १०५-१०९।

स्मृत्याभास कल्पना के अन्तर्गत जिस परोपलब्ध स्मृति की चर्चा की गई है, वह ऐतिहासिक अथवा पौराणिक कल्पनाओं के मूल में भी अवस्थित रहती है। जैसे, **प्रसाद** ने 'अरी वरुणा की शान्त कछार' शीर्षक कविता में वरुणा की कछार के माध्यम से अतीत के जिस गौरवमय वातावरण को उपस्थित किया है, वह कवि की आत्मगत अनुभूतियों की स्मृति से संबद्ध नहीं है, बल्कि उसका आधार इतिहास अथवा पूर्वपुरुषों के कथन पर निर्भर परोपलब्ध स्मृति है। अतः उक्त कविता में स्मृति-निर्भर कल्पना नहीं, बल्कि स्मृत्याभास-निर्भर कल्पना है। इन दोनों कल्पना-प्रकारों के अन्तर को अच्छी तरह हृदयंगम करने के लिए हम **प्रसाद** की एक दूसरी कविता का उदाहरण ले सकते हैं, जिसमें स्मृति-निर्भर कल्पना का विनियोग है—

आह रे, वह अधीर यौवन !
मत्त मारुत पर चढ़ उद्भ्रान्त,
बरसने ज्यों मदिरा अश्रान्त—
सिन्धु-वेला की घनमण्डली,
अखिल किरणों को ढँक कर चली,
भावना के निस्सीम गगन,
बुद्धि चपला का क्षण नर्त्तन—
चूसने को अपना जीवन
चला था वह अधीर यौवन।[1]

इन पंक्तियों के कल्पना-विधान का आधार वह स्मृति है, जो कवि की आत्मानुभूति है, परोपलब्ध अनुभूति अथवा उसकी सूचना नहीं। अतः इन पंक्तियों में स्मृति-निर्भर कल्पना है, स्मृत्याभास-निर्भर कल्पना नहीं। **प्रसाद** ने अतीत-संवेदना से संबद्ध अन्य कविताओं में भी स्मृति-निर्भर कल्पना का सुन्दर विधान किया है। जैसे—

वे कुछ दिन कितने सुन्दर थे ?
जब सावन-घन-सघन बरसते—
इन आँखों की छाया भर थे।
... ...
चित्र खीचती थी जब चपला,
नील मेघ-पट पर वह विरला,
मेरी जीवन-स्मृति के जिसमें—
खिल उठते वे रूप मधुर थे।[2]

१. प्रसाद, लहर, भारती भण्डार, प्रयाग, पंचम संस्करण, पृ० २१।
२. वही, पृ० २७।

पुनर्निमायक कल्पना का तीसरा भेद है—प्रत्यभिज्ञाश्रित कल्पना। यह कल्पना प्रत्यभिज्ञा पर निर्भर रहती है। प्रत्यभिज्ञा 'तत्ता' और 'इदन्ता'—दोनों का अवगाहन करने वाली प्रतीति है। 'तत्ता' का अर्थ है तद्देशीय और तत्कालीन संबंध अर्थात् पूर्व देश और पूर्व काल का संबंध तथा 'इदन्ता' का अर्थ है एतद्देशीय और एतत्कालीन संबंध। इस तरह प्रत्यभिज्ञा में अतीत की प्रत्यक्षित वस्तु का वर्तमान में पुनःप्रत्यक्ष होता है। आशय यह है कि जिसमें पूर्व देश और पूर्व काल के साथ ही वर्तमान देश और वर्तमान काल—दोनों की प्रतीति हो, उस प्रतीति को प्रत्यभिज्ञा कहते हैं। इस प्रत्यभिज्ञा के 'तत्ता' और 'इदन्ता'—दोनों ही अंशों से कल्पना का निकट संबंध है। इतना ही नहीं, प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध के प्रथम खण्ड सौन्दर्यशास्त्र के तत्त्व में हम यह भी देख चुके है कि तत्सदृश प्रत्यभिज्ञा और तद्विलक्षण प्रत्यभिज्ञा कल्पना के लिए विशेष महत्त्वपूर्ण है।

छायावादी कविता के कल्पना-विधान में प्रत्यभिज्ञा का पर्याप्त आश्रय लिया गया है। अनेक छायावादी कविताओं में 'तत्ता-इदन्ता'-बोधक शब्दों के भूरिशः प्रयोग इस तथ्य को प्रमाणित करते हैं। उदाहरणार्थ, **निराला** ने **'अनामिका'** में संगृहीत 'दिल्ली' और 'यहीं' शीर्षक कविताओं में प्रत्यभिज्ञाश्रित कल्पना का सुन्दर विधान किया है। 'यहीं' शीर्षक कविता में यमुना को देखकर कवि-हृदय में प्रत्यभिज्ञा का उदय होता है, जिसका आश्रय लेकर कवि की कल्पना इस रूप मे निखर उठती है—

मधुर मलय में यहीं
गूँजी थी एक वह जो तान
... ...
कृष्णाघन अलकों में
कितने प्रेमियों का यहाँ पुलक समाया था।[1]

इस तरह उक्त कविताओं की प्रत्यभिज्ञाश्रित कल्पना भवभूति के **'उत्तर-रामचरित'** की प्रचुर प्रत्यभिज्ञाश्रित कल्पना ('सौन्दर्यशास्त्र के तत्त्व' में 'कल्पना' शीर्षक अध्याय के अन्तर्गत भूरिशः उदाहृत) से मिलती-जुलती है। पूर्वकथा, अतीत-चैतन्य, वर्तमान का तीव्र बोध और पिच्छिल भावुकता प्रत्यभिज्ञाश्रित कल्पना के लिए सदैव हितावह हैं। इसीलिए **निराला** के इस गीत में प्रत्यभिज्ञाश्रित कल्पना अपने प्रकर्ष पर है—

बाँधो न नाव इस ठाँव, बन्धु!
पूछेगा सारा गाँव, बन्धु!

---

१. निराला, अनामिका, भारती भण्डार, प्रयाग, द्वितीय संस्करण, पृ० ३७-३८।

यह घाट वही जिस पर हँसकर,
वह कभी नहाती थी धँस कर,
आँखें रह जाती थी फँस कर,
कँपते थे दोनों पाँव, बन्धु ![1]

उद्धृत पंक्तियों में 'इस ठाँव' और 'यह घाट' इदन्ताबोधक शब्द है, जिनसे उत्थित आसंग पर कवि का सम्पूर्ण कल्पना-विधान टिका हुआ है। निराला की 'उसकी स्मृति' शीर्षक कविता में तो स्मृति और प्रत्यभिज्ञा का शब्दतः कथन हुआ है—

मृदु सुगन्ध-सी कोमल दल फूलों की,
शशि-किरणों की-सी वह प्यारी मुसकान,
स्वच्छन्द गगन-सी मुक्त, वायु-सी चंचल;
खोई **स्मृति** की **फिर आई सी पहचान**।[2]

छायावादी कविता के कल्पना-विधान में पुनर्निमायक कल्पना के विवेचन के बाद रचनात्मक कल्पना के विनियोग पर विचार कर लेना आवश्यक है। जिस प्रकार पुनर्निमायक कल्पना के तीन प्रधान भेद हैं—स्मृति-निर्भर कल्पना, स्मृत्याभास-निर्भर कल्पना और प्रत्यभिज्ञाश्रित कल्पना, उसी प्रकार रचनात्मक कल्पना के पाँच प्रधान भेद है—विभाव-विधायक कल्पना, तद्भव कल्पना, अनुमानाश्रित कल्पना, सृजनात्मक कल्पना और मुक्तयादृच्छिकी कल्पना। कल्पना के सैद्धान्तिक विवेचन में हम देख चुके हैं कि रचनात्मक कल्पना पूर्वानुभूत वस्तुओं का नवीन रूपों में सृजन करती है। यह कल्पना अपेक्षाकृत अधिक कला-वरेण्य होती है। विश्लेषण की दृष्टि से इसके दो उपभेद किये जाते हैं—नन्दतिक रचनात्मक कल्पना (एस्थेटिक क्रियेटिव इमेजिनेशन) और व्यावहारिक रचनात्मक कल्पना (प्रैक्टिकल क्रियेटिव इमेजिनेशन)। नन्दतिक रचनात्मक कल्पना के द्वारा कला-जगत् में नयी कृतियों, प्रयुक्तियों और ललित प्रवृत्तियों का प्रसार होता है। यह नन्दतिक रचनात्मक कल्पना ही हमारा विवेच्य विषय है, क्योंकि व्यावहारिक रचनात्मक कल्पना का क्षेत्र दैनन्दिन शिष्टाचार या वैज्ञानिक प्रौद्योगिक अन्वेषणों का क्षेत्र है। इसलिए कला-चर्चा में रचनात्मक कल्पना से नन्दतिक रचनात्मक कल्पना का ही आशय ग्रहण किया जाता है, जिसमें कलाकार अपनी अनुभूतियों में आवश्यक चयन और वर्जन करके सहृदय की प्रत्यर्थता को आकृष्ट करने वाले बिम्बों या अप्रस्तुतों का विधान करता है।

---

१. निराला, अर्चना, कला-मन्दिर, दारागंज, इलाहाबाद, १९५०, पृ० ३७।

२. निराला, परिमल, गंगा पुस्तकमाला, लखनऊ, प्रथमावृत्ति, पृ० ९६। यहाँ अन्तिम पंक्ति की 'फिर आई-सी पहचान' में स्पष्टतः प्रत्यभिज्ञा है, क्योंकि प्रत्यभिज्ञा एक प्रकार की प्रत्यक्षाश्रित स्मृति है।

रचनात्मक कल्पना के अन्तर्गत विभाव-विधायक कल्पना का बहुत ही महत्त्वपूर्ण स्थान है। जो कल्पना अनेक सहृदयों को आश्रय की भूमिका में लाकर उनके लिए किसी भाव का सामान्य आलम्बन या कारण खड़ा कर देती है, उसे विभाव-विधायक कल्पना कहते है। इस कल्पना के द्वारा सृष्ट रूप-विधान में साधारणीकरण की विशिष्ट शक्ति होती है। फलस्वरूप, विभाव-विधायक कल्पना मे आलम्बन का बहुत प्रभावोत्पादक और कलात्मक चित्रण रहता है। उदाहरणार्थ, **महादेवी** की निम्नलिखित पंक्तियों में विभाव-विधायक कल्पना का प्रयोग किया गया है—

गुलालों से रवि का पथ लीप
जला पश्चिम में पहला दीप,
विहँसती सध्या भरी सुहाग
दृगों से झरता स्वप्न-पराग।[1]

यहाँ संध्या का आलम्बन रूप में बहुत ही कलात्मक अंकन किया गया है। इसी तरह कवयित्री ने जहाँ एक सद्यःस्नाता नायिका के रूप में प्रकृति का आलम्बन की तरह चित्रण उपस्थित किया है, वहाँ भी विभाव-विधायक कल्पना निखर उठी है—

उच्छ्वसित वक्ष पर चंचल है
बक-पाँतों का अरविन्द-हार;
तेरी निश्वासें छू भू को
बन-बन जातीं मलयज बयार;
केकी-रव की नूपुर-ध्वनि सुन
जगती जगती की मूक प्यास।
रूपसि! तेरा घन-केश पाश।[2]

तदनन्तर, तद्भव कल्पना एक प्रकार की व्युत्पन्न कल्पना है। मनुष्य के मनोजगत् में व्युत्पन्नता का सहज गुण है। अतः कल्पना-विधान में भी यह व्युत्पन्नता और प्ररोह-सृष्टि लागू होती है। इसी व्युत्पन्नता की अनुवर्त्तिनी

---

१. महादेवी, रश्मि, साहित्य भवन, इलाहाबाद, तृतीय संस्करण, पृ० ५।

२. महादेवी, नीरजा, भारती भण्डार, प्रयाग, प्रथम संस्करण, पृ० २२। यहाँ ध्यातव्य है कि महादेवी ने 'जगती जगती' में यमक का प्रयोग किया है। ठीक ऐसे ही यमक का प्रयोग भारवि ने हिमवान-वर्णन के प्रसंग में किया है —

सुलभैः सदा नयवताऽयवता निधि गुह्यकाधिप रमैः परमैः।
अमुना धनैः क्षितिभृतातिभृता समतीत्य भाति जगती जगती॥
—भारवि, किरातार्जुनीयम्, पंचम सर्ग।

कल्पना को हम तद्भव कल्पना कहते हैं। ऊहा करने वाले कवि, साँग रूपकों के स्रष्टा कवि अथवा एक ही वर्ण्य को लक्ष्य कर अनेक बिम्बों और अप्रस्तुतों की लड़ियाँ पिरोने वाले कवि प्रायः इस तद्भव कल्पना से काम लेते हैं। इसका एकदम सुलझा हुआ रूप हमें वहाँ मिलता है, जहाँ कवि एकावली अलंकार के ढंग पर अपनी उक्ति का मंडान बाँधता है। जैसे—

आज वन में पिक, पिक में गान,
विटप में कलि, कलि में सुविकास,
कुसुम में रज, रज में मधु, प्राण।
सलिल में लहर, लहर मे लास।[1]

यहाँ पूर्व-पूर्व वस्तु के प्रति पर-पर वस्तु का गृहीत-मुक्त-रीति से शृंखला-स्थापन है; अतः माला-रूप होने के कारण तद्भव कल्पना बहुत सुलझी हुई है। एकावली के दूसरे रूप में भी, जहाँ पूर्व-पूर्व वस्तु के प्रति पर-पर वस्तु का विशेषण-रूप से स्थापन रहता है, तद्भव कल्पना सुलझे हुए ढग से उतर जाती है। **महादेवी** ने भी प्रसंगानुसार तद्भव कल्पना का सहारा लिया है। जैसे—

तार भी आघात भी झंकार की गति भी,
पात्र भी मधु भी मधुप भी मधुर विस्मृति भी;
अधर भी हूँ और स्मित की चाँदनी भी हूँ।[2]

यहाँ तार की कल्पना से आघात की कल्पना और आघात की कल्पना से झकार की कल्पना की गई है। इसी तरह पात्र से मधु, मधु से मधुप और तब (मधुपान से आविर्भूत) विस्मृति की कल्पना की गई है। इस प्रकार उपरिलिखित पंक्तियों में व्यक्त व्युत्पन्नता तद्भव कल्पना के स्वरूप को स्पष्ट करती है।

अनुमानाश्रित कल्पना कल्पना में अनुमान के समावेश से निर्मित होती है। यह धारणा प्रचलित है कि जो वस्तु या पदार्थ इन्द्रिय-ग्राह्य नहीं है, उसके ज्ञान के साधन को ही अनुमान कहते हैं। अतः कल्पना जहाँ उस वस्तु का बोधाभास प्रस्तुत करती है, जो वस्तु वास्तव में इन्द्रिय-ग्राह्य नहीं है, वहाँ उसमें अनुमान का समावेश हो जाता है। कल्पनान्तर्गत अनुमान की तीन कोटियाँ हैं—पूर्ववत्, शेषवत् और सामान्यतोदृष्ट। जहाँ कवि कल्पना-विधान को उपस्थित करते समय अपनी अनुभूतियों के आधार पर पात्र का मनोनिवेश प्रस्तुत करता है, वहाँ पूर्ववत् अनुमान विद्यमान रहता है। इसे हम पूर्ववत् अनुमानाश्रित कल्पना कहते हैं। **निराला** की 'जुही की कली' शीर्षक प्रसिद्ध कविता का सम्पूर्ण कल्पना-विधान इसी पूर्ववत् अनुमान पर आश्रित है।

---

१. पन्त, गुंजन, भारती भण्डार, प्रयाग, छठा संस्करण, पृ० ६०।
२. महादेवी, नीरजा, भारती भण्डार, प्रयाग, प्रथम संकरण, पृ० २०।

तदनन्तर, शेषवत् अनुमान उसे कहते हैं, जिसमें कवि आगत प्रत्यक्ष को देखकर किसी आगमिष्यत् अप्रत्यक्ष का अन्दाज़ लगा लेता है। यह शेषवत् अनुमानाश्रित कल्पना भी छायावादी कवियों को बहुत प्रिय है। **महादेवी** की इस बहुचर्चित पंक्ति—'मुसकाता संकेत भरा नभ, अलि क्या प्रिय आने वाले हैं'—से प्रारम्भ होने वाली कविता में शेषवत् अनुमानाश्रित कल्पना का ही सहारा लिया गया है। छायावादी कवियों ने जहाँ परोक्ष की रहस्यानुभूति का निवेदन किया है अथवा 'उस पार' की बात की है, वहाँ पर उन्होंने शेषवत् अनुमानाश्रित कल्पना का मुक्त उपयोग किया है। इसलिये **निराला** के **'तुलसीदास'** और **प्रसाद** की **'कामायनी'** के कुछ सर्गों में कल्पना का यह रूप पर्याप्त मात्रा में मिलता है। इसके बाद सामान्यतोदृष्ट अनुमान की बारी आती है। इस अनुमान पर आश्रित कल्पना-विधान में 'विशेष' के कार्य से 'सामान्य' की अथवा 'एक' के आधार पर 'समस्त' की जातिगत 'गुण-कल्पना' की जाती है। जैसे, **प्रसाद** ने दो-चार लजवन्ती नायिकाओं के कान की जड़ में संकोच की गुलाली देखकर सम्पूर्ण नारी-जाति पर लाज की लाली का आरोप कर दिया है।[1] इस प्रकार छायावादी कविता में अनुमानाश्रित कल्पना के तीनों प्रकार मिलते हैं।[2]

---

१. चंचल किशोर सुन्दरता की
मैं करती रहती रखवाली,
मैं वह हलकी सी मसलन हूँ
जो बनती कानों की लाली।
—प्रसाद, कामायनी, भारती-भण्डार, प्रयाग, अष्टम संस्करण, पृ० १०३।

२. पन्त की 'भावी पत्नी के प्रति' शीर्षक कविता का सम्पूर्ण कल्पना-विधान अनुमान पर आश्रित है। कवि ने अनुमान के आस्पद को स्पष्ट करते हुए उक्त कविता की प्रारम्भिक पंक्तियों में ही लिख दिया है—

प्रिये, प्राणों की प्राण!
न जाने किस गृह में अनजान
छिपी हो तुम स्वर्गीय विधान!

और, तब उसने अपनी अनुमानाश्रित कल्पना को विविक्त करते हुए कहा है—

न जिसका स्वाद-स्पर्श कुछ ज्ञात;
कल्पना हो, जाने, परिमाण?
प्रिये, प्राणों की प्राण।
... ...
हृदय में खिल उठता तत्काल
अधखिले अंगों का मधुमास
तुम्हारी छवि का कर अनुमान
प्रिये, प्राणों की प्राण।

—पन्त, पल्लविनी, भारती भण्डार, प्रयाग, तृतीय संस्करण, पृ० १४४-१४६।

तदनन्तर, सृजनात्मक कल्पना (जो विशुद्ध रचनात्मक कल्पना है) में स्मृति की प्रधानता नहीं रहती है। यह दो या दो से अधिक वस्तुओं के बीच नूतन सम्बन्ध-निबन्धन के द्वारा निर्मित होती है। अतः यह योग-प्रधान होती है। जैसे, स्वर्ण और मृग को अलग-अलग देखने पर भी स्वर्णमृग की नूतन कल्पना कर लेना। आशय यह है कि सृजनात्मक कल्पना में कवि के द्वारा आनीत वस्तुओं के बीच नूतन सम्बन्ध-निबन्धन किया जाता है। जसे—

घर कनक-थाल में मेघ
सुनहला पाटल-सा,
कर बालारुण का कलश
विहग-रव मंगल-सा
आया प्रिय-पथ से प्रात—
सुनाई कहानी नहीं!
मैं प्रिय पहचानी नहीं![1]

यहाँ प्रारम्भिक चार पंक्तियों में सृजनात्मक कल्पना है, क्योंकि कनक-थाल और पाटल, बालारुण और कलश तथा विहग-रव और मंगल गान—सबमें नूतन सम्बन्ध-निबन्धन किया गया है।

इस सृजनात्मक कल्पना का एक रूप संकल्पित (ऐक्टिव) कल्पना भी है, जिसमें कवि के प्रयास से विविध वस्तुओं और उपकरणों के बीच तारतम्य बैठाया जाता है। उदाहरण के लिये—

नव इन्द्रधनुष-सा चीर
महावर-अंजन ले,
अलि-गुंजित मीलित पंकज—
नूपुर रुनझुन ले,
फिर आई मनाने साँझ
मैं बेसुध मानी नहीं!
मैं प्रिय पहचानी नहीं![2]

इन पंक्तियों में कवयित्री ने इन्द्रधनुष और चीर, संध्या की लाली और महावर, हल्की कालिमा और अंजन तथा अलिगुंजित मीलित पंकज और रुनझुन-स्वन नूपुर के बीच सप्रयास तारतम्य बैठाया है। अतः यहाँ संकल्पित कल्पना का विनियोग है। **महादेवी** के काव्य में संकल्पित कल्पना के अनेक अच्छे उदाहरण मिलते हैं। जैसे—

---

१. महादेवी, नीरजा, भारती भण्डार, प्रयाग, प्रथम संकरण, पृ० ३१।
२. वही, पृ० ३२।

शशि के दर्पण में देख-देख,
मैंने सुलझाये तिमिर-केश,
गूँथे चुन तारक-पारिजात,
अवगुण्ठन कर किरणें अशेष।
... ...
स्मित से कर फीके अधर अरुण,
गति के जावक से चरण लाल,
स्वप्नों से गीली पलक आँज,
सीमन्त सजा ली अश्रु-माल।[1]

इस प्रकार की संकल्पित कल्पना कवि के आत्मप्रक्षेपण से भरी हुई रहती है। **पन्त** की 'छाया' शीर्षक सम्पूर्ण कविता ऐसे आत्मप्रक्षेपण से आक्रान्त है। **प्रसाद** की 'किरण'[2] शीर्षक कविता का भी यही हाल है। उदाहरणार्थ, निम्नलिखित पंक्तियों को देखा जा सकता है—

किरण! तुम क्यों बिखरी हो आज,
रँगी हो तुम किसके अनुराग,
स्वर्ण सरसिज किंजल्क समान,
उड़ाती हो परमाणु पराग।

इसके बाद रचनात्मक कल्पना का अन्तिम प्रधान भेद है मुक्तयादृच्छिकी कल्पना। यह कल्पना कवि के मानसिक स्वतःचालन से निर्गत होती है। इसमें ऊँची उड़ान अधिक रहती है और केन्द्रगामिता का अभाव रहता है। कारण, इसमें कवि वस्तुसत्ता से आदिष्ट न होकर अपनी रुचि के अनुसार इतस्ततः अप्रस्तुतों, उपमानों और अवर्ण्यों को प्रस्तुत कर देता है। श्रेष्ठ कलाकार भी ईमानदार अनुभूति के अभाव में अपनी रचना को पूरा करने के लिए मुक्तयादृच्छिकी कल्पना का सहारा लेता है। जैसे, **पन्त** की 'बादल' शीर्षक कविता का उत्तरार्द्ध ऐसी ही कल्पना से निर्मित है—

व्योम-बेलि, ताराओं की गति,
चलते अचल, गगन के गान,
हम अपलक तारों की तन्द्रा,
ज्योत्स्ना के हिम, शशि के यान;
पवन-धेनु, रवि के पांशुल श्रम,
सलिल-अनल के विरल वितान,

---

१. महादेवी, सांध्यगीत, भारती भण्डार, प्रयाग, चतुर्थ संस्करण, पृ० २६।
२. प्रसाद, झरना, भारती भण्डार, प्रयाग, सातवाँ संस्करण, पृ० २८-२९।

व्योम-पलक, जल-खग, बहते थल,
अम्बुधि की कल्पना महान ।[1]

कवि की लेखनी कुछ ही पंक्तियों में गणेशजी के मूषक की तरह सम्पूर्ण सृष्टि की चटपट परिक्रमा कर लेती है। इस तरह मुक्तयादृच्छिकी कल्पना भावुकता का प्रलाप हुआ करती है। **महादेवी** की एक प्रसिद्ध कविता—'तुम्हें बाँध पाती सपने में'[2]—इसी मुक्तयादृच्छिकी कल्पना से निर्मित है। इस प्रसग मे यह ध्यातव्य है कि **महादेवी** का ऐसा कल्पना-विधान कहीं-कही आत्मनिष्ठता की अति से भाराक्रान्त हो गया है। जैसे—

सज केशर-पट तारक-बेंदी,
दृग अंजन मृदु पग में मेंहदी,
आती भर मदिरा से गगरी,
सध्या अनुराग सुहाग भरी,
... ...
निशि अभिसारों में आँसू से,
मेरी मनुहारें धो जाती ।[3]

इस तरह रचनात्मक कल्पना के पाँच प्रधान भेदों का सोदाहरण विवेचन समाप्त कर लेने के बाद अब हम व्यावहारिक विनियोग की दृष्टि से छायावादी कल्पना-विधान पर विचार करेंगे। व्यावहारिक विनियोग की दृष्टि से हम काव्यगत कल्पना को इन चार रूपों में बाँट सकते है—प्रबन्धात्मक कल्पना, पात्रात्मक कल्पना, दृश्यविधायिनी कल्पना और भावात्मक कल्पना। प्रबन्धात्मक कल्पना का उपयोग कथा-कलन, तारतम्य-स्थापन इत्यादि में किया जाता है। **'कामायनी'**, **'तुलसीदास'** और **'प्रलय की छाया'**[4] में प्रबन्धात्मक कल्पना का उपयोग हुआ है। पात्रात्मक कल्पना का उपयोग चरित्र-चित्रण में किया जाता है। इसके द्वारा पात्रों में मांसलता, शील-सौन्दर्य और मार्मिकता को भरा जाता है। इसका अधिक उपयोग पौराणिक, धार्मिक या इतिहास-प्रसिद्ध चरित्रों में समयानुकूल अथवा कवि की इच्छा के अनुकूल परिवर्तन लाने और नूतन आलोक भरने के लिये किया जाता है। यह कल्पना प्रबन्धात्मक कल्पना की सहचरी होती है। इसीलिए **'कामायनी'** और **'तुलसीदास'** में हम पात्रात्मक कल्पना को भी पाते हैं। तदनन्तर, दृश्यविधायिनी कल्पना के द्वारा दृश्य-चित्रण,

---

१. पन्त, आधुनिक कवि, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, छठा संस्करण, पृष्ठ २७।
२. महादेवी, नीरजा, भारती भण्डार, प्रयाग, प्रथम संस्करण, पृ० ८।
३. वही, पृ० ४४।
४. प्रसाद, लहर, भारती भण्डार, प्रयाग, पंचम संस्करण, पृ० ५६।

रूप-चित्रण और अप्रस्तुत-विधान को प्रस्तुत किया जाता है। वातावरण-प्रधान, परिवृत्तिमूलक या वर्णनात्मक कविताओं में इस कल्पना का प्रचुर प्रयोग मिलता है। 'नौका-विहार',[1] 'पेशोला की प्रतिध्वनि',[2] 'संध्या-सुन्दरी'[3] इत्यादि कविताओं में दृश्यविधायिनी कल्पना की प्रचुरता है। इस कल्पना का उपयोग काव्य-निबद्ध भावों के चाक्षुष उद्दीपनों को चित्रित करने में बहुत हितावह सिद्ध होता है। तदुपरान्त, भावात्मक कल्पना सर्वाधिक सूक्ष्म होती है और उत्पाद्य लावण्य से युक्त अथवा गीतिकाव्यात्मक रचनाओं के लिए शुभंकरी होती है। इसलिए जब कवि मानसिक सूक्ष्मताओं या पेशल भावों को अंकित करना चाहता है, तब उसे भावात्मक कल्पना का सहारा लेना पड़ता है। **पन्त** की 'अप्सरा'[4], **प्रसाद** की 'लहर',[5] **निराला** की 'तरगों के प्रति'[6] और **महादेवी** की प्रायः सभी कविताओं मे हमें भावात्मक कल्पना का भूरिशः उपयोग मिलता है। **'लहर', 'गुंजन', 'गीतिका', 'रूपराशि', 'चित्ररेखा'** और **महादेवी** के सभी काव्य-संग्रह भावात्मक कल्पना का सुन्दर निदर्शन प्रस्तुत करते हैं। इस प्रकार छायावादी कविता में अन्य तीन प्रकार की कल्पनाओं की अपेक्षा भावात्मक कल्पना का ही प्राचुर्य है, क्योंकि छायावादी रचनाएँ मूलतः गीति-काव्यात्मक हैं। भावात्मक कल्पना में, जैसा कि नाम से ही स्पष्ट है, भाव और कल्पना का घनिष्ठ योग रहता है। इसके अन्तर्गत कल्पना भाव को परिपुष्ट करती है और कभी-कभी भाव से ही कल्पना उद्‌बुद्ध होती है। विचार करने पर ऐसा प्रतीत होता है कि कल्पना और भाव के सम्बन्ध की एकाधिक भूमिकाएँ हैं। कल्पना के साथ भाव के सम्बन्ध को हम तीन प्रकारों मे बाँट सकते हैं—उत्प्रेरणात्मक सम्बन्ध, वस्तुगत सम्बन्ध और संगी सम्बन्ध।[7] छायावादी काव्य में कल्पना के साथ भाव के तीनों सम्बन्ध मिलते हैं।

व्यापार-दृष्टि से छायावादी कल्पना के तीन प्रकार माने जा सकते है—उत्पादक कल्पना, परिवर्त्तक कल्पना और आच्छादक कल्पना। उत्पादक कल्पना में मौलिकता रहती है। इसे हम विदग्ध कल्पना, चित्र-प्रगल्भ कल्पना या रमणीय कल्पना भी कह सकते हैं, क्योंकि इसमें प्रस्तुत और अप्रस्तुत के बीच कृत्रिम सम्बन्ध-सूत्रों की स्थापना रहती है। इस कृत्रिम सम्बन्ध-सूत्र की

१. पन्त, आधुनिक कवि, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, छठा संस्करण, पृ० ५६।
२. प्रसाद, लहर, भारती भंडार, प्रयाग, पंचम संस्करण, पृ० ५६।
३. निराला, परिमल, गंगा पुस्तकमाला, लखनऊ, प्रथमावृत्ति, पृ० १०६।
४. पन्त, गुंजन, भारती भंडार, प्रयाग, छठा संस्करण, पृ० ६२।
५. प्रसाद, लहर, भारती भंडार, प्रयाग, पंचम संस्करण, पृ० ६।
६. निराला, परिमल, गंगा पुस्तकमाला, लखनऊ, प्रथमावृत्ति, पृ० ५४।
७. E. J. Furlong, Imagination, New York, 1961, page 34.

स्थापना से ही उत्पादक कल्पना में रमणीयता का आधान हो जाता है। जैसे—

पिक की मधुमय वंशी बोली,
नाच उठी सुन अलिनी भोली;
अरुण सजल पाटल बरसाता,
तम पर मृदु पराग की रोली;
मृदुल अंक धर, दर्पण-सा सर,
आँज रही निशि दृग-इन्दीवर ![१]

यहाँ पिक की वंशी, अलिनी-नर्त्तन, दर्पण और इन्दीवर—सब के बीच एक कृत्रिम सम्बन्ध-सूत्र की स्थापना कर सम्पूर्ण कल्पना-विधान को रमणीय बना दिया गया है। ऐसी रमणीय कल्पना में दूसरों के हृदय में सद्यः ढल जाने की पूरी द्रवणशीलता रहती है। **आचार्य शुक्ल** ने **पन्त** की 'तितली'[२] शीर्षक कविता में प्रयुक्त 'अनिल-कुसुम' को रमणीय कल्पना का ही विधान माना है।[३] सचमुच, रमणीय कल्पना सत्याश्रित कल्पना से भिन्न सुख-सौरभ वाले सौंदर्य से सम्बद्ध एक ऐसी मनोरचना है, जो प्रकृति के बीच किसी वस्तु के गूढ़ और अगूढ़ सम्बन्ध-प्रसार का चित्रण करती है। **'पल्लव'** और **'लहर'** जैसी रचनायें इस प्रकार की कल्पना से भरी पड़ी है। तदनन्तर, परिवर्त्तक कल्पना में मौलिकता नहीं रहती है। इसमें अन्य कवि की कल्पना को उलट-पुलट कर रखा जाता है। जीर्ण बिम्बों के उद्धार में परिवर्त्तक कल्पना बहुत ही महत्त्वपूर्ण सिद्ध होती है, जिसका सोदाहरण विवेचन 'छायावादी कविता में बिम्ब-विधान' शीर्षक अध्याय में प्रस्तुत किया जायेगा। इस परिवर्त्तक कल्पना का विकसित रूप ही आच्छादक कल्पना है, क्योंकि इसमें एक कवि अन्य कवि की कल्पना को अपनी प्रतिभा से इस प्रकार आच्छादित कर लेता है कि दूसरे की कल्पना का हरण शीघ्र पकड़ में नहीं आता। इस आच्छादक कल्पना का सर्वोत्तम रूप पौराणिक कल्पना है। इसके मूल में पौराणिक अथवा लोक-प्रचलित पुरानी कथाओं का संस्कार रहता है। छायावादी कवियों के बीच **निराला** इस प्रकार की कल्पना के प्रयोग में बहुत ही माहिर हैं। 'राम की शक्तिपूजा' अथवा 'देवी सरस्वती'[४] शीर्षक कविता पर इस दृष्टि से विचार किया जा सकता है। इतना ही नही,

---

१. महादेवी, नीरजा, भारती भंडार, प्रथम संस्करण, पृ० ६।
२. पन्त, युगपथ, भारती भंडार, प्रयाग, प्रथम संस्करण, पृ० ५३।
३. आचार्य शुक्ल, हिन्दी साहित्य का इतिहास, काशी नागरी प्रचारिणी सभा, संवत २००३, विक्रम, पृ० ७१०।
४. निराला, नये पत्ते, हिन्दुस्तानी पब्लिकेशन्स, शाहगंज, इलाहाबाद, पृ० ५८।

निराला ने तुलसीदास के मन के ऊर्ध्वगामी विकास को दिखलाने में भी पौराणिक कल्पना का सहारा लिया है। बिना बुलाये ससुराल जाने पर जब रत्नावली का उपदेश सुनकर तुलसीदास को ज्ञान हुआ और 'प्रथम भान' का उन्मोचन हुआ, तब तुलसीदास के मनश्चक्षुओं के समक्ष शारदा का अवतरण हो गया। शारदा के इस अवतरण को चित्रित करते समय **निराला** ने जिस पौराणिक कल्पना का विधान किया है, वह देखने लायक है—

देखा, शारदा नील-वसना,
हैं सम्मुख स्वयं सृष्टि-रशना,
जीवन-समीर-शुचि निःश्वसना, वरदात्री;
वीणा वह स्वयं सुवादित स्वर,
फूटीं तर अमृताक्षर निर्झर,
यह विश्व हंस, हैं चरण सुघर जिस पर श्री।[1]

निराला ने तो प्राकृतिक सौंदर्य के अंकन में भी पौराणिक कल्पना का सहारा लिया है। 'वसन वासन्ती लेगी' शीर्षक कविता इसका सुन्दर उदाहरण है।[2] सम्पूर्ण कविता में रूखी-सूखी डाल और ऋतुपति के लिये पार्वती और शिव का जो रूपक प्रस्तुत किया गया है, वह तद्सबधित पौराणिक कल्पना पर ही अवलम्बित है। इसी तरह इनकी 'आह्वान'[3] और 'बादल-राग'[4] शीर्षक कविताओं में भी पौराणिक कल्पना मिलती है। इस प्रकार व्यापार-दृष्टि से उत्पादक कल्पना या रमणीय कल्पना ही काव्यगत कल्पना-विधान का सर्वोत्कृष्ट रूप है।

रमणीय कल्पना[5] को मुख्यतः छह प्रकारों में बाँटा जा सकता है—सावयव कल्पना, तिर्यक् कल्पना, सादृश्य-निर्भर कल्पना, उदात्त कल्पना, विभावनशील कल्पना और मानवीकरण-निर्भर कल्पना।

सैद्धान्तिक विवेचन में हम देख चुके हैं कि ऊहा की ओर प्रवृत्ति रखने वाला कवि जहाँ सटीक उद्भावनायें कर पाता है, वहाँ अधिकतर सावयव कल्पना रहती है। ऐसे कल्पना-विधान में कही गई बातें एक-दूसरी से शृंखला की कड़ियों की तरह संबद्ध रहती हैं और उनकी अर्थवत्ता भी अन्योन्याश्रित रहती है। इसलिये सावयव कल्पना की सबसे बड़ी विशेषता यही है कि इसकी

---

१. निराला, तुलसीदास, भारती भंडार, प्रयाग, चतुर्थ संस्करण, पृ० ५४।
२. निराला, अपरा, साहित्यकार संसद, प्रयाग, चतुर्थ संस्करण, पृ० ६०।
३. निराला, परिमल, गंगा पुस्तकमाला, लखनऊ, प्रथमावृत्ति, पृ० १२४-१२५।
४. उपरिवत्, पृ० १५४।
५. द्रष्टव्य—संलग्न तालिका (संख्या—२)

सभी उक्तियाँ और तदर्थ योजित सभी अप्रस्तुत एक प्रभावान्विति की ओर उन्मुख रहते है तथा अयुतसिद्धावयव होते है। जैसे, पन्त की 'ऊषा' शीर्षक कविता में सावयव कल्पना के द्वारा ही उपकरणमूलक बिम्बविधान प्रस्तुत किया गया है—

> **सरसि** से लहरे चंचल प्राण,
> खिला **सरसिज**-सा जीवन-सार;
> हृदय के **शतदल** खुले अजान,
> भाव सुषमा से **रँग** सुकुमार।
> सलिल पर ज्यों **पंकज** के पत्र,
> ... ...
> मर्म मे अमृत प्रीति **मधुकोष**।
> दलों में ध्वनित स्पृहा **गुंजार**;
> स्वयं ज्यों जीवन का परितोष,
> बना **शोभा** विकास विस्तार।[1]

यहाँ सावयव कल्पना के द्वारा सरसिज के सभी अंगों और आसंगों का उल्लेख कर इच्छित बिम्ब को परिपूर्णता प्रदान की गई है। इसी प्रकार **पन्त** ने 'वर्षा गीत'[2] शीर्षक कविता में भी वर्षा के रूप-वर्णन मे, जिसमें वाक्-छल से मानवीकरण का आभास प्रस्तुत किया गया है, सावयव कल्पना का दक्ष प्रयोग किया है। इसमें 'नीलांजन नयना', 'चातकप्रिय वयना', 'श्यामल कुन्तल', 'चल हरितांचल', 'शैल माल जघना', 'तड़ित दशना', 'नूपुर झंकृत', 'कल बलाक रसना', 'इन्द्रधनुष वसना' इत्यादि पद मिल-जुलकर एक अलंकृत नारी के रूप को सावयव ढंग से उपस्थित करते हैं। **निराला** ने 'जागो फिर एक बार' शीर्षक कविता की इन पंक्तियों में—

> आँखें **अलियों**-सी,
> किस **मधु** की गलियों में फँसीं;
> बन्द कर **पाँखें**,
> पी रही हैं मधु मौन;
> अथवा सोई **कमल-कोरकों** में ?
> बन्द हो रहा **गुंजार**।[3]

सावयव कल्पना का प्रयोग किया है, क्योंकि यहाँ अलि, मधु, पंख, कमल-कोरक

---

१. पन्त, स्वर्णकिरण, प्रथम संस्करण, भारती भंडार, इलाहाबाद, पृ० ५५।

२. पन्त, रश्मिबंध, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, १९५८, पृष्ठ १०४।

३. निराला, अपरा, साहित्यकार संसद, प्रयाग, चतुर्थ संस्करण, पृ० १६।

और गुंजार—सब मिलकर एक बिम्ब को अवयव और उपकरण की परिपूर्णता प्रदान करते है ।[1] इसी तरह **महादेवी** की 'रश्मि' शीर्षक कविता में सावयव कल्पना का सुन्दर प्रयोग हुआ है—

इन कनक-रश्मियों में अथाह,
लेता हिलोर तम-सिन्धु जाग;
बुद्बुद् से बह चलते अपार,
उसमें विहगों के मधुर राग;
बनती प्रवाल का मृदुल कूल,
जो क्षितिज-रेख थी कुहर-म्लान ।[2]

सावयव कल्पना कभी-कभी निषेधात्मक भी होती है। जैसे, निम्नलिखित पंक्तियों में सफेद कमल के बिम्ब को प्रस्तुत करते समय निषेधात्मक सावयव कल्पना का प्रयोग किया गया है—

इसमें उपजा यह नीरज सित,
कोमल कोमल लज्जित मीलित;
सौरभ-सी लेकर मधुर पीर !
इसमें न पंक का चिह्न शेष,
इसमें न ठहरता सलिल-लेश;
इसको न जगाती मधुप-भीर ।[3]

इतना ही नहीं, सावयव कल्पना कुछ स्थलों पर उदात्त भी होती है। ऐसा वहाँ होता है, जहाँ विशाल, असीम, अति सूक्ष्म और परमविभु को विवक्षित वस्तु के अवयव-रूप में उपस्थित किया जाता है। उदाहरणार्थ, निम्नलिखित पंक्तियों में एक विवक्षित वस्तु—आँख को सांग रूप में प्रस्तुत करने के लिये नील कमल, मन-मधुकर, स्वर्णकिरण, नील व्योम और उर के मधुबाल को क्रमशः आँखों के रूपाकार, पलक-पंखुड़ी, बालारुण, आँखों की नीलिमा और आँखों की काली पुतली के मूर्त्त प्रेषण के लिए उपस्थित किया गया है[4]—

---

१. निराला ने 'स्मृति-चुम्बन' शीर्षक कविता की इन पंक्तियों में भी सावयव कल्पना का प्रयोग किया है—

पलकों के नीड़ से
सोने के नभ में
उड़ जाते थे नयन ।

—निराला, परिमल, गंगा पुस्तकमाला, लखनऊ, प्रथमावृत्ति, पृ० १८७।

२. महादेवी, रश्मि, साहित्य भवन, इलाहाबाद, तृतीय संस्करण, पृ० १ ।

३. महादेवी, नीरजा, भारती भंडार, प्रयाग, प्रथम संस्करण, पृ० १ ।

४. पन्त, गुंजन, भारती भंडार, प्रयाग, छठा संस्करण, पृ० ४७ ।

नील कमल-सी हैं वे आँख !
डूबे जिनके मधु में पाँख—
मधु में मन-मधुकर के पाँख !
नील जलज-सी हैं वे आँख ।
मुग्ध स्वर्ण किरणों ने प्रात,
प्रथम खिलाये वे जलजात;
नील व्योम ने ढल अज्ञात,
उन्हें नीलिमा दी नवजात;
जीवन की सरसी उस प्रात,
लहरा उठी चूम मधुवात;
आकुल लहरों ने तत्काल,
उनमें चचलता दी ढाल;
नील नलिन-सी है वे आँख !
जिनमे बस उर का मधुबाल,
कृष्ण-कनी बन गया विशाल;
नील सरोरुह-सी वे आँख !

छायावादी कविता में सावयव कल्पना के दो अन्य रूप भी मिलते हैं—सांग कल्पना और माला-रूप कल्पना । सांग कल्पना में उपमेय-उपमान का अंग-प्रतिअंग कथन रहता है । जैसे, **निराला** की इन प्रसिद्ध पंक्तियों में—

वे किसान की नई बहू की आँखें,
ज्यों हरीतिमा में बैठे दो विहग बन्द कर पाँखें ।[१]

सांग कल्पना का सुन्दर विनियोग हुआ है । इसी तरह **पन्त** ने 'निष्ठुर परिवर्त्तन' शीर्षक कविता में जहाँ परिवर्त्तन के लिये सहस्र-फन वासुकि का रूपक प्रस्तुत किया है, वहाँ सांग कल्पना का अच्छा उदाहरण मिलता है—

अहे वासुकि **सहस्र-फन** !
लक्ष **अलक्षित चरण** तुम्हारे चिह्न निरन्तर,
छोड़ रहे है जग के विक्षत वक्षस्थल पर !
शत-शत फेनोच्छ्वसित, स्फीत **फूत्कार** भयंकर,
घुमा रहे है घनाकार जगती का अम्बर !
मृत्यु तुम्हारा **गरल दन्त, कंचुक** कल्पान्तर !
अखिल विश्व ही **विवर,**

१. निराला, अनामिका, भारती भंडार, प्रयाग, द्वितीय संस्करण, पृ० १४६ ।

वक्र कुण्डल
दिग्मण्डल ![१]

प्रसाद ने भी 'आंसू' की इन पंक्तियों में सांग कल्पना का सुन्दर प्रयोग किया है—

पतझर था, झाड़ खड़े थे,
सूखी-सी फुलवारी में,
किसलय नव कुसुम विछाकर
आये तुम इस क्यारी में ![२]

यहाँ पतझड़, झाड़, किसलय, कुसुम और क्यारी—सब-के-सब उस सूखी फुलवारी के अंग है, जो उपर्युक्त पंक्तियों में नीरस जीवन के लिये अप्रस्तुतवत् प्रयुक्त की गई है। यहाँ शुष्कता के लिए पतझड़, अवशिष्ट दुखों के लिये झाड़, नीरस जीवन के लिये फुलवारी, मिलनमय प्रेम के लिये किसलय-कुसुम और हृदय के लिये क्यारी का प्रयोग किया गया है।

तदनन्तर, सावयव कल्पना जब विकल्पात्मक होती है, तब वह मालारूप हो जाती है। इसे हम आवर्त्तक कल्पना या समास कल्पना भी कह सकते हैं। यह सदैव विकल्पों के आश्रय से ही अपना विकास पाती है। उदाहरण के लिये, **निराला** की 'नयन' शीर्षक कविता की ये पंक्तियाँ देखी जा सकती हैं—

मदभरे ये नलिन-नयन मलीन हैं,
अल्प जल में या विकल लघु मीन है?
या प्रतीक्षा में किसी की शर्वरी;
बीत जाने पर हुए ये दीन हैं?
या पथिक से लोल लोचन! कह रहे,
"हम तपस्वी हैं, सभी दुख सह रहे।"[३]

स्पष्ट है कि इसमें कल्पना का सम्पूर्ण विधान कुछ विकल्पों पर आश्रित है। **निराला** ने इसी तरह 'माया',[४] 'विधवा'[५] एवं अन्य कई कविताओं में विकल्पों के आश्रय से चलनेवाली मालारूप कल्पना का प्रयोग किया है। **महादेवी** को भी मालारूप कल्पना प्रिय है। इन्होंने अपने अस्तित्व और व्यक्तित्व के स्पष्टीकरण के लिये मालारूप कल्पना की योजना की है—

---

१. पन्त, आधुनिक कवि, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, छठा संस्करण, पृ० ३६।
२. प्रसाद, आंसू, भारती भंडार, प्रयाग, नवम् संस्करण, पृ० १६।
३. निराला, परिमल, गंगा पुस्तकमाला, लखनऊ, प्रथमावृत्ति, पृ० ५२।
४. उपरिवत्, पृ० ७२।
५. उपरिवत्, पृ० १००।

नयन में जिसके जलद वह तृषित चातक हूँ,
शलभ जिसके प्राण में वह निठुर दीपक हूँ,
फूल को उर में छिपाये विकल बुलबुल हूँ,
एक होकर दूर तन से छाँह वह चल हूँ।[1]

रमणीय कल्पना का दूसरा रूप—तिर्यक् कल्पना एक प्रकार की वक्र कल्पना है। इसका व्यंग्यार्थ संगठनात्मक नहीं होता है। वह सदा ही प्रतीयमान रहता है। अतः इस कल्पना के लिये पदभंग, पदलोप, वाक्य-लोप और विरल अक्षर-विन्यास विशेष सहायक सिद्ध होते हैं। छायावादी कवियों के बीच **निराला** के काव्य में तिर्यक् कल्पना की ओर विशेष झुकाव मिलता है। जैसे —

राघव-लाघव—रावण-वारण—गत युग्मप्रहर[2]

अथवा

अमरण भर वरण-गान
... ...
जागी छवि, खुले प्राण।[3]

अथवा

वर्ण-गन्ध धर, मधु-मकरन्द भर
तरु-उर की तरुणिमा तरुणतर
... ...
स्तर-स्तर सुपरिसरा।[4]

महादेवी के काव्य में भी तिर्यक् कल्पना का कहीं-कहीं विनियोग मिलता है। कारण यह है कि इनके काव्य में मोट्टायित और बिब्बोक का एक निरन्तर संघर्ष है। किन्तु, जहाँ मोट्टायित की प्रधानता है अथवा प्रिय के आगमन का संकेत है, वहाँ विच्छित्ति की दशा मिलती है। लेकिन नारी-सुलभ लज्जा या रहस्य-प्रियता के कारण कवयित्री ने इस मोट्टायित अथवा विच्छित्ति को खुलकर प्रकट नहीं होने दिया है, उसे प्रतीयमान रखा है। इस कार्य में कवयित्री को तिर्यक् कल्पना से बहुत सहायता मिली है। जैसे—

शृंगार कर ले री सजनि !
... ...
हिम-स्नात कलियों पर जलाये
जुगनुओं ने दीप से,

१. महादेवी, नीरजा, भारती भंडार, प्रयाग, प्रथम संस्करण, पृ० १९।
२. निराला, अनामिका, भारती भंडार, प्रयाग, द्वितीय संस्करण, पृ० १४८।
३. निराला, गीतिका, भारती भंडार, चतुर्थ संस्करण, पृ० ९।
४. निराला, गीतिका, भारती भंडार, चतुर्थ संस्करण, पृ० ५१।

ले मधु-पराग समीर ने
वन-पथ दिये हैं लीप से;
गाती कमल के कक्ष में
मधु-गीत मतवाली अलिनि ![1]

इस कविता में सम्भावित मिलन-सम्भोग को प्रतीयमान रखने के लिये, उसकी शारीरिक ऊष्मा के अपोहन के लिये तिर्यक् कल्पना का प्रयोग किया गया है। इसी तरह निम्नलिखित पक्तियों में मिलन के समय नायिका के द्वारा प्रस्तावित दीपक बुझा देने के निवेदन को तिर्यक् कल्पना के सहारे पिहित अभिव्यक्ति दी गई है—

मृदु नभ में उर के छाले से
निष्ठुर प्रहरी से पल-पल के,
शलभ न जिन पर मँडराते प्रिय !
भस्म बनाते जो जल-जल के
स्नेह-हीन यह दीपक झिलमिल ![2]

तदुपरान्त, रमणीय कल्पना के तीसरे भेद—सादृश्य-निर्भर कल्पना में स्मृति अथवा साहचर्य के सहारे प्रस्तुत-अप्रस्तुत के बीच रूप-साम्य, धर्म-साम्य, गुण-साम्य, प्रभाव-साम्य, क्रिया-साम्य इत्यादि के आधार पर सादृश्य की स्थापना की जाती है। जैसे—

नील पंक में धँसा अंश जिसका
उस श्वेत कमल-सा शोभन
नभोनीलिमा में प्रभात का
चाँद उनीदा हरता लोचन ![3]

यहाँ नभोनीलिमा के लिये नील पंक और प्रभात के चाँद के लिये श्वेत कमल को वर्णगत सादृश्य के आधार पर ही योजित किया गया है। इसी प्रकार **पन्त** की 'मधुवन' शीर्षक कविता में भी सादृश्य-निर्भर कल्पना का सुन्दर विधान हुआ है।[4] **पन्त** ने कहीं-कहीं सादृश्य-निर्भर कल्पना को आसंग या साहचर्य से मण्डित कर और भी रमणीय बना दिया है। उदाहरण के लिये—

देखता हूँ, जब पतला
इन्द्रधनुषी हलका

---

१. महादेवी, नीरजा, भारती भंडार, प्रयाग, प्रथम संस्करण, पृ० ११।
२. महादेवी, नीरजा, भारती भंडार, प्रयाग, प्रथम संस्करण, पृ० ५१।
३. पन्त, रश्मिबंध, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, १९५८, पृ० ८१।
४. पन्त, गुंजन, भारती भंडार, प्रयाग, छठा संस्करण, पृ० ५३।

रेशमी घूँघट बादल का
खोलती है कुमुद-कला;
तुम्हारे ही मुख का तो ध्यान
मुझे करता तब अन्तर्धान ।[1]

यहाँ कुमुद-कला और शशिमुखी तथा इन्द्रधनुषी बादल और रेशमी घूँघट के सादृश्य को 'तुम्हारे ही मुख का तो ध्यान' कहकर साहचर्य से मण्डित कर दिया गया है और तब कल्पना-विधान को प्रस्तुत किया गया है । इसी तरह **महादेवी** की 'अतिथि से' शीर्षक कविता की ये पंक्तियाँ सादृश्य-निर्भर कल्पना की दृष्टि से ध्यातव्य है—

नीरव नभ के नयनों पर
हिलती हैं रजनी की अलकें,
जाने किसका पथ देखतीं
बिछकर फूलों की पलकें ।[2]

यहाँ नभ और नयन में नीले रग के कारण तथा रजनी के अन्धकार और अलक में कालिमा के कारण जो सादृश्य है, उसी के आधार पर यह कल्पना-विधान प्रस्तुत हुआ है । निम्नलिखित पक्तियों मे भी—

विधु की चाँदी की थाली
मादक मकरन्द भरी-सी,
जिसमें उजियारी रातें
लुटतीं घुलती मिसरी-सी ।[3]

विधु के लिये चाँदी की थाली और उजियारी रात के लिये घुलती मिसरी सादृश्य-निर्भर कल्पना से ही आनीत हैं ।

सादृश्य-निर्भर कल्पना का एक रूप 'विस्थापित सादृश्य' पर आश्रित रहता है। जैसे, तितली और कुसुम में जो सादृश्य है, उसके आधार पर कुसुम के अधिकरण का विस्थापन कर (उद्यान के बदले अनिल का निर्देश कर) तितली को 'अनिल-कुसुम' कह देना । **पन्त** ने 'तितली' शीर्षक कविता में लिखा है—

क्या बाहर से आया, रंगिणि !
उर का यह आतप, यह हुलास ?
या फूलों से ली **अनिल-कुसुम** !
तुमने मन के मधु की मिठास ?[4]

---

१. पन्त, पल्लव, इंडियन प्रेस, प्रयाग, १९३१, पृ० २१ ।

२. महादेवी, नीहार, साहित्य भवन लिमिटेड, इलाहाबाद, चतुर्थ संस्करण, पृ० ५ ।

३. महादेवी, नीहार, साहित्य भवन लिमिटेड, इलाहाबाद, चतुर्थ संस्करण, पृ० २० ।

४. पन्त, युगपथ, भारती भंडार, प्रयाग, प्रथम संस्करण, पृ० ५३ ।

यहाँ 'अनिल-कुसुम' में व्यक्त कल्पना-विधान सादृश्य के अधिकरणगत विस्थापन पर निर्भर है। इसी तरह **प्रसाद** ने भी 'आशा'[1] सर्ग में चाँद को 'रजत-कुसुम' और चाँदनी को 'रजत-कुसुम का पराग' कहा है—

रजत कुसुम के नव पराग-सी,
उड़ा न दे तू इतनी धूल,
इस ज्योत्स्ना की, अरी बावली।
तू इसमें जावेगी भूल।[2]

सादृश्य-निर्भर कल्पना कभी-कभी निरीक्षित यथार्थ या ऋजु पर्यवेक्षण पर आश्रित न रहकर केवल कवि की सूझों के आधार पर चलती है। तथापि यह कल्पना अपने वस्तु-सम्पृक्त आधार की विद्यमानता के कारण अतिकल्पना या 'फैंसी' से भिन्न होती है। उदाहरणार्थ, **महादेवी** ने **'दीपशिखा'** के ग्यारहवें गीत में सूझ के बल पर चलने वाली ऐसी ही सादृश्य-निर्भर कल्पना से काम लिया है—

विहंगम, मधुर स्वर तेरे मदिर हर तार है मेरा।
रही लय-रूप छलकाती,
चली सुधि-रंग ढलकाती,
तुझे पथ स्वर्ण-रेखा,
चित्रमय संसार है मेरा!
... ...
चुने तूने विरल तिनके
गिने मैंने तरल मनके,
तुझे व्यवसाय गति है,
प्राण का व्यवसाय है मेरा!
... ...
बिछी नभ में कथा झीनी,
धुली भू में व्यथा भीनी,

---

१. प्रसाद, कामायनी, भारती भंडार, प्रयाग, अष्टम संस्करण, पृ० ३९।

२. प्रसाद ने 'दर्शन' सर्ग में भी विस्थापित सादृश्य के आधार पर चाँद को 'अवकाश सरोवर का मराल' कहा है –

अवकाश सरोवर का मराल,
कितना सुन्दर, कितना विशाल!
—प्रसाद, कामायनी, भारती भंडार, प्रयाग, अष्टम संस्करण, पृ० २३५।

तड़ित् उपहार तेरा, बादलों
सा प्यार है मेरा ![1]

यहाँ साम्य की समूची शृंखला, जो खग के जीवन और कवयित्री के जीवन के बीच दिखाई गई है, पूर्णतः सूझ के बल पर चलती है। प्रस्तुत गीत के छठे बन्द में 'आँसू की बूँदों' के लिये तरल मनके का सटीक अप्रस्तुत-विधान सूझवाली कल्पना का ही परिणाम है। **महादेवी** ने **'रश्मि'**[2] और **'नीरजा'**[3] में भी सूझवाली कल्पना का प्रयोग किया है। इसी तरह **निराला** की 'तुम और मैं'[4] शीर्षक सम्पूर्ण कविता सूझ वाली कल्पना को उदाहृत करती है।

दूसरी ओर, सादृश्य-निर्भर कल्पना कुछ सन्दर्भों में निरीक्षित (यथार्थ) प्राकृतिक सौन्दर्य पर आश्रित रहती है। निरीक्षित प्राकृतिक सौन्दर्य पर आश्रित सादृश्य-निर्भर कल्पना की विशेषता यह है कि इसमें कल्पना का आधार मुख्यतः प्रकृति का निरीक्षित सौन्दर्य ही रहता है। जैसे, **पन्त** ने 'वीचि-विलास' शीर्षक कविता में लिखा है—

अंग-भंगि में व्योम मरोर,
भौंहों में तारों के झौंर,
नचा, नाचती हो भरपूर,
तुम किरणों की बना हिंडोर,
निज अधरों पर कोमल क्रूर
शशि से दीपित प्रणय-कपूर
चाँदी का चुम्बन कर चूर।[5]

यहाँ वीचियों पर तारों की छाया का झौंरना, लहरों का किरणों के साथ नाचना और लहरों पर चाँदनी का छिटकना प्राकृतिक सौन्दर्य का निरीक्षित या यथार्थ पक्ष है, जिस पर (उद्धरण की) काली पंक्तियों में कल्पना की सहायता से नयी मीनाकारी कर दी गई है। इसी तरह प्राची के गुलालभरे क्षितिज पर बालारुण के हिरण्य-उदय का निम्नलिखित चित्र निरीक्षित प्राकृतिक सौन्दर्य पर आश्रित सादृश्य-निर्भर कल्पना से निर्मित हुआ है—

प्राची में फैला मधुर राग
जिसके मंडल में एक कमल खिल उठा सुनहला भर पराग।[6]

---

१. महादेवी, दीपशिखा, भारती भंडार, प्रयाग, चतुर्थ संस्करण, पृ० ८६-८७।
२. महादेवी, रश्मि, साहित्य भवन, प्रयाग, तृतीय संस्करण, पृ० १२।
३. महादेवी, नीरजा, भारती भंडार, प्रयाग, प्रथम संस्करण, पृ० २४।
४. निराला, अपरा, साहित्यकार संसद प्रयाग, चतुर्थ संस्करण, पृ० ६८-७०।
५. पन्त, पल्लविनी, भारती भंडार, प्रयाग, तृतीय संस्करण, पृ० १०१।
६. प्रसाद, कामायनी, भारती भंडार, प्रयाग, अष्टम संस्करण, पृ० १६८।

प्रसाद ने गर्भवती श्रद्धा का चित्र उपस्थित करते समय भी इस कल्पना का सहारा लिया है—

केतकी-गर्भ-सा पीला मुँह,
आँखों में आलस भरा स्नेह;
कुछ कृशता नयी लजीली थी
कंपित लतिका-सी लिये देह।[1]

यहाँ पीताभ मुख के लिये केतकी-गर्भ और लजीली कृश देह के लिये कंपित लतिका निरीक्षित प्राकृतिक सौन्दर्य से ही आनीत अप्रस्तुत है।

तदनन्तर, रमणीय कल्पना का चौथा भेद उदात्त कल्पना है। इसे हम विराट् कल्पना भी कह सकते है। यह उदात्त या विराट् कल्पना हमें काव्य के उन स्थलों पर मिलती है, जहाँ आलम्बन अपनी भास्वर विशालता या आश्चर्य-जनक सूक्ष्मता से आश्रय के चित्त अथवा उसकी इन्द्रियों को पराभूत कर देता है। छायावादी काव्य मे उदात्त या विराट् कल्पना का सर्वोत्तम उदाहरण **'कामायनी'** के 'दर्शन' सर्ग की इन पक्तियों में मिलता है—

बन गया **तमस था अलक-जाल**
सर्वांग ज्योतिमय था विशाल,
अन्तर्निनाद ध्वनि से पूरित,
थी शून्य भेदिनी सत्ता चित्,
नटराज स्वयं थे नृत्यनिरत
था अन्तरिक्ष प्रहसित मुखरित,
स्वर लय होकर दे रहे ताल
थे लुप्त हो रहे दिशा-काल।
लीला का स्पन्दित आह्लाद,
वह प्रभापुज चितिमय प्रसाद,
आनन्दपूर्ण ताण्डव सुन्दर,
झरते थे उज्ज्वल श्रम-सीकर,
बनते तारा, हिमकर दिनकर
उड़ रहे धूलिकण से भू-धर,
सहार-सृजन से युगल पाद—
गतिशील, अनाहत हुआ नाद।[2]

यहाँ दो कारणों से कवि की कल्पना उदात्त बन गई है। पहला कारण है अंकित

---

१. प्रसाद, कामायनी, भारती भंडार, अष्टम संस्करण, पृ० १४२।

२. प्रसाद, कामायनी, भारती भंडार, प्रयाग, अष्टम संस्करण, पृ० २५२-२५३।

चित्र की वह अनन्वयता, जो हमारी इन्द्रियों को विस्मय-विमुग्ध करने के साथ ही पराभूत कर देती है। इतना विशाल चित्र! सम्पूर्ण अन्धकार सिमट कर जिसका अलक-जाल बन गया हो, लोक-अलोक में व्याप्त ज्योति राशीभूत होकर जिसका दीप्तिमान शरीर बन गई हो, जिसकी गम्भीर ध्वनि से समूचा अन्तरिक्ष मुखरित हो, जिसके नृत्य-निरत तन के श्रमबिन्दुओं के झरने से ही तारकदल, हिमकर और दिनकर अस्तित्व में आ रहे हों तथा जिसके संहार-सृजन रूपी युगल पादों के आघात से बड़े-बड़े भू-धर धूलिकणों की तरह उड़ रहे हों, उसके अनुमान मात्र से ही सहृदय-चित्त का विस्मय-विमुग्ध हो जाना स्वाभाविक है। हम 'सौन्दर्य शास्त्र के तत्त्व' के अन्तर्गत सौंदर्य के विवेचन में देख चुके है कि जहाँ सहृदय-चित्त की यह विस्मय-विमुग्ध दशा रहती है, अर्थात्, आलम्बन जहाँ अपनी भास्वर विशालता से आश्रय के चित्त को पराभूत कर देता है, वहाँ उदात्त का अवतरण हो जाता है। उपरिउद्धृत पंक्तियों में उदात्त के अवतरण का दूसरा कारण यह है कि उन पक्तियों में विनियोग पाने वाली कल्पना के ऊपर शिव से सबद्ध आध्यात्मिक धारणा और पौराणिक संस्कार चामर-छत्र की तरह विराजमान है। उदात्त के धरातल पर अधिष्ठित ऐसी ही कल्पना हमें **महादेवी** की निम्नलिखित पंक्तियों में मिलती है, जिनमें विराट् प्रकृति को कवयित्री ने एक नृत्यनिरत अप्सरा के रूप में चित्रित किया है—

लय गीत मदिर, गति ताल अमर,
अप्सरि तेरा नर्त्तन सुन्दर !
आलोक-तिमिर सित-असित चीर,
सागर-गर्जन रुनझुन मंजीर,
उड़ता झंझा में अलक-जाल,
मेघों में मुखरित किंकिणि-स्वर !
अप्सरि तेरा नर्त्तन सुन्दर !
रवि-शशि तेरे अवतंस लोल,
सीमन्त जटित तारक अमोल,
चपला विभ्रम, स्मित इन्द्रधनुष,
हिमकण बन झरते स्वेद-निकर !
अप्सरि तेरा नर्त्तन सुन्दर !
युग हैं पलकों का उन्मीलन
स्पन्दन में अगणित लय-जीवन
तेरी श्वासों में नाच नाच

उठता बेसुध जग सचराचर !
अप्सरि तेरा नर्त्तन सुन्दर ![1]

महादेवी के काव्य में उदात्त कल्पना के अनेक उदाहरण मिलते हैं। जैसे—

उभर आये सिन्धु-उर में
वीचियों के लेख,
गिरि कपोलों पर न सूखी
आँसुओं की रेख।[2]

अथवा

परिधिहीन रंगों भरा व्योम-मन्दिर,
चरण-पीठ भू का व्यथासिक्त मृदु उर,
ध्वनित सिन्धु में है रजत-शख का स्वन।[3]

यहाँ प्रथम उद्धरण में सिन्धु के उर और गिरि के कपोल की कल्पना कितनी विराट् है। उसी तरह द्वितीय उद्धरण में पूजा की सामग्रियों के मिस कितनी उदात्त कल्पना की आयोजना है ![4] **महादेवी** ने कहीं-कहीं कल्पना की लघिमा और महिमा नाम की शक्तियों के मिश्रण से उदात्त की सृष्टि की है। लघिमा तथा महिमा के औचक मिश्रण से आश्चर्य या विस्मय का प्रादुर्भाव होता है और उसी से उदात्त की सृष्टि हो जाती है। जैसे—

जब मेरे लघु उर में अम्बर,
नयनों मे उतरेगा सागर,

---

१. महादेवी, नीरजा, भारती भंडार, प्रयाग, प्रथम संस्करण, पृ० ६६।

२. महादेवी, दीपशिखा, भारती भण्डार, प्रयाग, चतुर्थ संस्करण, पृ० ७३।

३. उपरिवत्, पृ० ७८।

४. महादेवी ने एक दूसरे गीत ('मिट चली घटा अधीर') में भी पावस-प्रकृति का चित्रण करते समय रूप, व्यापार और सज्जा के माध्यम से अपनी उदात्त कल्पना को प्रस्तुत किया है—

चितवन तम-श्याम रंग,
इन्द्रधनुष भृकुटि-भंग,
विद्युत का अंगराग,
दीपिति मृदु अंग-अंग,
उड़ता नभ में अछोर तेरा नव नील चीर !
अविरत गायक विहंग,
लास-निरत किरण-संग,
पग-पग पर उठते बज,
चापों में जल-तरंग।

—महादेवी, दीपशिखा, भारती भण्डार, प्रयाग, चतुर्थ संस्करण, पृ० १०२।

तब मेरी कारा में झिलमिल
दीपक मेरे छाले होंगे ![1]

यहाँ यह देखकर कि लघु उर में अम्बर और नयनों में सागर—इतने लघु में इतना महान् अवसित हो जायगा, द्रष्टा के चित्त में उस विस्मय का आविर्भाव हो जाता है, जो प्रायः उदात्त की सृष्टि का एक सबल कारण हुआ करता है। वास्तव में ऐसी उदात्त कल्पना से ही उन उदात्त बिम्बों (निराला के शब्दों में 'विराट् चित्रों') की सृष्टि होती है, जिनके संख्याधिक्य से किसी साहित्य की आन्तरिक शक्ति का पता चलता है। **निराला** की निम्नलिखित पंक्तियाँ इस दृष्टि से विचारणीय हैं—

कौन तुम शुभ्र - किरण - वसना ?
सीखा केवल हँसना—केवल हँसना—
शुभ्र-किरण-वसना !
मन्द मलय भर अङ्ग-गन्ध मृदु,
बादल अलकावलि कुंचित ऋजु,
तारक हार, चन्द्रमुख, मधुऋतु,
सुकृत-पुंज-अशना ।[2]

निराला के काव्य में यत्र-तत्र उदात्त कल्पना की दार्शनिक परिणति मिलती है। दार्शनिक दृष्टि से यह कहा जाता है कि उदात्त के प्रत्यक्ष होते ही उदात्त की महिमा से तद्संबंधित इन्द्रिय तत्क्षण पराभूत होने लगती है। **निराला** इस तथ्य से सुपरिचित थे। तभी तो इन्होंने यह लिखा कि दिव्य (उदात्त) छवि को देखते ही द्रष्टा के लोचन हारने लगते हैं—

देख दिव्य छवि लोचन हारे।
रूप अनन्त, चन्द्रमुख, श्रम रुचि;
पलक तरलतम, मृग-दृग-तारे।[3]

तदनन्तर, रमणीय कल्पना का चौथा भेद विभावनशील कल्पना है। जहाँ 'अकारण' से कार्य की उत्पत्ति का विशिष्ट भावन किया जाता है, वहाँ विभावनशील कल्पना रहती है। यह कल्पना एक प्रकार की अनुक्तनिमित्ता विशिष्ट भावना-शक्ति पर निर्भर रहती है। छायावादी कविताओं में इस प्रकार की कल्पना के अनेक उदाहरण मिलते हैं। जैसे—

---

१. महादेवी, सांध्यगीत, चतुर्थ संस्करण, पृष्ठ ७४।
२. निराला, गीतिका, भारती भण्डार, प्रयाग, चतुर्थ संस्करण, पृ० २६।
३. निराला, गीतिका, भारती भण्डार, प्रयाग, चतुर्थ संस्करण, पृ० ३८।

दिन की आभा दुलहिन बन
आई निशि निभृत शयन पर,
वह छवि की छुईमुई-सी
मृदु मधुर लाज से मर-मर।[1]

अथवा

अगणित बाहें बढ़ा उदधि ने
इन्दु करों से आलिंगन
बदले, विपुल चटुल लहरों ने
तारों से फेनिल चुम्बन।[2]

यहाँ उदधि और इन्दु-करों तथा तारों और लहरों के आलिंगन या चुम्बन के बदलने में विभावनशील कल्पना है। इसी तरह **प्रसाद** की इन पंक्तियों—

कहता दिगन्त से मलय पवन,
प्राची की लाज भरी चितवन—
है रात घूम आई मधुवन, यह आलस की अंगराई है![3]

में विभावनशील कल्पना है, क्योंकि यहाँ रात भर मधुवन में घूमते रहने को आलस की अंगराई का कारण बतलाया गया है। अतः स्पष्ट है कि यहाँ भी रमणीयता के लिये कारण की कल्पना की गई है। ऐसी ही विभावनशील कल्पना हम **निराला** के इस गीत में—

आज प्रथम गाई पिक पंचम।
गूँजा है मरु विपिन मनोरम।
मरुत-प्रवाह, कुसुम-तरु फूले,
बौर-बौर पर भौंरे झूले,
पात गात के प्रमुदित झूले,
छाई सुरभि चतुर्दिक उत्तम।[4]

पाते है, क्योंकि 'पिक पंचम' वस्तुतः कुसुमों के फूलने, बौरों पर भौंरों के झौंरने इत्यादि जैसे वसन्तागम के क्रिया-व्यापारों का कारण नहीं है। किन्तु, यहाँ कवि ने 'पिक पंचम' को ही इन सभी वासन्तिक क्रिया-कलापों का कारण बतलाया है। इस प्रकार जो कारण नहीं है, उसका कारणवत् निर्देश करने से इसमें विभावनशील कल्पना है। यहाँ ध्यातव्य है कि विभावनशील कल्पना जब

---

१. पन्त, गुंजन, भारती भण्डार, प्रयाग, छठा संस्करण, पृ० ८६।
२. पन्त, पल्लविनी, इण्डियन प्रेस, प्रयाग, १९३१, पृ० ३६।
३. प्रसाद, लहर, भारती भण्डार, प्रयाग. पंचम संस्करण, पृ० २०।
४. निराला, अर्चना, कला-मन्दिर, दारागंज, इलाहाबाद, १९५०, पृ० ३२।

अविरल बन जाती है अथवा अधिक उड़नशील हो जाती है, तब वह अतिकल्पना की सीमा में आ जाती है। यों साधारणतः विभावनशील कल्पना में रमणीयता अधिक रहती है।

रमणीय कल्पना का अन्तिम मुख्य भेद मानवीकरण-निर्भर कल्पना है। यह कल्पना, जैसा कि इसके नाम से ही प्रकट है, मानवीकरण के माध्यम से अपना प्रसार पाती है। मानवीकरण प्रतिबिंबित सौन्दर्य-चित्रण की एक विकसित दशा है और निर्जीव मानवेतर प्रकृति में चेतना की स्वीकृति इसकी पूर्व-मान्यता है। अतः मानवीकरण को हम दर्शन की सर्वात्मवादी दृष्टि का प्रकृति के खण्ड-चित्रों में कलात्मक प्रयोग कह सकते हैं। इसमें प्रकृति पर मानव-व्यापारों के अलावा मानवीय आकार, अंगन्यास और तद्गत अभिविन्यसन का भी आरोप किया जाता है। सामान्यतः यह माना गया है कि मानवीकरण की प्रवृत्ति पाश्चात्य साहित्य, विशेषकर अंग्रेजी की देन है। किन्तु, खोज-बीन करने पर वेदों में संगृहीत उषा, मरुत, अग्नि आदि से संबद्ध ऋचाओं तक में मानवीकरण की प्रवृत्ति मिलती है। छायावादी कविता में दो प्रकार की मानवीकरण-निर्भर कल्पना का विधान हुआ है—सन्दर्भात्मक और स्फुट। सन्दर्भात्मक मानवीकरण-निर्भर कल्पना में मानवेतर प्रकृति के किसी खण्ड-चित्र पर मानव-व्यापारों, अंगन्यास और मानवीय अभिविन्यसन का समवेत आरोप रहता है। दूसरी ओर स्फुट मानवीकरण-निर्भर कल्पना में वनस्पति अथवा जड़ जगत् की किसी वस्तु पर विरल मानव-व्यापार या विच्छिन्न चेष्टा का बाधित आरोप किया जाता है। इसमें किसी पूरे सन्दर्भ के अन्तर्गत आरोप का नैरन्तर्य या आरोप की व्याप्ति नहीं रहती है। स्फुट मानवीकरण-निर्भर कल्पना उद्दीपन रूप में चित्रित प्रकृति के प्रसंग में अधिक मिलती है। वस्तुतः मानवीकरण है भी उभयनिष्ठ। आलम्बन और उद्दीपन—दोनों ही रूपों में चित्रित प्रकृति-वर्णन में मानवीकरण की समान संभावनायें हैं।

छायावादी कविता में मानवीकरण-निर्भर कल्पना का स्वरूप कुछ स्थलों पर बहुत ही सूक्ष्म और भावुक हो गया है। जैसे—

अम्बर पनघट में डुबो रही
तारा घट ऊषा नागरी।
... ...
लो यह लतिका भी भर लाई
मधु मुकुल नवल रस-गागरी।[1]

यहाँ मानवीकरण-निर्भर कल्पना रूपक और क्रिया-सौष्ठव (डुबो रही, भर

१. प्रसाद, लहर, भारती भण्डार, प्रयाग, पाँचवाँ संस्करण, पृ० १९।

लाई) का आश्रय लेकर चली है, अतः बहुत ही भावुक हो गई है। दूसरी ओर छायावादी कविता मे कुछ स्थलों पर मानवीकरण-निर्भर कल्पना बहुत ही ऊहात्मक और इतिवृत्तात्मक हो गई है। उदाहरणार्थ, उपरिविवेचित कविता से ही मिलते-जुलते चित्र-फलक पर रची गई **प्रसाद** की दूसरी कविता—'पावस-प्रभात' को हम देख सकते हैं—

क्लान्त तारकागण की मद्यप-मण्डली,
नेत्र निमीलन करती है फिर खोलती।
रिक्त चषक-सा चन्द्र लुढ़क कर है गिरा,
रजनी के आपानक का अब अन्त है।
रजनी के रंजक उपकरण बिखर गये
घूँघट खोल ऊषा ने झाँका और फिर—
अरुण अपांगों से देखा, कुछ हँस पड़ी,
लगी टहलने प्राची प्रांगण में तभी।[1]

यहाँ मानवीकरण-निर्भर कल्पना का सम्पूर्ण धरातल ऊहात्मक और वर्णनात्मक है।[2] कुल मिलाकर छायावादी काव्य में मानवीकरण-निर्भर कल्पना की प्रचुरता है। इसमें भी क्रिया-सौष्ठव पर आश्रित मानवीकरण का उपयोग अधिक हुआ है। जैसे **प्रसाद** की इन पंक्तियों में—

अन्तरिक्ष में अभी सो रही है ऊषा मधुबाला,
अरे खुली भी नहीं अभी तो प्राची की मधुशाला,
सोता तारक किरन पुलक रोमावलि मलयज वात,
लेते अँगड़ाई नीड़ों में अलस विहग मृदु गात।[3]

सम्पूर्ण मानवीकरण क्रिया-सौष्ठव पर निर्भर है। इसी तरह 'पग धरने' के एकमात्र क्रिया-सौष्ठव पर निम्नलिखित पंक्तियों में व्यक्त मानवीकरण की कल्पना अवलम्बित है—

---

१. प्रसाद, झरना, भारती भण्डार, प्रयाग, सातवाँ संस्करण, पृ० २५।

२. प्रसाद ने बादलो से घिरे आसमान की मलिन चाँदनी पर 'मलिना' शीर्षक एक ऐसी ही कविता लिखी है, जिसमें कल्पना का सम्पूर्ण विधान इतिवृत्तात्मक है—

बैठी है वसन मलीन पहन इक बाला।
पुरइन पत्रों के बीच कमल की माला।
उस मलिन वसन में अंग-प्रभा दमकीली।
ज्यों धूम्र नभ में चन्द्रकला चमकीली।

—प्रसाद, कानन-कुसुम, हिन्दी पुस्तक भंडार, लहेरियासराय, तृतीय संस्करण, पृ० २७।

३. प्रसाद, लहर, भारती भण्डार, प्रयाग, पाँचवाँ संस्करण, पृ० ४५।

देखा नीलम सोपानों पर
नभ के, चढ़ती आभा सुन्दर पग धर-धर ।[1]

निराला की प्रसिद्ध कविता 'जुही की कली' में भी मानवीकरण-निर्भर कल्पना का विनियोग है ।[2] इसमें जुही की कली एवं मलयानिल को क्रमशः नायिका और नायक की भूमिका में रखकर मानवीकरण प्रस्तुत किया गया है। इसी तरह **महादेवी** ने बसन्त-रजनी को मानवीकरण-निर्भर कल्पना के सहारे बहुत ही चित्र-प्रगल्भ पद्धति से उपस्थित किया है—

धीरे-धीरे उतर क्षितिज से
आ बसन्त रजनी !
तारकमय नव वेणी-बन्धन
शीश-फूल कर शशि का नूतन,
रश्मि-वलय सित घन अवगुण्ठन,
मुक्ताहल अभिराम बिछा दे
चितवन से अपनी !
... ...
सुन प्रिय की पदचाप हो गई
पुलकित यह अवनी ।
सिहरती आ बसन्त-रजनी ।[3]

स्पष्ट है कि छायावादी काव्य में सर्वात्मवादी चेतना के कारण मानवीकरण-प्रेरित कल्पना की प्रचुरता है । **पन्त**, **प्रसाद**, **निराला** और **महादेवी** की तरह **रामकुमार वर्मा** की कुछ कविताओं में भी मानवीकरण-प्रेरित कल्पना के रमणीय उदाहरण मिलते हैं । जैसे, निम्नलिखित कविता में डा० **वर्मा** ने रजनी का जो मनमोहक और दृष्टिरंजक रूप उपस्थित किया है, वह मानवीकरण-प्रेरित कल्पना से ही निष्पन्न है—

इस सोते संसार बीच
जगकर सजकर रजनी बाले !
कहाँ बेचने जाती हो,
ये गजरे तारों वाले ?
मोल करेगा कौन,
सो रही हैं उत्सुक आँखें सारी ।

---

१. निराला, तुलसीदास, भारती भण्डार, प्रयाग, चतुर्थ संस्करण, पृ० ४६ ।
२. निराला, अपरा, साहित्यकार संसद, प्रयाग, चतुर्थ संस्करण, पृ० १४-१५ ।
३. महादेवी, नीरजा, भारती भण्डार, प्रयाग, प्रथम संस्करण, पृ० ४-५ ।

मत कुम्हलाने दो,
सूनेपन में अपनी निधियाँ न्यारी।[1]
... ...

इस तरह, कुल मिलाकर, छायावादी काव्य में रमणीय कल्पना-विधान की ओर विशेष रूझान है। रमणीयता के प्रति विशेष आग्रह के कारण छायावादी कल्पना-विधान में बुद्धि की अपेक्षा बाह्य संवेदनों की प्रधानता है। अनेक विचारकों, जैसे जाक मारिताँ ने कल्पना के तात्त्विक विवेचन में कल्पना के साथ बुद्धि और बाह्य सवेदन के संबध का आवश्यक संकेत किया है।[2] मेरे विचार से जो कविता लोक-मंगल की सोद्देश्य दृष्टि से लिखी जाती है अथवा जिसकी पृष्ठभूमि में सहजानुभूति या सहज प्रेरणा का अभाव रहता है, उसके कल्पना-विधान में बुद्धि-तत्त्व की अधिकता रहती है। छायावादी कविता न लोकमंगल की सोद्देश्य दृष्टि से लिखी गई थी और न उसके सृजन में सहजानुभूति का अभाव था, अत: उसके कल्पना-विधान में स्वभावत: बुद्धि का अश अधिक नहीं है। इस प्रकार बुद्धिप्रधान कल्पना और सवेदनशील कल्पना के द्विविध विभाजन (जैसा कि प्लोटाइनस[3] ने किया है) की दृष्टि से छायावादी काव्य संवेदनशील कल्पना से भरा-पड़ा है। संवेदनशील कल्पना का संबंध मनुष्य की सहज आत्मा से है और बुद्धिप्रधान कल्पना का संबंध मनुष्य के विकल्पात्मक मन से है। अतः संवेदनशील कल्पना-विधान में, जिससे छायावादी कविता परिपूर्ण है, उन सेन्द्रिय प्रत्यक्षों की प्रधानता रहती है, जो मानव-चित्त को प्रभावित करने में पर्याप्त समर्थ होते हैं।

[पृ० १८१-१८२ पर तालिकाओं में कल्पनाके विविध प्रकारों का विवेचन किया गया है।]

---

१. रामकुमार वर्मा, आधुनिक कवि, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, संवत् १९९८, पृ० ९६।

२. *Jacques Maritain,* Creative Intuition in Art and Poetry, London, 1954, p. 107.

३. Plotinus and Neoplatonism, Philippus Villiers Pistarius, Bowes & Bowes, Cambridge, 1952.

तालिका (संख्या १)

कल्पना
पुनर्निर्मायक कल्पना
रचनात्मक कल्पना
स्मृतिनिर्भर
स्मृत्याभास-निर्भर
प्रत्यभिज्ञाश्रित
व्यावहारिक
नन्दतिक
पुनःप्रत्यक्षात्मक
प्रमृष्टतत्ताक
तत्सदृश
तद्विलक्षण
विभावविधायक
तद्भव
अनुमानाश्रित
सृजनात्मक
मुक्तयादृच्छिकी
पूर्ववत्
शेषवत्
सामान्यतोदृष्ट
संकल्पित
असंकल्पित

तालिका (संख्या २)
रमणीय कल्पना
सावयव
तिर्यक्
सादृश्य-निर्भर
उदात्त
विभावनशील
मानवीयकरण-निर्भर
उपकरणमूलक
निषेधात्मक
सांग
मालारूप
साहचर्याश्रित
विस्थापित सादृश्य पर आश्रित
सूक्ष्म पर आश्रित
पर्यवेक्षणाश्रित
सन्दर्भात्मक
स्फुट
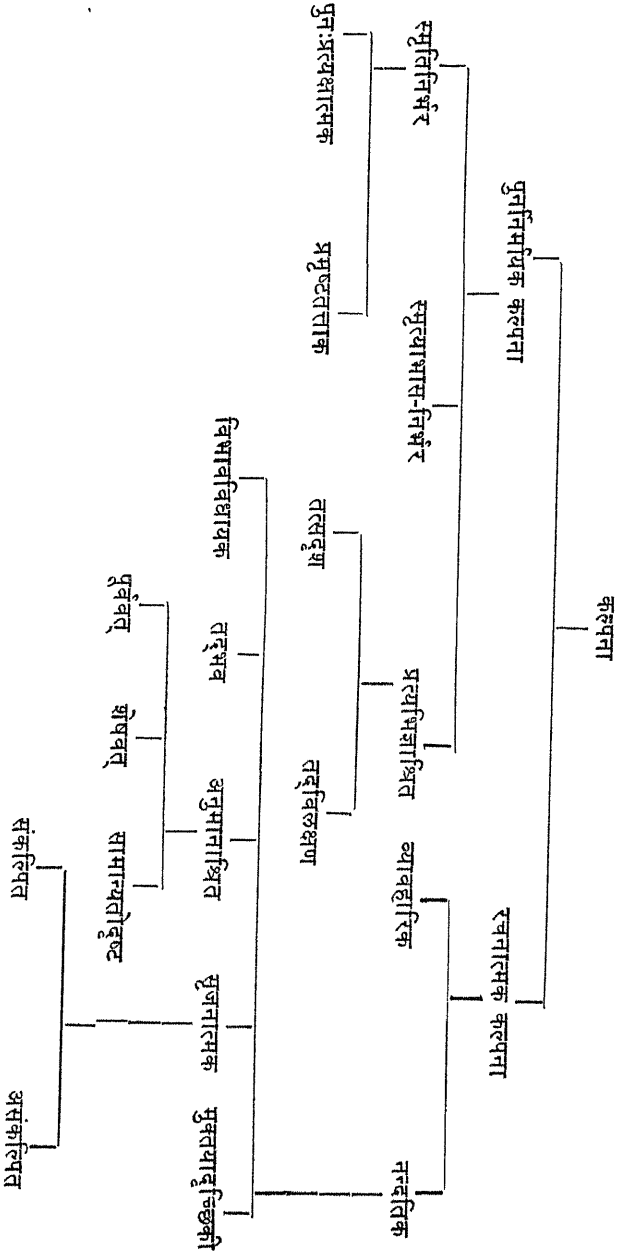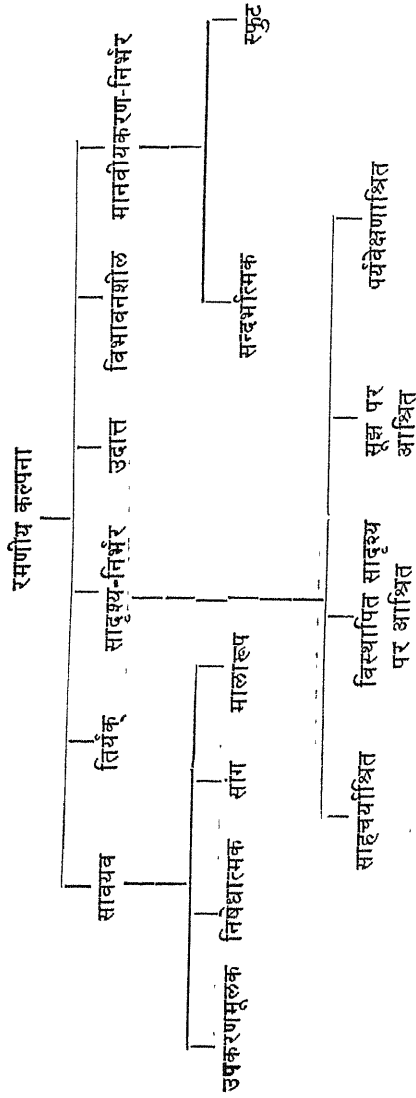
चतुर्थ अध्याय

छायावादी कविता में बिम्ब-विधान

छायावादी कविता में बिम्ब-विधान

बिम्ब भावों को रूप देता है, कारण, वह भाव-जगत् में आई हुई वस्तुओं या उनके आसंगो का कल्पना-शक्ति से निर्मित मानसिक चित्र हुआ करता है। बिम्ब कविता के क्षेत्र में, प्रायः, अप्रस्तुत-विधान या शब्द-चित्र का रूप धारण कर लेता है। इतना ही नहीं, काव्य-जगत् में रूपक, साध्यवसान रूपक, उपमा, मानवीकरण इत्यादि को भी कवि के कला-चातुर्य से बिम्बों का धरातल प्राप्त हो जाता है। तदनन्तर, ऐन्द्रियता बिम्ब-विधान का एक अनिवार्य तत्त्व है। केवल मानस बिम्बों में, जहाँ मूर्त्त के लिए अमूर्त्त विधान प्रस्तुत किया जाता है, ऐन्द्रियता का अभाव रहता है। अतः सशक्त बिम्ब, प्रायः, ऐन्द्रिय बिम्ब हुआ करते है। ये ऐन्द्रिय बिम्ब, अधिकतर, दृष्टि, गंध, रस, स्पर्श, ध्वनि और गति पर निर्भर रहा करते है। काव्य-जगत् में दृष्टि और ध्वनि पर निर्भर बिम्ब अधिक मिलते हैं, और इन दोनों प्रकार के बिम्बों की तुलना में गंध, रस तथा स्पर्श से संबंधित बिम्ब अर्थात् घ्राणज, रासनिक और स्पार्शिक बिम्ब अपेक्षाकृत कम मिलते है। यों चाक्षुष बिम्बों की प्रधानता को स्वीकार करने वाले विचारक यह भी कहते है कि सभी प्रकार के ऐन्द्रिय बिम्बों में चाक्षुषता कुछ न कुछ मात्रा में अवश्य विद्यमान रहती है। यह दूसरी बात है कि चाक्षुषेतर बिम्बों में दृष्टि-चेतना गौण हो जाती है और वह इन्द्रिय प्रमुखता प्राप्त कर लेती है, जिसके साथ बिम्ब का अधिक संबंध रहता है।

कुल मिलाकर यह कहा जा सकता है कि कवि की सौन्दर्य-चेतना से संबद्ध सभी उत्कृष्टतायें और विकृतियाँ उसके बिम्ब-विधान में परिलक्षित होती हैं। बिम्बों के द्वारा कवि अपनी अनुभूतियों, भावों और कल्पित छवियों को चित्रित करता है। इन बिम्बों की सुषमा और सन्धिबद्धता योजित वस्तु-विशेष के आसन्न संबंधों तथा तद्प्रसूत भाव-संवेगों की अनुकूल अभिव्यक्ति पर निर्भर करती हैं। अतः सफल बिम्ब-विधान के लिये प्रथम कोटि की औपम्य-विधायिनी कारयित्री प्रतिभा की आवश्यकता होती है। आशय यह है कि बिम्बों के द्वारा कवि केवल वस्तु-विशेष का मानसिक पुनःप्रत्यक्ष ही नहीं करता, बल्कि उसे किसी गाढ़ अनुभूति के सन्दर्भ में लाकर मनोरम बना देता है। इस प्रकार वह बिम्ब-विधान के द्वारा आश्रय और आलम्बन के बीच न्यस्त भावात्मक एव वस्तुनिष्ठ सबधों को रसात्मक प्रशस्ति देता है।

छायावादी कवियों ने बिम्ब के लिये प्राय: 'चित्र' शब्द का प्रयोग किया है और चित्र-विधान के प्रति प्रचुर आग्रह दिखलाया है। **निराला** ने उत्कृष्ट चित्र-विधान के लिये भाव, चित्र और शब्द-चयन—तीनों की अनुकूल अन्विति को आवश्यक माना है। इनका कहना है कि जहाँ चित्र (बिम्ब) और भाव का समन्वय अनुकूल शब्दों के माध्यम से व्यक्त होता है, वहाँ उत्कृष्ट कविता बनती है। इन्होंने अपनी मान्यता की पुष्टि में **पन्त** की इन पंक्तियों को उदाहृत किया है[1]—

कनक-छाया मे जबकि सकाल
खोलती कलिका उर के द्वार,
सुरभि-पीडित मधुपों के बाल
पिघल बन जाते है गुञ्जार;
न जाने ढुलक ओस मे कौन
मुझे इंगित करता तब मौन।

यहाँ 'शब्दों के साथ भाव और चित्र के समन्वय से' उत्कृष्टता का अवतरण हो गया है। **निराला** ने शब्दों के साथ भाव और चित्र के इसी समन्वय को अपनी इन पंक्तियों में भी चरितार्थ माना है—

आवृत-सरसी-उर-सरसिज उठे,
केसर के केश कली के छुटे,
स्वर्ण-शस्य-अंचल पृथ्वी का लहराया—
सखि, बसन्त आया।[2]

सच बात यह है कि छायावादी कवियों ने अपने प्रारम्भिक रचनाकाल में ही अच्छी कविता के लिये बिम्ब-विधान और चित्रात्मकता[3] की आवश्यकता को महसूस कर लिया था, जिसका पता **'पल्लव'** की भूमिका के इन शब्दों

---

१. निराला, प्रबन्ध-प्रतिमा, भारती भण्डार, इलाहाबाद, प्रथम संस्करण, पृ० २८२-२८३।

२. उपरिवत्, पृ० २८३।

३. छायावादी कविता की चित्रात्मकता और चित्रभाषा पर श्री मुकुटधर पाण्डेय ने इस प्रकार विचार किया है—"छायावाद में किसी दृश्य का ज्यों का त्यों चित्र उतारा जाता है; पर शब्द ऐसे वेग वाले प्रयुक्त किये जाते है कि भाषा उड़ती जान पड़ती है। पाठक उस चित्र को पकड़ना चाहता है, पर अभी वह उसकी आँखों के सामने हुआ ही था कि न जाने कहाँ अनन्त आकाश में लीन हो जाता है।...... ऐसी कविताओं में शब्द सजीव होते हैं। वे आदमियों की तरह चलते-फिरते और इशारा करते हैं। बोलते भी हैं......उनमें रूप-रंग और छाया तथा प्रकाश भी पाये जाते हैं।"
—श्री शारदा, जबलपुर, वर्ष १, खण्ड १, १३ सितम्बर, १९२०, संख्या ६, पृ० ३४१।

से चलता है—"कविता के लिये चित्र-भाषा की आवश्यकता पड़ती है। उसके शब्द सस्वर होने चाहिये, जो बोलते हों; सेब की तरह जिनके रस की मधुर लालिमा भीतर न समा सकने के कारण बाहर झलक पड़े; जो अपने भाव को अपनी ही ध्वनि में आँखों के सामने चित्रित कर सकें, जो झंकार में चित्र और चित्र में झंकार हों...... ।"[1] फलस्वरूप, छायावादी कविता में प्रारम्भ से अन्त तक चित्रों (बिम्बों) की प्रचुरता का अबाध निर्वाह हुआ है। इस प्रचुरता का कारण-निर्देश करते हुए पन्त ने लिखा है कि "छायावादी शैली में भाव और रूप अन्योन्याश्रित होकर शब्द की चित्रात्मकता में प्रस्फुटित होते हैं।"[2] दूसरी बात यह है कि चित्रों से युक्त कविता में कल्पना-वैचित्र्य का समावेश अधिक रहता है। साथ ही, उसमें मांसल एवं ऐन्द्रिय रूप-रंगों के आधान की सुलभता रहती है। इन्हीं कारणों से हम छायावादी कविता में बिम्ब-विधान की प्रचुरता पाते है।

बिम्ब-विवेचन के प्रसग में यह विचारणीय है कि कविता में बिम्ब-विधान की पद्धति अथवा सारणी कवि के व्यक्तित्व या चिन्ताधारा के अनुरूप विविध प्रकार की हुआ करती है। तदनन्तर, बिम्बों के निर्माण-चयन के क्षेत्र में वही कवि कुछ नयी जमीन काट पाता है, जिसके बिम्ब-विधान की पद्धति स्वानुभूति पर निर्भर किसी मौलिक सिद्धान्त के द्वारा परिचालित होती है। प्रेषणीयता की दृष्टि से भी यह सच है कि किसी निश्चित पद्धति के अनुसार विनियोजित बिम्ब विशृंखल बिम्बों की अपेक्षा अधिक साधारणीकरण-सुलभ होते है। किन्तु, छायावादी कवियों ने बिम्ब-विधान के क्रम में इन बातों पर बहुत कम ध्यान दिया है।

छायावादी कवियों की कुछ शक्ति जीर्ण बिम्बों (ट्राइट इमेजेज) के कायाकल्प या नवोद्धार में भी लगी है। छायावादी कवियों ने इन जीर्ण बिम्बों को अधिकतर संस्कृत काव्य से ग्रहण किया है और उन्हें नयी व्यंजना या नयी संवेदनाओं के सन्दर्भ में रखकर नूतन अर्थछवियाँ प्रदान की है। उदाहरणार्थ, संस्कृत साहित्य में 'लीला कमल' के अनेक सलील चित्र मिलते है, साथ ही, लीलाब्जं, लीलाम्बुजं, लीलारबिन्दं, लीलातामरसम्, लीलापद्मं इत्यादि जैसे उसके अनेक पर्याय भी। किन्तु, इन सभी रूपों में 'लीला कमल' प्राय: उसी अर्थ-सन्दर्भ में प्रयुक्त होता रहा है, जिसे हम 'मेघदूत' की इन पंक्तियों में पाते हैं—

---

१. पन्त, पल्लव, इंडियन प्रेस, प्रयाग, १९३१, पृ० २६।

२. पन्त, चिदम्बरा, राजकमल प्रकाशन, १९५९, चरण-चिह्न, पृ० १।

हस्ते लीलाकमलमलके बालकुन्दानुबिद्धं
नीता लोध्रप्रसवरजसा पाण्डुतामाननेश्रीः ।
चूडापाशे नवकुरबकं चारु कर्णे शिरीषं
सीमन्ते च त्वदुपगमजं यत्र नीपं वधूनाम् ॥[१]

किन्तु, महादेवी ने इस बहुधा-प्रयुक्त 'लीला कमल' को अर्पण-तत्पर जीवन का अप्रस्तुत बनाकर जो मार्मिक बिम्ब-विधान उपस्थित किया है, वह अप्रतिम है—

जो तुम्हारा हो सके लीलाकमल यह आज,
खिल उठे निरुपम तुम्हारी देख स्मित का प्रात ।
जीवन विरह का जलजात ।[२]

इसी तरह प्रेम की तन्मय दशा में सीखे हुए रागों के भूलने का यह चित्र—

भूलती थी मै सीखे राग
बिछलते थे कर बारम्बार,
तुम्हें अब आता था करुणेश!
उन्हीं मेरी भूलों पर प्यार ।[3]

संस्कृत साहित्य में अंकित इन स्थिति-चित्रणों पर नयी मीनाकारी है—

बहुशोऽप्युपदेशेषु यथा मामीक्षमाणया
हस्तेनसूस्तकोणेन कृतमाकाशवादितम् ।[४]

अथवा

उत्सङ्गे वा मलिनवसने सौम्य ! निक्षिप्य वीणां
मद्गोत्राङ्कं विरचितपदं गेयमुद्गातुकामा ।
तन्त्रीमार्द्रां नयनसलिलैः सारयित्वा कथंचिद्
भूयो भूयः स्वयमपि कृतां मूर्च्छनां विस्मरन्ती ।[५]

इस तरह छायावादी कविता में अनेक ऐसे स्फुट बिम्ब और शब्द-बिम्ब हैं, जो सस्कृत काव्य से गृहीत होकर नयी भूमिकाओं में प्रयुक्त हुए है । जैसे, कालिदास की इन पंक्तियों—

---

१. कालिदास, मेघदूत, जी० पाल नारायण एण्ड को०, बम्बई, १९४७, पृ० ४९-५० ।

२. महादेवी वर्मा, नीरजा, भारती भण्डार, प्रयाग, प्रथम, संस्करण, पृ० १८ ।

३. महादेवी वर्मा, आधुनिक कवि, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, चतुर्थ संस्करण, पृ० १ ।

४. भास, स्वप्नवासवदत्तम्, पंचम अंक, श्लोक संख्या ६ ।

५. कालिदास, मेघदूत (उत्तरमेघ), काले, जी० पाल नारायण एण्ड को०, बम्बई, १९४७, पृ० ६६ ।

मरुत्प्रयुक्ताश्च मरुत्सखाभं तमर्च्यमारादभिवर्त्तमानम् ।
अवाकिरन्बाललताः **प्रसूनैराचारलाजैरिव** पौरकन्याः ।।[१]

में प्रयुक्त (रेखांकित) बिम्ब (लतिकाओं के द्वारा खील की वर्षा) **महादेवी** की इन पंक्तियों में एक नई अदा के साथ उपस्थित हुआ है—

तारक-लोचन से सींच-सींच नभ करता रज को विरज आज ।
बरसाता पथ में हरसिंगार केशर से चर्चित **सुमन-लाज** ।[२]

निराला ने भी **'सहस्राब्दि'** शीर्षक कविता में 'लाज' का प्रयोग जिस शब्द-बिम्ब की तरह किया है—

वे सजी हुई कलशों से अकलुष कामिनियाँ,
करतीं वर्षित **लाजों** की अजलि भामिनियाँ ।[३]

उस पर **माघ** के द्वारा श्रीकृष्ण के स्वागत-वर्णन में प्रयुक्त इस पंक्ति की छाया स्पष्ट है—

करयुग्मपद्म मुकुलापवर्जितैः प्रतिवेश्म लाजकुसुमैरवाकिरन् ।[४]

इस प्रकार छायावादी कवियों ने जहाँ पुराने बिम्बों को नया सन्दर्भ प्रदान कर नयी सुषमा से अनुप्राणित किया है, वहाँ इन्होंने संस्कृत काव्य के अनेक पुराने बिम्बों और अभिव्यक्ति-भंगिमाओं का सीधा प्रभाव भी ग्रहण किया है। उदाहरणार्थ, **महादेवी** की इस पंक्ति—

केकी-रव की नूपुर-ध्वनि सुन **जगती जगती** की मूक प्यास ।[५]

में प्रयुक्त यमक से भारवि के हिमवान्-वर्णन की इन पक्तियों में उपस्थित यमक का कितना साम्य है—

सुलभैः सदा नयवताऽयवता विधिगुह्यकाधिप रमैः परमैः ।
अमुना घनैः क्षितिभृतातिभृता समतीत्य भाति **जगती जगती** ।।[६]

इसी तरह पन्त की 'शारदहासिनि'—

नीले नभ के शतदल पर,
वह बैठी शारदहासिनि ।
मृदु करतल पर शशि-मुख धर,
नीरव, अनिमिष, एकाकिनि ।[७]

---

१. कालिदास, रघुवंशम्, द्वितीय सर्ग, मोतीलाल बनारसीदास, पटना, १९६१, पृ० १२ ।
२. महादेवी, सांध्यगीत, भारती भण्डार, प्रयाग, चतुर्थ संस्करण, पृ० २८ ।
३. निराला, अणिमा, युग-मन्दिर, उन्नाव, १९४३, पृ० ३६ ।
४. माघ, शिशुपालवधम्, चौखम्बा विद्याभवन, बनारस, १९५५, त्रयोदश सर्ग, पृ० ४९३ ।
५. महादेवी वर्मा, नीरजा, भारती भण्डार, प्रयाग, प्रथम संस्करण, पृ० २२ ।
६. भारवि, किरातार्जुनीयम्, पंचम सर्ग ।
७. पन्त, आधुनिक कवि, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, छठा संस्करण, पृ० ५९ ।

की मुख्य भंगिमा (मृदु करतल पर शशि-मुख धर) 'साहित्य-दर्पण' में उदाहृत इस गाथा की मुख्य भगिमा से मिलती-जुलती है—

कमलेन विकसितेन सयोजयन्ती विरोधिनं शशिबिम्बम् ।
करतलपर्यस्तमुखी किं चिन्तयसि सुमुखि, अन्तराहितहृदया ।[1]

पुन: पन्त की 'भादो की भरन' शीर्षक कविता की इन पंक्तियों—

भूति-से शोभित बिखर-बिखर,
फैल फिर कटि के-से परिकर ।

में कालिदास के 'भक्तिच्छेदैरिव विरचितां भूतिमंगे गजस्य' की स्पष्ट छाया मालूम पड़ती है । इसी प्रकार कालिदास की इस पंक्ति—

'प्रफुल्ल चूताङ्कुर तीक्ष्ण सायका: द्विरेफमाला विलसद्धनुर्गुणा:'

में व्यक्त बिम्ब-यष्टि को पंत ने एक नयी भंगिमा के साथ निम्नलिखित पंक्तियों में ग्रहण किया है—

तुमने भौंरों की गुंजित ज्या,
कुसुमों का लीलायुध थाम ।
अखिल भुवन के रोम-रोम में,
केशर-शर भर दिये सकाम ।[2]

पन्त की तरह प्रसाद की कविताओं में भी पुराने बिम्बों का नयी भंगिमा में प्रयोग मिलता है । जैसे, अथर्ववेद में योजित यह चित्र—

सिन्धोर्गर्भोऽसि विद्युतां पुष्पम् ।[3]

प्रसाद की 'कामायनी' में एक नूतन सुषमा से मण्डित हो गया है—

नील परिधान बीच सुकुमार,
खुल रहा मृदुल अधखुला अंग ।
खिला हो ज्यों बिजली का फूल,[4]
मेघ-वन बीच गुलाबी रंग ।[5]

---

१. साहित्य-दर्पण, हरिदासीय टीका, चतुर्थ संस्करण, कलकत्ता, तृतीय परिच्छेद, पृ० १७१ ।

२. पन्त, पल्लव, इंडियन प्रेस, प्रयाग, १६३१, पृ० ३६ ।

३. अथर्ववेद, १६ काण्ड, ४४ सूक्त, पंचम ऋचा ।

४. प्रसाद की 'ज्योतिष्मती' शीर्षक कहानी में भी यह बिम्ब गद्य में बँध कर आया है—
"बिजली के फूल मेघ में विलीन हो गये ।"
—प्रसाद, आकाशदीप, भारती भण्डार, इलाहाबाद, षष्ठ संस्करण, पृ० १६८ ।

५. प्रसाद, कामायनी, भारती भण्डार, प्रयाग, अष्टम संस्करण, पृ० ४६ ।

इसी प्रकार **पंत** की इन पक्तियों—

> उदयाचल से बालहस फिर,
> उड़ता अम्बर में अवदात ।[1]

में योजित अप्रस्तुत पर अथर्ववेद मे हस के रूपक से प्रस्तुत सूर्य के इस चित्र—'सहस्राह्व्य वियतावस्य पक्षौ हरेर्हसस्य पततः स्वर्गम्'[2]—का स्पष्ट प्रभाव है। आशय यह है कि छायावादी कविता के बिम्ब-विधान में जहाँ मौलिकता की भरमार है, वहाँ उसमें कुछ ऐसे स्थल भी है, जो संस्कृत साहित्य के पुराने बिम्बों के नवोद्धार या उनके ऋजु प्रभाव को उद्घोषित करते है।

मौलिक बिम्ब-विधान की दृष्टि से छायावादी कविता में शब्द-बिम्ब, वर्ण-बिम्ब, समानुभूतिक बिम्ब (एम्पैथिक इमेज), व्यजना-प्रवण सामासिक बिम्ब और असवेष्टित या प्रसृत बिम्ब का महत्त्वपूर्ण स्थान है।

शब्द-बिम्ब अभिव्यक्ति-सांक्षेप्य और कला-चैतन्य से युक्त मूर्त्त विधान का सर्वोत्तम रूप होता है। हम शब्द-बिम्ब उसे कहते हैं, जिसमें एक शब्द को अर्थगर्भ प्रेषणीयता से अतिभाराक्रान्त कर किसी सन्दर्भ में इस प्रकार योजित किया जाता है कि उसी शब्द के अर्थातिशय से सम्पूर्ण सन्दर्भ चमत्कृत हो जाता है। शब्द-बिम्ब के विधान मे एतादृश अर्थातिशय से युक्त एक शब्द का इकहरा, दुहरा या तिहरा प्रयोग किया जाता है ताकि आवृत्ति से भी उसे वैशिष्ट्य मिल सके। उदाहरणार्थ, **निराला** की 'संध्या सुन्दरी' शीर्षक कविता में प्रयुक्त इस शब्द-बिम्ब को देखा जा सकता है—

> नूपुरों में भी रुनझुन रुनझुन नहीं,
> सिर्फ एक अव्यक्त शब्द-सा 'चुप चुप चुप' !
> है गूँज रहा सब कहीं—
> क्षिति में, जल में, नभ में, अनिल-अनल में—
> सिर्फ एक अव्यक्त शब्द-सा 'चुप चुप चुप'
> है गूँज रहा सब कही ![3]

यहाँ एक ही शब्द 'चुप' को अर्थ से अतिभाराक्रान्त कर उसकी तिहरी आवृत्ति से संध्या की प्रगाढ़ नीरवता व्यक्त कर दी गई है। इस प्रकार शब्द-बिम्ब को हम कलात्मक अभिव्यक्ति-सांक्षेप्य का उत्कृष्ट निदर्शन कह सकते हैं, क्योंकि इसमें किसी एक ही विशिष्ट सार्थक शब्द से सम्पूर्ण सन्दर्भ को चमत्कृत कर दिया जाता है। ये शब्द-बिम्ब प्रायः वीप्सामूलक हुआ करते हैं। शब्द-बिम्बों

---

१. पन्त, आधुनिक कवि, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, छठा संस्करण, पृ० २५।
२. अथर्ववेद, काण्ड १०, सूक्त ८, ऋचा १८।
३. निराला, परिमल, गंगा पुस्तकमाला, लखनऊ, प्रथमावृत्ति, पृ० ११०।

की इस चर्चा से यह संकेतित होता है कि बिम्ब-विधान कभी-कभी शब्दाश्रित हुआ करता है। इस शब्दाश्रित बिम्ब-विधान के हम दो भेद निरूपित कर सकते हैं—भाव-बिम्ब और ध्वनि-बिम्ब। ध्वनि-बिम्न भाव-बिम्ब की अपेक्षा अधिक कलात्मक हुआ करता है। यों भी क्रम की दृष्टि से ध्वनि-बिम्ब भाव-बिम्ब का परवर्त्ती है, क्योंकि काव्योपयुक्त प्रत्येक शब्द साधारण प्रयोग में भी कोई न कोई भाव-बिम्ब रखता है। उदाहरण के लिये, 'वृक्ष' से डाल-पात और झुरमुट का बोध भाव-बिम्ब है, किन्तु, 'वृक्ष' से ऊंचाई, फैलाव तथा कुल्हाड़ी मारने वाले तक को भी छाया प्रदान करने की बोध-व्यजना ध्वनि-बिम्ब है।

तदनन्तर, छायाबादी बिम्ब-विधान में कलात्मक सौष्ठव की दृष्टि से वर्ण-बिम्ब का उल्लेखनीय महत्त्व है। वर्ण-बिम्ब को हम एक प्रकार की 'वर्ण-विन्यास-वक्रता' भी कह सकते है। जहाँ विशिष्ट प्रकार के वर्णों की योजना और संचयन से अर्थवान् तथा व्यंजक बिम्बों का निर्माण होता है, वहाँ हमें वर्ण-बिम्ब का अवतरण स्वीकार करना चाहिये। ऐसे वर्ण-बिम्ब को बंगला साहित्य मे 'ध्वनि-वृत्ति' कहा जाता है। उदाहरण के लिये, निराला की इन पक्तियों में वर्ण-बिम्ब का प्रयोग देखा जा सकता है—

झर-झर-झर निर्झर-गिरि-सर में
घर, मरु, तरु-मर्मर, सागर में।[1]

इन पंक्तियों में 'झ' और 'र' की आवृत्ति से सुन्दर वर्ण-बिम्ब का विधान हुआ है। यहाँ दो विशिष्ट वर्णो ('झ' और 'र') के आवृत्त प्रयोग से वर्ण-बिम्ब की सृष्टि की गई है। शब्द-बिम्ब और वर्ण-बिम्ब में यह पार्थक्य है कि शब्द-बिम्ब में वर्णों की योजना शब्दवत् कोश-स्वीकृत अर्थ धारण करती है, किन्तु, वर्ण-बिम्ब में वर्णों की ऐसी संघटना या योजना रहती है, जो कोश-स्वीकृत शब्द-सूची और अर्थ-सारणी से पृथक् हुआ करती है; साथ ही अपनी उपलक्षित व्यंजनामात्र से प्रयोक्ता के विवक्षित अर्थ को खोल पाती है और प्रयुक्त सन्दर्भ से पृथक् कर दिये जाने पर वह वर्ण-संघटना अपनी अर्थवत्ता खो देती है। जैसे, पन्त की इन पंक्तियों—

बाँसों का झुरमुट—
संध्या का झुटपुट
है चहक रही चिड़ियाँ
टी-बी-टी-टुट्-टुट्।[2]

में प्रयुक्त 'टी-बी-टी-टी-टुट्-टुट्' को उद्धृत सन्दर्भ से हटा देने पर उसकी

१. निराला, परिमल, गंगा पुस्तकमाला, लखनऊ, प्रथमावृत्ति, पृ० १४६।
२. पन्त, आधुनिक कवि, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, छठा संस्करण, पृ० ६७।

(अर्थात् 'टी-वी-टी-टुट्-टुट्' की) कोई कलात्मक अर्थवत्ता शेष नही रहती है। इस प्रसंग मे यह भी ध्यान देने की बात है कि वर्ण-बिम्ब श्रावण-बिम्ब से **पृथक्** हुआ करता है। वर्ण-बिम्ब में विवक्षित वस्तु अथवा वातावरण की विश्रुत ध्वनि को वर्णों के सहारे पकड़ने की चेष्टा होती है। किन्तु, श्रावण-बिम्ब (ऑडिटरी इमेज) में विवक्षित वस्तु की केवल विश्रुत ध्वनि को पकडने की चेष्टा नहीं होती, बल्कि एक श्रुतिपेशल या मसृण पद-शय्या प्रस्तुत कर अंकित चित्र की रुतविज्ञेय अर्थवत्ता और व्यंजकता को बढ़ा भर दिया जाता है।

छायावादी कविता में समानुभूतिक बिम्बों का भी छिटपुट विधान हुआ है। समानुभूति की दशा में द्रष्टा और दृश्य, विचारक और वस्तु अथवा आश्रय और आलम्बन भाव-घन होकर मानसिक धरातल पर एक हो जाते है, जिसका विवेचन '**सौन्दर्य-शास्त्र के तत्त्व**' में सौन्दर्य सम्बन्धी अध्याय के अन्तर्गत यथा-प्रसंग किया गया है। अतः समानुभूतिक बिम्बों में हमे ऐसा तादात्म्य-चित्रण मिलता है, जो संवेदनशील और इन्द्रियग्राह्य हुआ करता है। आशय यह है कि समानुभूतिक बिम्बों के विधान में कलाकार अपने अहम्, मन:स्थिति, क्रिया-व्यापार, शरीरस्थ चेतना-संचरण या अन्तर्वृत्ति का आरोप मानवेतर दृश्य जगत् पर करता है। मूर्त्तिकला और चित्रकला जैसी प्रतिरूपणात्मक कलाओं[1] में समानुभूतिक बिम्बों की प्रधानता रहती है, क्योंकि समानुभूतिक बिम्ब अधिकतर चाक्षुष प्रत्यक्ष से संबद्ध रहते हैं। सामान्यतः मानवीकरण, भावाभास और कलाकार की अतिशय आत्मनिष्ठ मन:स्थिति के कलात्मक प्रयास मूर्त्त तथा चित्रात्मक धरातल पर अधिष्ठित होने के बाद समानुभूतिक बिम्बों का रूप धारण कर लेते हैं। मेरी दृष्टि में समानुभूतिक बिम्बों का सबसे बड़ा व्यावर्त्तक गुण यह है कि इनमें मानवेतर प्रस्तुत पर मनुष्यवत् अंग-संचालन, अग-संस्थानों के संकोच-विकोच, मास-पेशियों की गति और तनाव तथा अन्य मानववत् शारीरिक क्रिया-व्यापारों का आरोप रहता है। उदाहरण के लिये, **निराला** द्वारा रचित 'राम की शक्तिपूजा' की ये पंक्तियाँ देखी जा सकती हैं—

> है अमा निशा, **उगलता** गगन घन अन्धकार,
> **खो रहा** दिशा का ज्ञान, **स्तब्ध** है पवन चार,
> अप्रतिहत **गरज रहा** पीछे, अम्बुधि विशाल,
> भूधर ज्यों **ध्यानमग्न**; केवल जलती मशाल।[2]

यहाँ उगलना, खो रहना, स्तब्ध होना, गरजना और ध्यानमग्न होना इत्यादि मानववत् क्रिया-व्यापारों का मानवेतर प्रस्तुत पर ऐसा आरोप किया गया है,

---

१. Representational arts.

२. निराला, अनामिका, भारती भण्डार, प्रयाग, द्वितीय संस्करण, पृ० १५०।

जो हमारी मांस-पेशियों, चेता तन्तुओं अथवा आंगिक प्रक्रियाओं से संबद्ध ऐन्द्रिय कल्पना को समीरित कर देता है।

इसी तरह छायावादी कविता के व्यंजनाप्रवण सामासिक बिम्ब और असंवेष्टित या प्रसृत बिम्ब भी हमारा ध्यान आकृष्ट करते है। व्यंजनाप्रवण सामासिक बिम्ब में एक उत्प्रेक्षासुलभ संश्लिष्टता या कसावट रहती है। इसकी अवतरणिका विशद नहीं हुआ करती है और इसके अन्तर्गत कम से कम में अधिक से अधिक की व्यंजना की जाती है। अर्थात् इसमें प्रयुक्त अप्रस्तुत-विधान प्रसंग-गर्भित और अध्याहार-प्रधान होता है। जैसे, प्रसाद की निम्न-लिखित पंक्तियों में 'उषा की रक्त निराशा' के द्वारा ऐसे ही सामासिक बिम्ब को प्रस्तुत किया गया है, जिससे बहुत ही संक्षिप्त कथन में प्रातःकालीन प्राची की गम्भीर गुलाली व्यक्त हो गई है—

सन्ध्या की मिलन प्रतीक्षा
कह चलती कुछ मनमानी
ऊषा की रक्त निराशा
कर देती अन्त कहानी।[1]

तदनन्तर, दूसरे प्रकार के बिम्ब, अर्थात् असंवेष्टित प्रसृत बिम्ब मे मालोपमा या सांगरूपक से सादृश्य रखने वाला केन्द्रापगामी विस्तार रहता है। इसकी अवतरणिका 'सी, सा, सम' इत्यादि जैसे वाचक अथवा अन्य लक्षक शब्दों को जोड़कर विशद बना दी जाती है। उदाहरणार्थ, निम्नलिखित पंक्तियाँ देखी जा सकती हैं—

तरुवर की छायानुवाद-सी,
उपमा-सी, भावुकता-सी,
अविदित भावाकुल भाषा-सी,
कटी-छँटी नव कविता-सी,
मदिरा की मादकता-सी औ',
वृद्धावस्था की स्मृति-सी,
दर्शन की अति जटिल ग्रन्थि-सी,
शैशव की निद्रित स्मिति-सी।[2]

अथवा

जैसे सरिता के तट पर
जो जहाँ खड़ा रहता है,

---

१. प्रसाद, आँसू, भारती भंडार, प्रयाग, पंचम संस्करण, पृ० ५२।
२. पन्त, पल्लव, राजकमल प्रकाशन, १९५८, पृ० १०८।

विधु का आलोक तरल पथ
सम्मुख देखा करता है।
जागरण तुम्हारा त्यों ही
देकर अपनी उज्ज्वलता
इन छोटी बूंदों से भी
हर लेता सब पंकिलता।[1]

इस प्रकार उपर्युक्त दो बिम्बों (व्यंजनाप्रवण सामासिक बिम्ब और असंवेष्टित या प्रसृत बिम्ब) में कुछ वैसा ही अन्तर है, जैसा क्रमशः एकदेशविवर्ति और समस्तवस्तु-विषय सांगरूपक में हुआ करता है। इस प्रसंग में हमें यह स्मरण रखना है कि प्रसृत बिम्बों से अमूर्त्त भावों के मूर्त्ताभिधान में कवि को विशेष सहायता मिलती है। उदाहरण के लिये, 'कामायनी' में सूक्ष्म या अमूर्त्त भावों का आश्रय अधिक ग्रहण किया गया है। अतः इन अमूर्त्त भावों को काव्योपयुक्त बनाने के लिये उनका मूर्त्तीकरण प्रस्तुत किया गया है और मूर्त्तीकरण का यह आधिक्य स्वभावतः बिम्बों के आधिक्य में परिवर्त्तित हो गया है। जैसे, अमूर्त्त 'लज्जा' के चित्रण में यह प्रसृत बिम्ब-पर्यवसायी मूर्त्तीकरण देखा जा सकता है—

कोमल किसलय के अंचल में,
नन्हीं कलिका ज्यों छिपती-सी,
गोधूली के धूमिल पट में,
दीपक के स्वर में दिपती-सी।
मंजुल स्वप्नों की विस्मृति में,
मन का उन्माद निखरता ज्यों,
सुरभित लहरों की छाया में,
बुल्ले का विभव बिखरता ज्यों,
वैसी ही माया में लिपटी
अधरों पर उँगली धरे हुये
माधव के सरस कुतूहल का
आँखों में पानी भरे हुये
नीरव निशीथ में लतिका-सी
तुम कौन आ रही हो बढ़ती?
कोमल बाहें फैलाये-सी
आलिंगन का जादू पढ़ती।[2]

१. प्रसाद, आँसू, भारती भण्डार, प्रयाग, पंचम संस्करण, पृ० ७२।
२. प्रसाद, कामायनी, भारती भण्डार, प्रयाग, अष्टम संस्करण, पृ० ९७।

इन पंक्तियों में उपमानों की योजना से मूर्त्तीकरण को इस प्रकार प्रस्तुत किया गया है कि प्रसृत बिम्ब-विधान का एक सुन्दर नमूना हमें मिल पाता है। पीड़ा और मूक व्यथा जैसे अमूर्त्त भावों के मूर्त्ताभिधान की ओर विशेष रुचि रखने के कारण **महादेवी** के काव्य में भी प्रसृत बिम्ब-विधान की प्रचुरता है।[1]

अब हम छायावादी कविता में प्रयुक्त बिम्ब-विधान का अध्ययन ऐन्द्रिय बोध के आधार पर प्रस्तुत करेंगे, क्योंकि बिम्ब ऐन्द्रिय निवेदन के द्वारा ही हमारे लिये ग्राह्य होते है।[2]

समान्यतः रोमाण्टिक कविता में चाक्षुष बिम्बों की प्रधानता रहती है। सैद्धान्तिक दृष्टि से भी रोमाण्टिक सौन्दर्यशास्त्र, पश्चिम में जिसके प्रसिद्ध व्याख्याता **जॉन रस्किन** हुये, चाक्षुष प्रतीति को अधिक महत्त्व देता है। यों भी रोमाण्टिक कवि अतिशय भावुक हुआ करते है और अनजान ही चाक्षुष प्रतीति को महत्त्व दे बैठते है। इस चाक्षुष प्रतीति की प्रधानता के कारण ही रोमाण्टिक कविता में चाक्षुष बिम्ब अधिक मिलते है। छायावादी कविता रोमाण्टिक प्रवृत्ति की कविता है, अतः इसमें चाक्षुष बिम्बों की अधिकता का रहना स्वाभाविक है। काव्य एवं अन्य कलाओं के कल्पना-लोक से परे व्यवहार-जगत् में भी 'दृष्टि से सौन्दर्य का घनिष्ठ सम्बन्ध है।'[3] इसलिये दृष्टि से भावित सौन्दर्य को बिम्बों में बाँधकर मूर्त्त अभिव्यक्ति देते समय चाक्षुष बिम्बों का बाहुल्य सर्वथा स्वाभाविक है।

छायावादी कवियों ने दो प्रकार के चाक्षुष बिम्बों का प्रयोग किया है—चतुष्क चाक्षुष बिम्ब और अध्याहृत-आयाम चाक्षुष बिम्ब। चतुष्क बिम्ब-विधान के अन्तर्गत वस्तु-विशेष का चित्र अंकित करते समय उसकी रूपाकृति और आसन्न वातावरण का स्पष्ट ब्यौरा दिया जाता है। इस शैली के दो उपभेद माने जा सकते हैं—संकेतग्राही और उपकरणमूलक। संकेतग्राही चतुष्क बिम्ब-विधान में संपृक्त दृश्य की अलग-अलग अंग-छटाओं को न देकर उसकी समन्वित सम्पूर्णता को प्रतिबिम्बित किया जाता है। जैसे, पन्त का यह पहाड़ी चित्र—

---

१. उदाहरण के लिए द्रष्टव्य—नीहार, महादेवी, साहित्य भवन, प्रयाग, चतुर्थ संस्करण, पृ० ३०-३१।

२. हीगेल ने बिम्ब को 'sensuous configuration of Idea' कहा है, जो बिम्बों की ऐन्द्रियता ('sensuous') और मूर्त्तता ('configuration') का द्योतक है।

—Hegel, The Philosophy of Fine Art, translated by Osmaston, London, 1920, p. 95.

निराला, प्रभावती, किताब महल, इलाहाबाद, १८८३ शकाब्द, पृ० ७४।

उड़ गया, अचानक लो भूधर
फड़का अपार पारद के पर!
रवशेष रह गये हैं निर्झर
है टूट पड़ा भू पर अम्बर।
धँस गये धरा में सभय शाल!
उठ रहा धुँआ, जल गया ताल![1]

अलग-अलग बारीक ब्यौरे न देकर हमें अपनी सम्पूर्णता से प्रभावित करता है। तदनन्तर, उपकरणमूलक चतुष्क बिम्ब-विधान में चित्र-विशेष की सम्पूर्णता तद्विषयक यथेप्सित उपकरणों की दृष्टि से सिद्ध होती है। अत: ऐसे बिम्ब-विधान में अनुभूति की मात्रा कम और गणना-प्रधान वृत्ति अधिक रहती है। उदाहरणार्थ, निम्नांकित पंक्तियों में समुद्र का अप्रस्तुत उपस्थित करते समय समुद्र से सम्बद्ध विविध उपकरणों का नाम्ना उल्लेख किया गया है—

इन कनक रश्मियों में **अथाह**
लेता **हिलोर** तम सिन्धु जाग;
बुदबुद से बह चलते अपार
उसमें विहगों के मधुर राग;
बनती **प्रवाल** का मृदुल **कूल**, जो क्षितिज-रेख थी कुहर-म्लान।[2]

इसी तरह **प्रसाद** की इन पंक्तियों में 'सरोज' का उपकरणमूलक चित्र प्रस्तुत किया गया है—

किंजल्क-जाल हैं बिखरे,
उड़ता **पराग** है रूखा।
है स्नेह **सरोज** हमारा
विकसा **मानस** मे सूखा।[3]

इसके विपरीत अध्याहृत-आयाम बिम्ब-विधान में वस्तु-विशेष का विस्तृत अथवा बारीक ब्यौरा न देकर चुस्ती, सामासिकता और उपचार-वक्रता से काम लिया जाता है। इसमें प्रस्तुत और अप्रस्तुत की सामान्य समानताओं या अंगप्रत्यंग के रूप-साम्य को निगीर्ण कर किसी विशिष्ट साधर्म्य अथवा सादृश्य के द्वारा बिम्ब-विधान उपस्थित किया जाता है। जैसे—

---

१. पन्त, पल्लविनी, भारती भण्डार, इलाहाबाद, तृतीय संस्करण, पृ० ६६।

२. महादेवी वर्मा, आधुनिक कवि, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, चतुर्थ संस्करण, पृ० २८।

३. प्रसाद, आँसू, भारती भण्डार, प्रयाग, नवम संस्करण, पृ० २८।

वे किसान की नई बहू की आँखे
ज्यों हरीतिमा मे बैठे दो विहग बन्द कर पाँखें ।[1]

यहाँ आँख के लिये विहग का अप्रस्तुत-विधान कुछ विशिष्ट साधर्म्य और सादृश्य के आधार पर ही किया गया है अन्यथा आँख और विहग के बीच अगप्रत्यग रूप-साम्य ढूँढ़ने पर बहू की आँखों मे चोंच, पूँछ और चमुलदार टाँग की भी टोह लगानी पड़ेगी ।

इन विभिन्न प्रकार के चाक्षुप बिम्बों के साथ वर्ण-बोध (रग-परिज्ञान) का घनिष्ट सम्बन्ध है। वर्ण-बोध चाक्षुप बिम्बों को कलापूर्ण चित्रात्मक सौन्दर्य प्रदान करता है । पन्त ने कई चाक्षुष बिम्बों को वर्ण-बोध से युक्त कर अधिक नयनाभिराम बनाया है। जैसे, निम्नांकित चाक्षुप बिम्बों में वर्ण-बोध का कलात्मक वैविध्य देखा जा सकता है—

रुपहले, सुनहले आम्र-बौर,
नीले, पीले औ' ताम्र भौर,
रे गन्ध-अन्ध हो ठौर-ठौर
... ...
करते मधु के वन में गुंजार ।[2]

अथवा

गलित ताम्रभव : भृकुटि माल रवि
रहा क्षितिज से देख;
गंगा के नभ नील निकष पर
पड़ी स्वर्ण की रेख ।[3]

अथवा

उज्ज्वल गैरिक पंख, चंचु
मणि लोहित, ग्रीवा तरंगित,
नील पीठ, शुक्लाभ वक्ष,
चल पुच्छ हरित दिग्लंबित ।[4]

यहाँ ध्यातव्य है कि छायावादी बिम्ब-विधान में चाक्षुप बिम्बों की प्रधानता है, जबकि छायावादी कविता का आग्रह सूक्ष्म और अशरीरी भावनाओं की ओर है। इसका कारण यह है कि कवियों को स्वभावतः (और कुछ मात्रा में पाठकों

---

१. निराला, अनामिका, भारती भण्डार, प्रयाग, द्वितीय संस्करण, पृ० १४६ ।
२. पन्त, गुंजन, भारती भण्डार, प्रयाग, छठा संस्करण, पृ० १० ।
३. पन्त, युगवाणी, भारती भण्डार, इलाहाबाद, प्रथम संस्करण, पृ० ३३ ।
४. पन्त, अतिमा, भारती भण्डार, प्रयाग, प्रथम संस्करण, पृ० ६ ।

की सुविधा के लिए) अमूर्त्त भावों एवं सूक्ष्म अनुभूतियों को भी चित्रोपम, मूर्त्त और इन्द्रियगम्य बनाकर उपस्थित करना रुचिकर प्रतीत होता है। उदाहरण के लिए, निराला ने 'पंचवटी-प्रसंग' में जहाँ राम के प्रति शूर्पणखा की कामेच्छा को व्यक्त किया है, वहाँ उन्होंने कामेच्छा की अमूर्त्त तरंग को अभिव्यक्त करने के लिए वर्ण-बोध पर आश्रित बिम्ब-विधान से काम लिया है। उक्त प्रसंग में शूर्पणखा का स्वगत-कथन इस प्रकार है—

चाहता जी
नील-जल-सरोवर पर
प्रेम-सुधा-कौमुदी पी
खिल - खिल कर हँसती हुई
भाग्यवती कुमुदिनी-सी
साँवरे का अधर-मधु पान कर
सुख से बिताऊँ दिन।[1]

यहाँ नील जल-सरोवर और साँवरे राम, (कृत्रिम) सुन्दरी शूर्पणखा और कुमुदिनी तथा कौमुदी और अधर-मधु—सबों का कलात्मक युग्म वर्ण-बोध पर आश्रित है। इस प्रसंग में महादेवी की निम्नलिखित पंक्तियाँ भी देखी जा सकती हैं—

नीलम मन्दिर की हीरक—
प्रतिमा सी हो चपला निस्पन्द,
सजल इन्दुमणि से जुगनू
बरसाते हों छवि का मकरन्द।[2]

चित्रकला से प्रभावित रहने के कारण महादेवी के चाक्षुष बिम्ब-विधान में रंगामेजी का पुट या वर्ण-परिज्ञान का निदर्शन अन्य छायावादी कवियों की अपेक्षा अधिक मिलता है। जैसे—

कनक से दिन मोती सी रात
सुनहली साँझ गुलाबी प्रात।[3]
अथवा
सीपी से नीलम से द्युतिमय
कुछ पिंग अरुण कुछ सित श्यामल,
... ...

---

१. निराला, परिमल, गंगा पुस्तकमाला, लखनऊ, प्रथमावृत्ति, पृ० २३७।
२. महादेवी, रश्मि, साहित्य भवन, इलाहाबाद, तृतीय संस्करण, पृ० २१
३. महादेवी, रश्मि, साहित्य भवन, प्रयाग, तृतीय संस्करण, पृ० ४।

मँडराते शत-शत अलि-बादल ।[1]

यह वर्ण-परिज्ञान बिम्ब-विधान की दृष्टि से काव्य-कला के लिये बहुत महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि रंग-बोध की बारीकी से बिम्बों में ऐन्द्रियता और कलात्मक सौष्ठव का समावेश हो जाता है। अनेक आलोचकों ने इसलिये भी रंग-बोध के विश्लेषण पर बल दिया है कि रंगों के प्रयोग से कवि की आन्तरिक मनोवृत्ति या प्रकृति का सीधा संबध है।[2] अत: रंग-विशेष के प्रयोग की अधिकता से कवि के सम्पूर्ण व्यक्तित्व और स्वभाव का पता चलता है। जैसे, लाल रग से अनुराग की और श्वेत से सात्विकता की अभिव्यक्ति होती है। **महादेवी** के बिम्ब-विधान में श्वेत रंग और रंगवाले पदार्थो का प्रचुर प्रयोग है, जिससे सात्विक भावों का स्पष्टीकरण होता है। इनके काव्य मे ओस, चाँदनी, नीहार इत्यादि के प्रचुर प्रयोग श्वेतप्रियता के फल है। इसके अतिरिक्त इनको अपने शृंगार-प्रसाधन के लिये भी श्वेत रंग ही अत्यन्त प्रिय है। ये उल्लास के रसोत्सिक्त क्षणों में भी श्वेत वसन ही धारण करना चाहती हैं—

पाटल के सुरभित रंगों से रँग दे हिम-सा उज्ज्वल दुकूल
गूँथ दे रशना में अलि गुँजन से पूरित झरते वकुल फूल।[3]

---

१. महादेवी, दीपशिखा, भारती भंडार, प्रयाग, चतुर्थ संस्करण, पृ० १४०।

२. काव्य एवं अन्य कलाओं में प्रयुक्त वर्ण-बोध पर कई पाश्चात्य विचारकों ने वर्ण-सौन्दर्य की दृष्टि से विचार किया है, जिनमें C. W. Valentine का नाम उल्लेखनीय है। इन्होंने कलाकार की रंगचेतना के पीछे दो प्रकार के साहचर्य को स्वीकार किया है—सामान्य साहचर्य और व्यक्तिगत साहचर्य।

—C. W. Valentine, Experimental Psychology of Beauty, London, p. 19.

वर्ण-बोध के संवेगात्मक सन्दर्भ की विवेचना में प्रसिद्ध कवि गेटे का अनायास स्मरण हो जाता है। गेटे ने लगभग साठ साल की उम्र में, सन् १८१० ईसवी के आसपास, रंग-बोध पर एक महत्त्वपूर्ण कृति प्रस्तुत की, जिसका मूल जर्मन नाम था—'Zur Farbenlehre'. यही पुस्तक अंग्रेजी में अनूदित होकर 'Theory of Colours' के नाम से प्रसिद्ध हुई। इस पुस्तक का अन्तिम अध्याय सौन्दर्यशास्त्रीय दृष्टि से विचारणीय है, क्योंकि इसमें गेटे ने एक कलाकार-दार्शनिक की तरह रंगों के संवेगात्मक पक्ष (emotional value of colours and colour-composition) पर विचार किया है। इतना ही नहीं, गेटे ने प्रकाश और चाक्षुष प्रत्यक्ष की दृष्टि से भी रंग, रंग-योजना और रंग-बोध का विश्लेषण किया है।

३. महादेवी वर्मा, आधुनिक कवि, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, चतुर्थ संस्करण, पृ० ८२।

यहाँ स्मृति-उल्लास और प्रियतम के अभिनन्दन की तैयारी में क्षणोत्सविक वस्त्र (वस्त्र चार प्रकार के होते हैं—नित्यनिवसनिक, निमज्जनिक, क्षणोत्सविक और राजद्वारिक) का वर्णन है, जिसे प्रचलन के मुताबिक बेलबूटेदार और रंगीन होना चाहिए। किन्तु, कवयित्री को श्वेत रंग से इतना स्नेह है कि ये मिलन-त्यौहार के समय भी पाटल पुष्प या हिम-जैसा उज्ज्वल दुकूल धारण करना चाहती है। निश्चय ही इस श्वेतप्रियता से इनकी आन्तरिक सात्विकता का द्योतन होता है। इन्होंने संवेष्टित और प्रसृत—सभी प्रकार के बिम्बों में वर्ण-बोध का प्रचुर उपयोग किया है। उदाहरणार्थ इन्होंने प्रकृति-सौन्दर्य से संबद्ध एक कविता में फूली-सजीली सध्या का प्रसृत बिम्ब उपस्थित करते हुए वर्ण-बोध के वैविध्य का इस प्रकार प्रयोग किया है—

रजनी ने **नीलम**-मन्दिर के वातायन खोले;
एक **सुनहली** ऊर्म्मि क्षितिज से टकराई बिखरी,
... ...
मुरझाया वह कंज बना जो **मोती** का दोना,
... ...
आज **सुनहली** रेणु मली सस्मित गोधूली ने
रजनीगन्धा आँज रही है नयनों में **सोना** !
हुई **विद्रुम** वेला **नीली** !
मेरी चितवन खींच गगन के **कितने** रँग लाई।
शतरंगों के इन्द्रधनुष-सी स्मृति उर में छाई।[1]

इसी तरह इन्होंने प्रकृति-सौन्दर्य से संबद्ध संवेष्टित बिम्ब-विधान में भी वर्ण-बोध का सटीक प्रयोग किया है। जैसे—

आज सुनहली वेला !
आज क्षितिज पर जाँच रहा है तूली कौन चितेरा ?
मोती का जल **सोने** की रज **विद्रुम** का रँग फेरा।[2]

यह वर्ण-वैविध्य छायावादी कवियों की प्रारम्भिक रचनाओं के अलावा उनकी प्रौढ़ावस्था के बाद तक की कृतियों में मिलता है। जैसे, **पन्त** की 'विकास क्षेत्र' शीर्षक कविता में वर्ण-बोध के वैविध्य से युक्त इस बिम्ब-विधान को देखा जा सकता है—

अरुण कमल अधरों पर मधु चुम्बन से अंकित
नील पीत थे भ्रमर गीत पंखों पर गुंजित !

---

१. महादेवी, सांध्यगीत, भारती भण्डार, प्रयाग, चतुर्थ संस्करण, पृ० ६९-७०।
२. महादेवी, सांध्यगीत, भारती भण्डार, प्रयाग, चतुर्थ संस्करण, पृ० ७५।

शुभ्र सरोरुह वक्षों को कर ग्रीवा मण्डित
राजहंस तिरते स्वर्णिम लहरों पर बिम्बित।[1]

तदनन्तर, यह भी ध्यातव्य है कि पन्त की सौन्दर्य-चेतना के विकास, अनुभूत काल-भेद और अपने दार्शनिक विचारों में आनीत परिवर्त्तन के अनुसार विशेष अवधि की रचनाओं में विशेष प्रकार के रंग भाते रहे है। जैसे, **'स्वर्णकिरण'** और **'स्वर्णधूलि'** की रचनाओं में सुनहले रंग की, **'रजतशिखर'** के काव्य-रूपकों में शुभ्र रंग की और **'वाणी'** की कविताओं में हरित रंग की प्रचुरता है। **'वाणी'** की रचनाओं में हरित रंग का इतना प्रचुर प्रयोग है कि सृष्टि की सारी नयनाभिराम वस्तुयें हरित रग की ही मालूम पड़ती हैं।[2] इसी तरह **निराला** ने बाद की रचनाओं मे श्याम रंग के प्रति बहुत मोह दिखलाया है। उन्होने १९५४ ईसवी में रचे गये गीत मे केवल श्याम रंग की ही व्याप्ति को सर्वत्र देखा है—

जिधर देखिये, श्याम विराजे।
श्याम कुंज, वन, यमुना श्यामा,
श्याम गगन, घन-वारिद गाजे।
श्याम धरा, तृण-गुल्म श्याम है
श्याम-सुरभि-अंचल दल साजे;
श्याम बलाका, शालि श्याम है,
श्याम-विजय बाजे नग बाजे।
श्याम मयूर, कोकिला श्यामा,
कूजन, नृत्य श्याम मृदु माजे;
श्याम काम, रवि श्याम मध्य दिन,
श्याम नयन काजल के आंजे।
श्रुति के अक्षर श्याम देखिये,
दीपशिखा पर श्याम निवाजे;

---

१. पन्त, वाणी, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, १९५८, पृ० ५२।

२. 'हरित हो उठा मरु प्रदेश फिर', 'जीवन की दिग्हरित चेतना', 'अतल हरित में निकल', 'सुनहली जीवन-हरित निखहरित', 'हरित धरा नत मुख हरती निज', 'रजत हरित लपटें उठतीं', 'उस हरित ज्वाला में उठकर', 'हरित वारि अति हरित वारि रे', 'हरित विजन था', 'हरित धरा जीवन से अंकित', 'हरित जलधि-से थे निर्जन वन' 'देवदारु के हरित शिखर उठ'—पन्त, वाणी, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, १९५८, पृष्ठ-संख्या (क्रमशः) १३, १२, १६, १८, २०, २१, २५, ४८, ५२, ५४, १३६, १३७।

> श्याम तामरस, श्याम सरोवर,
> श्याम अनिल, छवि श्याम सँवारे ।[१]

इस प्रकार अन्य छायावादी कवियों की रचनाओं में भी विकसित और रंजक वर्ण-बोध मिलता है। जैसे, प्रसाद ने 'आशा' सर्ग में विस्तृत हिमराशि पर फिसलती हुई पीताभ किरणों का जो दृष्टिरंजक रूप प्रस्तुत किया है, वह पूर्णतः वर्ण-बोध के वैशिष्ट्य पर निर्भर है—

> नव कोमल आलोक बिखरता
> हिम-संसृति पर भर अनुराग;
> सित सरोज पर क्रीड़ा करता
> जैसे मधुमय पिङ्ग पराग ।[२]

प्रसाद ने तो वर्ण-व्यतिरेक (कलर-कॉन्ट्रास्ट) के सहारे भी अपने विकसित वर्ण-बोध का परिचय दिया है। उदाहरणार्थ, काले ऊन की पट्टिका से बँधे हुये स्वर्ण-प्रभ श्रद्धा के पीन पयोधरों की छटा को अंकित करते समय प्रसाद ने 'ईर्ष्या' सर्ग में लिखा है—

> सोने की सिकता में मानो
> कालिन्दी बहती भर उसास,
> स्वर्गंगा में इन्दीवर की
> या एक पंक्ति कर रही राग ।[३]

यहाँ स्वर्णिम सिकता और कालिन्दी की धारा तथा स्वर्गंगा और इन्दीवर की पंक्ति के वर्ण-व्यतिरेक के सहारे उस सौन्दर्य को प्रस्तुत किया गया है, जो श्रद्धा के गोरे उरोजों पर ऊन की काली पट्टी धारण करने से अवतरित हो गया। निराला ने भी 'सन्ध्या-सुन्दरी' शीर्षक कविता में सौन्दर्य-संवर्धन के लिये वर्ण-व्यतिरेक का प्रयोग किया है—

> हँसता है तो केवल तारा एक
> गुँथा हुआ उन घुँघराले काले-काले बालों से ।[४]

सांध्य तारा की दीप्ति को प्रखर बनाने के लिये कवि ने यहाँ 'काले-काले' की वीप्सा के द्वारा बालों की कालिमा को प्रस्तुत किया है। प्रसाद ने तो रूप-साम्य पर निर्भर बिम्ब-विधान में भी वर्ण-बोध, विशेषकर वर्ण-साम्य का अनेकत्र उपयोग किया है। जैसे—

---

१. निराला, गीत-गुंज, हिन्दी प्रचारक पुस्तकालय, वाराणसी, द्वितीय संस्करण, पृ० ३८।
२. प्रसाद, कामायनी, भारती भंडार, प्रयाग, अष्टम संस्करण, पृ० २३।
३. प्रसाद, कामायनी, भारती भंडार, प्रयाग, अष्टम संस्करण, पृ० १४२।
४. निराला, अपरा, साहित्यकार संसद, प्रयाग, चतुर्थ संस्करण, पृ० ८८।

काली आँखों में कितनी
यौवन के मद की लाली
मानिक-मदिरा से भर दी
किसने नीलम की प्याली ।[1]

इन पंक्तियों में रूप-साम्य और वर्ण-बोध का आश्रय लेकर काली आँख के लिये नीलम की प्याली और मद की लाली के लिये मानिक-मदिरा को इस प्रकार प्रस्तुत किया गया है कि यहाँ पर मूर्त्त के लिये मूर्त्त की सफल योजना हो गई है । ठीक यही विशेषता हम इन पंक्तियों में भी पाते है—

तिर रही अतृप्ति जलधि में
नीलम की नाव निराली
काला-पानी वेला-सी
है अंजन-रेखा काली ।[2]

यहाँ वर्ण-बोध और रूप-साम्य का आश्रय लेकर काली आँखों के लिये नीलम की नाव और अंजन-रेखा के लिये काला-पानी-वेला का अवर्ण्य प्रस्तुत किया गया है । इसी तरह प्राची की गुलाली में उगते हुये बालारुण के लिये सुनहले पराग से भरे हुये कमल का बिम्ब वर्ण-बोध पर निर्भर रूप-साम्य की भावना से इन पंक्तियों में आनीत हुआ है—

प्राची में फैला मधुर राग
जिसके मण्डल में एक कमल खिल उठा सुनहला भर पराग ।[3]

इस तरह छायावादो कवियों ने चाक्षुष बिम्बों के विधान में कलात्मक वर्ण-बोध का प्रचुर उपयोग किया है ।

तदनन्तर, छायावादी कविता में प्रयुक्त श्रावण बिम्ब (इमेजेज ऑव साउण्ड) ध्वनि-कल्पना से उत्थित है और नाद-सौन्दर्य की प्रेषणीयता के द्वारा इच्छित प्रभाव पैदा करते हैं । सामान्यतः, ध्वन्यर्थ चित्रण को प्रस्तुत करते समय छायावादी कवियों ने श्रावण बिम्बों का सहारा लिया है । किन्तु, छाया-वादियों के अधिकांश श्रावण-बिम्ब अभिधाश्रित शब्द-संगीत से संवलित हैं । उदाहरण के लिये पन्त की निम्नलिखित पक्तियाँ देखी जा सकती हैं—

उड़ रहा ढोल धाधिन, धातिन,
औ' हुडुक घुड़कता ढिमढिम ढिन,
मंजीर खनकते खिन खिन खिन,
मदमस्त रजक, होली का दिन,

१. प्रसाद, आँसू, भारती भंडार, प्रयाग, नवम् संस्करण, पृ० २१ ।
२. प्रसाद, आँसू, भारती भंडार, प्रयाग, नवम् संस्करण, पृ० २२ ।
३. प्रसाद, कामायनी, भारती भंडार, प्रयाग, अष्टम संस्करण, पृ० १६८ ।

लो छन छन, छन छन
छन छन, छन,
थिरक गुजरिया हरती मन ![1]

अथवा

पपीहों की वह पीन पुकार,
निर्झरों की भारी झर-झर,
झींगुरों की झीनी झनकार
घनों की गुरु गम्भीर घहर;
बिन्दुओं की छनती छनकार
दादुरों के वे दुहरे स्वर ।[2]

पन्त ही नहीं, **निराला** ने भी, जो व्यजनाश्रित भाव-संगीत की दृष्टि से छायावादी कवियों के बीच अन्यतम हैं, श्रावण-बिम्बों के विधान में अभिधाश्रित शब्द-संगीत का सहारा लिया है। कुछ दूर तक यह इसलिये स्वाभाविक है कि अभिधाश्रित शब्द-सगीत के बिना श्रावण-बिम्बों की सृष्टि सुकर नहीं है।

छायावादी कविता में घ्राणिक बिम्बों का प्रयोग कम हुआ है। तब भी तुलनात्मक दृष्टि से अन्य छायावादी कवियों की अपेक्षा **निराला** और **पन्त** की रचनाओं में घ्राणिक बिम्ब अधिक मिलते है। **निराला** ने तो कुछ स्थलों पर प्रखर घ्राण-बोध का परिचय दिया है। 'वन-बेला' शीर्षक कविता में बेला की गंध के प्रति इनकी मधुर, किन्तु, विकल प्रत्यर्थता दर्शनीय है—

यह कहाँ-कहाँ बामालक-चुम्बित तुलक-गंध ![3]

इसी तरह इनकी निम्नलिखित पंक्तियों में वह घ्राण-बोध मिलता है, जिससे काव्य-जगत् में कलात्मक घ्राणिक बिम्बों की रचना होती है—

भर गया जुही के गन्ध पवन।
तोड़े-तोड़े खिल गये फूल,
छाये गंगा के कूल-कूल,
महके तरुणी के नव दुकूल
गजरों से भर दी गई रवन।[4]

अथवा

---

१. पन्त, ग्राम्या, भारती भंडार, प्रयाग, प्रथम संस्करण, पृ० ३१।
२. पन्त, पल्लव, इंडियन प्रेस, प्रयाग, १९३१, पृ० २३।
३. निराला, अपरा, साहित्यकार संसद, प्रयाग, चतुर्थ संस्करण, पृ० ६५।
४. निराला, गीत-गुंज, हिन्दी प्रचारक पुस्तकालय, वाराणसी, द्वितीय संस्करण, पृ० ५०।

[illegible] [illegible]ड़ी
जैसी फुलवारी ।[1]

पन्त ने भी यत्र-तत्र घ्राणिक बिम्बों का [illegible] प्रयोग किया है । जैसे---

उड़ता है जब प्राण !
तुम्हारी सारी का सित छोर,
सौ वसन्त, सौ मलय
हृदय को करते गंध-विभोर ।[2]

अथवा

उड़ती भीनी तैलाक्त गंध
फूली सरसों पीली-पीली,
लो हरित धरा से झाँक रही
नीलम की कलि, तीसी नीली ।[3]

इन घ्राणिक बिम्बों की अपेक्षा छायावादी कविता में गत्वर बिम्बों की अधिकता है । गत्वर बिम्ब-विधान के द्वारा गतियुक्त वस्तुओं, स्थितियों अथवा दृश्यों का अंकन प्रस्तुत किया जाता है । स्थिर वस्तुओं, स्थितियों अथवा दृश्यों के अंकन की अपेक्षा यह कार्य कठिन होता है, क्योंकि इसमें कवि को अप्रस्तुतों की ऐसी योजना करनी पड़ती है कि संकेतों से ही गति के गोचर प्रत्यक्षीकरण का आभास मिल सके । अतः काव्य-जगत् में गत्वर बिम्ब-विधान के सफल उदाहरण कम ही मिलते हैं ।[4] किन्तु, छायावादी कवियों ने कल्पना-प्रवणता और बारीक सौन्दर्य-चेतना के कारण गत्वर बिम्ब-विधान की ओर विशेष रुचि प्रदर्शित की है । इनके गत्वर बिम्ब-विधान को हम दो प्रकारों में बाँट सकते हैं—संस्मृत और तात्कालिक । संस्मृत गत्वर बिम्ब-विधान में सुधि

---

१. निराला, आराधना, साहित्यकार संसद, प्रयाग, प्रथम संस्करण पृ० ७५ ।

२. पन्त, पल्लविनी, भारती भण्डार, प्रयाग, तृतीय संस्करण, पृ० २४६ ।

३. पन्त, ग्राम्या, भारती भण्डार, प्रयाग, प्रथम संस्करण, पृ० ३५ ।

४. संस्कृत कवियों के बीच सौन्दर्य के अन्यतम शिल्पी कवि कालिदास के काव्य में भी गत्वर बिम्ब-विधान के सफल उदाहरण कम ही मिलते हैं । उदाहरण के लिये उन्होंने 'मालविकाग्नि मित्र' में चलित नृत्य का कमनीय वर्णन इस प्रकार उपस्थित किया है कि नर्तकी की अंग-भंगिमायें और भाव-मुद्रायें उसमें पूरी गतिशीलता के साथ निबिद्ध हो गई हैं—

वामं सन्धिस्तमित वलयं न्यस्य हस्तं नितम्बे
कृत्वा श्यामा विटपिसदृशं स्रस्तमुक्तं द्वितीयम् ।
पादांगुष्ठालुलित कुसुमे कुट्टिमे पातिताक्षं
नृत्यादस्याः स्थितमतितरां कान्तमृज्वायतार्धम् ॥

अथवा स्मरण के सहारे विगत गतियुक्त दृश्यों, स्थितियों अथवा वस्तुओं की मानसिक पुनरावृत्ति अंकित की जाती है। इसका मधुर उदाहरण हमें 'राम की शक्तिपूजा' की इन पंक्तियों में मिलता है, जहाँ युद्धश्रान्त राम के मन में जनक-वाटिका की प्रथम मौन प्रणयानुराधना का आन्तरिक चित्र अनेक गतिमय सन्दर्भों के साथ नाचने लगता है—

याद आया उपवन
विदेह का,—प्रथम स्नेह का लतान्तराल मिलन
नयनों का—नयनों से गोपन—प्रिय सम्भाषण,—
पलकों का नव पलकों पर प्रथमोत्थान—पतन,—
काँपते हुए किसलय,—झरते पराग-समुदय—
गाते खग नवजीवन-परिचय,—तरु मलय-वलय,
ज्योतिः प्रपात स्वर्गीय,—ज्ञात छवि प्रथम स्वीय,—
जानकी-नयन-कमनीय प्रथम कम्पन तुरीय।[1]

इसी तरह निम्नांकित पंक्तियों में प्रथम स्पर्श से छुईमुई बनी नवेली की हाव-भाव-हेला और मादक अंग-भंगिमा का गतियुक्त चित्र देखते ही बनता है—

स्पर्श से लाज लगी।
अलक-पलक में छिपी छलक
उर से नव-राग-जगी।
चुम्बन-चकित चतुर्दिक चंचल
हेर, फेर मुख, कर बहु-सुख छल
कभी हास, फिर त्रास, साँस बल
उर-सरिता उमगी।[2]

तदनन्तर, तात्कालिक गत्वर बिम्ब-विधान में सद्यः प्रत्यक्ष दृश्य, स्थिति अथवा वस्तु-विशेष का गतियुक्त अंकन प्रस्तुत किया जाता है। इसमें देशकालगत सामीप्य के कारण आलम्बन के प्रति आश्रय का भावावेग अपेक्षाकृत अधिक तीव्र होता है। पन्त की 'ग्रामयुवती'[3] शीर्षक कविता की निम्नलिखित पंक्तियों को हम ऐसे बिम्ब-विधान के अन्तर्गत उदाहृत कर सकते हैं—

सरकाती पट
खिसकाती लट,—
शरमाती झट

---

१. निराला, अनामिका, भारती भण्डार, प्रयाग, द्वितीय संस्करण, पृ० १५१।
२. निराला, गीतिका, भारती भण्डार, प्रयाग, चतुर्थ संस्करण, पृ० ३३।
३. पन्त, आधुनिक कवि, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, छठा संस्करण, पृ० ८७-८८।

वह नमित दृष्टि से देख उरोजों के युग घट !
जब जल से भर
भारी गागर
खींचती उबहनी वह, बरबस
चोली से उभर उभर कसमस
खिचते सँग युग रस-भरे कलश;
जल छलकाती,
रस बरसाती
बल खाती वह घर को जाती,
सिर पर घट
उर पर धर पट !

इन संस्मृत और तात्कालिक गत्वर बिम्बों के अलावा पन्त ने मूलतः स्थावर दृश्यों अथवा वस्तुओं में भी गति की योजना प्रस्तुत की है। जैसे, इन्होंने अपनी भाषा के प्रसिद्ध 'चित्र-राग' का सहारा लेते हुए स्थिर पर्वत का गतिशील चित्र इस प्रकार उपस्थित किया है—

उड़ गया, अचानक, लो भूधर
फड़का अपार पारद के पर।
रवशेष रह गये हैं निर्झर
है टूट पड़ा भू पर अम्बर।[1]

यहाँ 'उड़ने' का क्रिया-सौष्ठव जोड़कर स्थावर पर्वत को गतिशील बना दिया गया है।[2] यों पन्त की कविताओं में गतिबोधक बिम्बों के अनेक उदाहरण

---

१. पन्त, पल्लविनी, भारती भण्डार, प्रयाग, तृतीय संस्करण, पृ० ६६।

२. 'उड़ने' का एक ऐसा ही चित्र कीट्स ने भी प्रस्तुत किया है। कीट्स ने 'I Stood Tiptoe', शीर्षक कविता में 'पीज़' वृक्षों पर लिखते हुए कहा है— "Here are sweet peas, on tip-toe for a flight".—John Keats, Complete Poetry and Selected Prose, edited by Harold E. Briggs, New York, 1951, p. 53.

कीट्स के आलोचकों का कहना है कि यहाँ हमें 'Potential force of static image' मिलता है। किन्तु, मेरी दृष्टि में पन्त की उपर्युक्त बिम्ब-योजना कीट्स की तुलना में अधिक बलिष्ठ है, क्योंकि वृक्षों का उड़ना उतना भव्य नहीं मालूम पड़ता है, जितना कि पर्वत का उड़ना। यहाँ यह ध्यान देने की बात है कि पन्त ने 'शुक्र' शीर्षक कविता में कीट्स के 'on tiptoe' वाले बिम्ब की सुन्दर छाया उपस्थित की है—

मिलते हैं। जैसे, 'नौका-विहार' शीर्षक कविता में इन्होंने नाव की मृदु मंथर गति को निर्दिष्ट करते हुए इस कलात्मक गत्वर बिम्ब को प्रस्तुत किया है—

मृदु मन्द-मन्द, मन्थर मन्थर लघु तरणि, हंसिनी-सी सुन्दर,
तिर रही खोल पालों के पर।[1]

किन्तु, इनके अधिकांश गत्वर बिम्ब क्रिया-सौष्ठव से युक्त हैं, जो सर्वथा स्वाभाविक हैं, क्योंकि एक विशिष्ट क्रिया अथवा विभिन्न प्रकार की साधारण क्रियाओं के योग से काव्य-निबद्ध वस्तु, दृश्य या स्थिति में गतिशीलता की अवतारणा सहज हो जाती है। अतः इनकी 'प्रथम रश्मि' शीर्षक कविता में विभिन्न प्रकार की क्रियाओं के योग से ही एक प्रसृत गतिबोधक बिम्ब को इस प्रकार प्रस्तुत किया गया है—

निराकार तम मानो सहसा
ज्योति-पुंज में हो **साकार,**
बदल गया द्रुत जगत-जाल में
धरकर नाम-रूप नाना;
सिहर उठे पुलकित हो द्रुमदल
सुप्त समीरण हुआ अधीर,
झलका हास कुसुम-अधरों पर
हिल मोती का-सा दाना;
खुले पलक, **फैली** सुवर्ण छवि,
खिली सुरभि, **डोले** मधुबाल।[2]

इसी तरह **पन्त** ने 'आँसू' शीर्षक कविता में क्रिया-सौष्ठव के सहारे बल खाती हुई लहरों का गतिबोधक बिम्ब प्रस्तुत किया है—

नबोढ़ा बाल लहर
अचानक उपकूलों के
प्रसूनों के ढिंग **रुक कर**
सरकती है सत्वर।[3]

इस प्रकार के क्रिया-सौष्ठव पर निर्भर बिम्ब, जिनमें गत्वर सौन्दर्य रहता

संध्या के सोने के नभ पर तुम उज्ज्वल हीरक सदृश जड़े,
उदयाचल पर दीखते प्रात अंगूठे के बल हुये खड़े।
—पन्त, पल्लविनी, भारती भण्डार, प्रयाग, तृतीय संस्करण, पृ० २३७।

१. पन्त, आधुनिक कवि, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, तृतीय संस्करण, पृ० ५६।
२. पन्त, वीणा, इंडियन प्रेस, प्रयाग १९४२, पृ० ५४।
३. पन्त, पल्लव, इंडियन प्रेस, प्रयाग, १९३१, पृ० २०।

है, **निराला** को भी प्रिय हैं। 'वनबेला' शीर्षक कविता में वेला को उपस्थित करते समय उन्होंने जिस क्रिया-सौष्ठव का अंकन किया है, वह दर्शनीय है—

> **झुक झुक**, तन तन, फिर **झूम झूम, हँस हँस, झकोर**
> चिर परिचित **चितवन डाल**, सहज **मुखड़ा मरोर,**
> भर **मुहुर्मुहुर**, तन-गन्ध विमल **बोली** बेला।[1]

गतिबोधकता से पृथक मात्र क्रिया-सौष्ठव पर निर्भर बिम्ब को हम व्यापार-विधायक बिम्ब भी कह सकते हैं। जैसे, **महादेवी** की इस पंक्ति—'मोम सा तन घुल चुका, अब दीप-सा मन जल चुका है'—में 'जलने' और घुलने' के दो व्यापारों से विरह की सम्पूर्ण बेकली एवं वेदना को बिम्बित करने का प्रयास किया गया है। **महादेवी** ने अन्यत्र भी क्रिया-सौष्ठव पर निर्भर ऐसे बिम्बों की सफल योजना की है। उदाहरणार्थ—

> नीरव नभ के नयनों पर
> हिलती हैं रजनी की अलकें,
> जाने किसका पंथ देखतीं
> बिछकर फूलों की पलकें।[2]

यहाँ प्रारम्भ की दो पंक्तियों में अंधियाली (रजनी की अलकें) का बिम्ब 'हिलने' के क्रिया-सौष्ठव के कारण ही अपने मूर्त्त सौन्दर्य को स्पष्ट कर सका है। इसी तरह **निराला** ने सरोज के तरुण सौन्दर्य को अंकित करने में क्रिया और क्रिया-विशेषण के सौष्ठव का कलात्मक उपयोग किया है—

> **धीरे धीरे** फिर **बढ़ा** चरण
> बाल्य की केलियों का प्रांगण
> **कर पार,** कुंज तारुण्य सुघर
> **आई,** लावण्य-भार **थर-थर**
> **काँपा** कोमलता पर **सस्वर**
> ज्यों मालकोश नव वीणा पर।[3]

इस प्रसंग में यह भी विचारणीय है कि काव्य-जगत् के कुछ कलात्मक बिम्ब विशेषण-निर्भर हुआ करते हैं। कारण, विशेषणों में काव्य-निबद्ध वस्तु के वैशिष्ट्य को व्यक्त करने की सर्वोत्तम शक्ति होती है। इसलिये शब्दाश्रित बिम्ब-विधान में विशेषणों को महत्त्वपूर्ण स्थान मिल जाता है। उदाहरण के लिये **महादेवी** के इस विशेषण-निर्भर बिम्ब को देखा जा सकता है—

---

१. निराला, अनामिका, भारती भण्डार, प्रयाग, द्वितीय संस्करण, पृ० ८८।
२. महादेवी, नीहार, साहित्य भवन, प्रयाग, चतुर्थ संस्करण, पृ० ५।
३. निराला, अनामिका, भारती भण्डार, प्रयाग, द्वितीय संस्करण, पृ० १२६।

ओ चिर नीरव ।[1]

यहाँ केवल दो विशेषणों—'चिर' और 'नीरव'—से पर्वत का बिम्ब-बोध कराया गया है। पुनः इसी कविता में कुछ विशेषणों—अश्रु-तरल, चिर चचल, ऊर्मि-विरल और गति-विह्वल से ही पर्वत को फोड़कर निकलने वाली अविरल गति में बहती हुई व्याकुल सरिता का बिम्ब प्रस्तुत हो जाता है। इसी तरह 'दीपशिखा' के पाँचवें गीत में एक-एक विशेषण से ही सम्पूर्ण बिम्ब को उपस्थित कर दिया गया है। जैसे, 'लास-तन्मय तड़ित' से चमकती हुई बिजली का, 'भीत तारक मूँदते दृग' से टिमटिमाते तारों का और 'श्रान्त मारुत पथ न पाता' से गुमराह बटोही की तरह फिर-फिर घूम आने वाले वात्याचक्र का चित्र स्वतः स्पष्ट हो जाता है। पुनः महादेवी की प्रसिद्ध पंक्ति 'प्राणों के अन्तिम पाहुन ······छिप आना तुम छायातन' में 'अन्तिम' और 'छायातन' विशेषण ही बिम्ब को स्पष्ट कर पाते हैं। केवल 'प्राणों के पाहुन' कहने से मृत्यु-देवता का संकेत स्पष्ट नहीं हो पाता। इस प्रकार के विशेषण-निर्भर बिम्ब अन्य छायावादी कवियों के काव्य में भी प्रचुर मात्रा में पाये जाते हैं।

तदनन्तर, छायावादी कवियों के द्वारा प्रयुक्त वेगोद्भेदक बिम्बों पर विचार कर लेना आवश्यक प्रतीत होता है। वेगोद्भेदक बिम्बों की सृष्टि, अधिकतर, गति और ध्वनि के विरूप मिश्रण से हुआ करती है। कहा जाता है कि जिस कवि के पास सम्मूर्त्तन-प्रधान कल्पना की प्रधानता रहती है, उसकी कृतियों में चाक्षुष वेगोद्भेदक बिम्बों की अधिकता मिलती है। उत्कृष्ट कोटि के वेगोद्भेदक बिम्बों में वेग और उद्भेद, गति और विस्फोट—ये सब एक साथ रहते हैं। अतः इन बिम्बों की रूक्ष प्रकृति के कारण छायावाद के कोमल-प्राण कवि इनका अधिक उपयोग नहीं कर सके हैं। निराला ने 'राम की शक्ति-पूजा' में एक वेगोद्भेदक बिम्ब का विधान इस प्रकार किया है—

शत घूर्णावर्त्त, तरंग-भंग, उठते पहाड़,
जल-राशि राशि-जल पर चढ़ता खाता पछाड़,
तोड़ता बन्ध - प्रतिसन्ध धरा, हो स्फीत वक्ष
दिग्विजय-अर्थ प्रतिपल समर्थ बढ़ता समक्ष,
शत-वायु-वेग-बल, डुबा अतल में देश भाव,
जल-राशि विपुल मथ मिला अनिल में महाराव
बज्रांग तेजघन बना पवन को, महाकाश
पहुँचा, एकादश रुद्र क्षुब्ध कर अट्टहास।[2]

---

१. महादेवी, दीपशिखा, भारती भण्डार, प्रयाग, चतुर्थ संस्करण, पृ० ७१।
२. निराला, अपरा, साहित्यकार संसद, प्रयाग, चतुर्थ संस्करण, पृ० ४७।

इन पंक्तियों में कवि ने राम की विपन्नता से क्षुब्ध हनुमान् के ऊर्ध्वगमन के (समुद्र और आकाश पर पड़े) प्रभाव को वेग, उद्भेद तथा विभ्राट् के साथ प्रस्तुत किया है। इसी तरह **पन्त** ने 'परिवर्त्तन'[1] शीर्षक कविता में तीन वेगोद्भेदक बिम्बों की सृष्टि की है, जो इस प्रकार हैं—

(क) अहे वासुकि सहस्र फन !
लक्ष अलक्षित चरण तुम्हारे चिह्न निरन्तर
छोड़ रहे हैं जग के विक्षत वक्षःस्थल पर।
शत शत फेनोच्छ्वसित, स्फीत फूत्कार भयंकर
घुमा रहे हैं घनाकार जगती का अम्बर।

(ख) अये, एक रोमांच तुम्हारा दिग्भूकम्पन,
गिर गिर पड़ते भीत पक्षिपोतों से उडगन,
आलोड़ित अम्बुधि फेनोन्नत, कर शत-शत फन
मुग्ध भुजंगम-सा, इंगित पर करता नर्त्तन !
दिग्पिंजर में बद्ध गजाधिप-सा विनतानन
वाताहत हो गगन
आर्त्त करता गुरु गर्जन।

(ग) बजा लोहे के दन्त कठोर
नचाती हिंसा जिह्वा लोल;
भृकुटि के कुण्डल वक्र मरोर
फुहुँकता अन्ध रोष फन खोल।

किन्तु, सच यह है कि छायावादी कवियों की कोमल प्रकृति, दार्शनिक और कल्पना-प्रवण चित्त तथा श्रुतिपेशल पदशय्या के कारण उनकी कविताओं में वेगोद्भेदक बिम्बों का प्रचुर अथवा अनेकत्र प्रयोग नहीं मिलता है। अतः वेगोद्भेदक बिम्ब-विधान का छायावाद के भाव-पक्ष या कला-पक्ष की विशिष्टताओं के साथ कोई घनिष्ठ संबंध नहीं है।

छायावादी कविता में सहसंवेदनात्मक अथवा मिश्र बिम्बों का सौन्दर्यशास्त्रीय दृष्टि से विशेष महत्त्व है, जिनके कलात्मक मूल्यांकन की ओर अब तक कोई सुस्थ प्रयास नहीं किया गया है। इस शोध-प्रबन्ध के प्रथम खण्ड[2] में बिम्बों के सैद्धान्तिक विवेचन के अन्तर्गत हम देख चुके हैं कि सहसंवेदनात्मक बिम्ब-विधान में शारीरिक अथवा मानसिक—अनेक प्रकार के संवेगों, संवेदनों या अनुभूतियों का मिश्रण रहता है। जैसे, किसी कविता में कोई ऐसी अप्रस्तुत-

---

१. पन्त, पल्लविनी, भारती भण्डार, प्रयाग, तृतीय संस्करण, पृ० ११५-१२०।
२. सौन्दर्यशास्त्र के तत्त्व, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, १९६७।

योजना हो, जिसमें ध्वनि, वर्ण-परिज्ञान और घ्राण के बोध एक ही साथ व्यंजित हों, तो उसे हम सहसंवेदनात्मक संश्लिष्ट बिम्ब कहेंगे। जिस कवि में अतिशय भावुकता या आत्मनिष्ठता रहती है, वह सहसंवेदनात्मक संश्लिष्ट बिम्बों के सृजन में अपेक्षाकृत अधिक समर्थ होता है। ऐसे बिम्ब, प्रायः, वर्ण-ध्वनिमय या ध्वनि और चाक्षुष संवेदन से युक्त होते हैं। अधिक स्पष्टता के लिये यह कहा जा सकता है कि सहसंवेदनात्मक बिम्ब-विधान में संवेदनों का गाढ़ घनीकरण रहता है तथा विभिन्न इन्द्रिय-बोधों का सम्मिश्रण भी। इसलिये ऐसे बिम्बों का विधायक कवि एक प्रकार और क्रम के संवेदनों से दूसरे प्रकार और क्रम के संवेदनों में संक्रमण करता रहता है। फलस्वरूप ये बिम्ब स्वभाव से ही मिश्रणशील और समीकरण-प्रधान हुआ करते हैं। इस तरह के बिम्ब-विधान में प्रवृत्त कवि के लिये मानवीकरण, बोध-विपर्यय, सादृश्य-स्थापन इत्यादि सुन्दर साधन सिद्ध होते हैं। साथ ही, इसमें अनेक प्रकार के संवेदनों अथवा इन्द्रिय-बोधों के बीच किसी एक की प्रधानता रहती है और शेष बोध या संवेदन गौण रहकर उसके उपकारक बन जाते हैं। इस प्रकार सहसंवेदनात्मक संश्लिष्ट बिम्बों की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इनमें विभिन्न प्रकार के संवेगों, संवेदनों और बोधों का ऐसा सौहार्द्रपूर्ण सन्तुलन रहता है, जिसके अभाव में हम अपने आवेष्टन की संकुलता के साथ अपना रागात्मक संबंध स्थापित नहीं कर सकते हैं।

ये सहसंवेदनात्मक बिम्ब भारतीय प्रमाणशास्त्र की दृष्टि से भी बहुत महत्त्वपूर्ण सिद्ध होते हैं, क्योंकि सहसंवेदनात्मक बिम्बों के मूल में ज्ञानलक्षण-प्रत्यक्ष विद्यमान रहता है। हम किसी तप्त लौहखण्ड को देखकर उसके स्पर्श के बिना ही कह देते हैं कि वह तप्त है, जबकि ताप का अनुभव करना नेत्रेन्द्रिय का नहीं, स्पर्शेन्द्रिय का कार्य है। इसका समाधान भारतीय दर्शन के अनुसार यह है कि हमारे पूर्वानुभूत संस्कार मन में बने रहते हैं, जिनके कारण इन्द्रियों के बोध का परस्पर विनिमय-सा हो जाता है। यह इसलिये कि एक इन्द्रिय के काम करते समय अन्य इन्द्रियाँ निष्क्रिय नहीं रहतीं हैं, बल्कि वे भी अपनी धारणा बनाने में निमग्न रहती हैं—देखते समय त्वक्‌चेतना (स्पर्शेन्द्रिय) भी काम करती है और सूँघते समय आँखें भी कार्यरत रहती है। अतः स्पर्शेन्द्रिय के आलम्बन तप्त लौह खण्ड को देखते ही (बिना स्पर्श किये) हम उष्ण कह देते हैं और घ्राणेन्द्रिय के आलम्बन चन्दन-खण्ड या सुवासित पुष्प को देखकर ही (बिना सूँघे हुये) हम उसे सुगन्धित कह देते हैं। यहाँ यह ध्यान देने की बात है कि इन्द्रियों का ऐसा भावन 'सवृति-सत्य'[1] नहीं होता, क्योंकि यह भावन एक प्रकार से ज्ञात संबंध के आधार पर किया हुआ अनुमान होता है

---

१. False Reality.

और 'सत् सम्प्रयोग' (प्रत्यक्ष वस्तु का सम्पर्क) से प्राप्त भावन या प्रत्यक्षसम्मत भावन की तरह ही विश्वसनीय होता है। इस प्रकार भावन की आवृत्ति से बने संस्कारों के कारण हमारी इन्द्रियों के बोध में विनिमय या विपर्यय-सा होता रहता है। यह विनिमय या विपर्यय ही सहसंवेदनात्मक बिम्बों का मूल है। अधिक सुविधा और स्पष्टता के लिये हम सहसंवेदनात्मक बिम्बों को मिश्र बिम्ब कह सकते हैं, क्योंकि इनमें बोध-विनिमय या विपर्यय के साथ विभिन्न प्रकार के बोधों का मिश्रण भी रहता है। मिश्रण की दृष्टि से सहसंवेदनात्मक बिम्ब संग्रथित खण्डों से पूर्णता प्राप्त करते हैं, क्योंकि इनमें कई प्रकार के ऐन्द्रिय बोधों का एकत्र समीकरण रहता है। जैसे, **निराला** की निम्नलिखित कविता में घ्राणिक, चाक्षुष, स्पार्शिक, श्रावण और गत्यात्मक बोधों के कलात्मक मिश्रण को देखा जा सकता है—

भर गया जुही के गन्ध पवन।
उमड़ा उपवन, वारिद वर्षण।
तोड़े-तोड़े खिल गये फूल,
छाये गंगा के कूल-कूल।
महके तरुणी के नव दुकूल,
गजरों से भर दी गई रवन।
दूनी विभात हो गई रात,
सिहरे मानव के मधुर गात,
संगीत-पुञ्ज-गुञ्जित विघात
बाजे मृदंग-सारङ्ग-स्रवण।
नाचीं नटियाँ, पद-पात सुघर,
हिलती कटि, घूम रहे युग कर;
वैसी ही छवि डाल पर निडर,
निर्भर समीर के साथ प्रमन।[1]

यहाँ घ्राणिक (भर गया जुही के गन्ध पवन, महके तरुणी के नव दुकूल), चाक्षुष (तोड़े-तोड़े खिल गये फूल, दूनी विभात हो गई रात), स्पार्शिक (सिहरे मानव के मधुर गात), श्रावण (संगीत-पुञ्ज-गुञ्जित विघात, बाजे मृदङ्ग-सारङ्ग स्रवण) और गत्यात्मक (नाचीं नटियाँ पद-पात सुघर, हिलती कटि घूम रहे युग कर। बोधों से बिम्ब-यष्टि में एक ऐसी अन्विति प्रस्तुत की गई है, जो अपनी 'पूर्णता' के अलावा 'खण्डों' में भी आनन्द प्रदान करती है। विभिन्न ऐन्द्रिय बोधों पर निर्भर एतादृश बिम्बों के सायुज्य मिश्रण को हम **निराला**

१. निराला, गीत-गुंज, हिन्दी प्रचारक पुस्तकालय, वाराणसी, द्वितीय संस्करण, पृ० ५०।

की इन पंक्तियों में भी पाते हैं, जिनमें स्पर्श, घ्राण, श्रवण और चक्षु—सब से सम्बद्ध बोधों का सुष्ठु मूर्त्तन है—

पड़ी चमेली की माला कल ।
गमक उठा निशि का नभ-मंडल ।
कूजे कंठ, उठे आनत-मुख,
मिले लोग अपने व्याकुल सुख
स्वर्गाभास हुआ जग का दुख,
तारों के नभ, हारों के गल ।
मीड़ मधुरतम विधुर इमन की
गगन-गीति की रति-गति रन की,
खुली रीति विपरीत सुमन की,
रात प्रात किरणों के उत्पल ।[1]

इसी तरह **पन्त** की 'ग्राम श्री' शीर्षक कविता में मिश्र बिम्ब का सफल प्रयोग मिलता है—

फैली खेतों में दूर तलक
मखमल की कोमल हरियाली,
लिपटीं जिससे रवि की किरणें
चाँदी की सी उजली जाली !
तिनकों के हरे-हरे तन पर
हिल हरित रुधिर है रहा झलक,
श्यामल भूतल पर झुका हुआ
नभ का चिर निर्मल नील फलक ![2]

यहाँ स्पार्शिक (मखमल) और चाक्षुष (हरियाली) बोधों के मिश्रण के साथ ही वर्ण-मिश्रण (हरित रुधिर, श्यामल-नील) से मिश्र बिम्ब की सृष्टि की गई है। **पन्त** ने 'आत्मिका' शीर्षक कविता में भी मिश्र बिम्ब का प्रयोग किया है—

तितली उड़ती
रँग रँग मधु रव भर मन में
जुगनू हरे स्वरों में
लिप पुत जाते वन में ![3]

---

१. निराला, गीत-गुंज, हिन्दी प्रचारक पुस्तकालय, वाराणसी, द्वितीय संस्करण, पृ० ४० ।
२. पन्त, चिदम्बरा, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, १९५९, पृ० ७४ ।
३. पन्त, वाणी, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, १९५८, पृ० १३४ ।

यहाँ स्पष्टतः चाक्षुष और श्रावण बोधों का मिश्रण प्रस्तुत किया गया है। बिम्ब-विधान के तात्त्विक विवेचन में यह स्पष्ट किया जा चुका है कि मिश्र बिम्बों का आधार तन्मात्राओं—रूपतन्मात्रा और शब्दतन्मात्रा—का समीकरण है। **पन्त** ने 'इन्द्रधनुष' शीर्षक कविता में तन्मात्राओं के इस तात्त्विक मिश्रण की ओर संकेत किया है—

> रंग प्राण, रे रंग जगत यह श्री सुषमा का जीवित,
> रूप स्पर्श रस गंध शब्द **तन्मात्राओं** से झंकृत।[1]

इसलिये **पन्त** की कविताओं में बिम्ब के अनेक सुष्ठु उदाहरण मिलते हैं। जैसे, इन्होंने 'एक तारा' शीर्षक कविता में लिखा है—

> गुँजित अलि-सा निर्जन अपार, मधुमय लगता घन अन्धकार
> हलका एकाकी व्यथा-भार।[2]

यहाँ 'घन अन्धकार' चाक्षुष प्रत्यक्ष से संबद्ध है, किन्तु, उसके उपमान 'अलि' का विशेषण 'गुँजित' श्रावण प्रत्यक्ष से संबद्ध है। इस प्रकार यहाँ चाक्षुष और श्रावण—दो प्रकार के बोधों का मिश्रण प्रस्तुत किया गया है। बोधों या तन्मात्राओं के ऐसे मिश्रण से जिन बिम्बों की सृष्टि होती है, उनसे काव्य-भाषा की शक्ति बढ़ती है। इसलिये **पन्त** ने **'पल्लव'**-काल में ही यह अनुभव किया था कि खड़ी बोली को समृद्ध बनाने के लिये उसे रूप-बोध, रस-बोध और गंध-बोध से भरना होगा[3]। सचमुच ऐसा होना भी चाहिये, क्योंकि मनुष्य सभी इन्द्रियों के सहारे सृष्टि के सौन्दर्य का भोग, भावन अथवा प्रत्यक्ष करता है। **प्रसाद** ने इसी तथ्य को मनु के माध्यम से 'काम' सर्ग में इस प्रकार व्यक्त किया है—

> **पीता हूँ, हाँ मैं पीता हूँ**
> **यह स्पर्श, रूप, रस, गन्ध भरा,**
> मधु लहरों के टकराने से
> ध्वनि में है क्या गुँजार भरा।[4]

यहाँ यह कहा जा सकता है कि इन इन्द्रिय-बोधों या तन्मात्राओं की बहार 'काम'-दशा तक ही (क्योंकि उपरि-उद्धृत पंक्तियाँ 'काम' सर्ग की हैं) रहती

---

१. पन्त, स्वर्णकिरण, भारती भण्डार, इलाहाबाद, प्रथम संस्करण, पृ० २१।

२. पन्त, आधुनिक कवि, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, छठा संस्करण, पृ० ५५।

३. "हम खड़ी बोली से अपरिचित हैं, उसमें हमने अपने प्राणों का संगीत अभी नहीं भरा। उसके शब्द हमारे हृदय के मधु से सिक्त होकर अभी सरस नहीं हुये, वे केवल नाम-मात्र हैं; उनमें हमें रूप-रस-गन्ध भरना होगा।"
—पन्त, पल्लव, इण्डियन प्रेस, प्रयाग, अष्टम संस्करण, पृ० ५८।

४. प्रसाद, कामायनी, भारती भण्डार, प्रयाग, अष्टम संस्करण, पृ० ६९।

है। किन्तु, ऐसी बात नहीं है, क्योंकि **प्रसाद** ने इन सभी इन्द्रिय-बोधों की सम्मिलित उपस्थिति को 'रहस्य' सर्ग में भी निर्दिष्ट किया है—

> शब्द, स्पर्श, रस, रूप, गन्ध की
> पारदर्शिनी सुघड़ पुतलियाँ,
> चारों ओर नृत्य करती ज्यों
> रूपवती रंगीन तितलियाँ।[1]

आशय यह है कि सहसंवेदनात्मक या मिश्र बिम्बों के पीछे इन्द्रियानुभूति की जो पीठिका रहती है, उसमें मनुष्य के विविध इन्द्रिय-बोधों का समावेश रहता है।[2] कारण, जब आश्रय भाव-तरंगित होकर अपने आलम्बन की ओर आकृष्ट या अर्पित-चित्त होता है, तब उसकी सभी इन्द्रियाँ एक समान लालसा से आन्दोलित होकर क्रियाशील हो जाती हैं। अतः लालसा की समान भूमि पर प्रतिष्ठित हो जाने के बाद इन्द्रियों के बोधों में पारस्परिक विपर्यय या विनिमय के कारण अभेद अथवा मिश्रण समाविष्ट हो जाता है। तब वह भाव-तन्मय आश्रय रंगों को सुनने लगता है और ध्वनियों को देखने लगता है। सहसंवेदनात्मक बिम्बों के पीछे काम करनेवाली इस मिश्रित इन्द्रियानुभूति पर **डा० रामकुमार वर्मा** के इस मन्तव्य से भी पर्याप्त प्रकाश पड़ता है—"(एक दशा होती है, जिसमें) जीव की सारी इन्द्रियों का एकीकरण हो जाता है। सारी इन्द्रियों से एक स्वर निकलता है और उनमें अपने प्रेम की वस्तु के पाने की लालसा समान रूप से होने लगती है। इन्द्रियाँ अपने आराध्य के प्रेम को पाने के लिये उत्सुक हो जाती हैं और उनकी उत्सुकता इतनी बढ़ जाती है कि उसके विविध गुणों का ग्रहण समान रूप से करती हैं। अन्त में यह सीमा इस स्थिति को पहुँचती है कि भावोन्माद में वस्तुओं के विविध गुण एक ही इन्द्रिय पाने की क्षमता प्राप्त कर लेती है। ऐसी दशा में शायद इन्द्रियाँ भी अपना कार्य बदल देती

---

१. प्रसाद, कामायनी, भारती भण्डार, प्रयाग, अष्टम संस्करण, पृ० २६२।

२. चार्ल्स बॉद्लेयर ने 'Correspondences' शीर्षक प्रसिद्ध कविता में, जो प्रतीकवादी आन्दोलन की दार्शनिक पीठिका का मूलाधार मानी जाती है, विविध इन्द्रिय-बोधों के इसी संवाद या पारस्परिक विनिमय को स्वीकार किया है—

> Like prolonged echoes mingling far away
> in a unity tenebrous and profound,
> vast as the night and as the limpid day,
> perfumes, sounds and colours correspond.

—Baudelaire in 'French Symbolist Poetry'; translated by C. F. MacIntyre, University of California Press, 1958.

हैं।"[१] इस प्रकार सहसंवेदनात्मक बिम्बों (सिनेस्थेटिक इमेजेज) या मिश्र बिम्बों में अनेक प्रकार के ऐन्द्रिय बोधों का मिश्रण या समीकरण रहता है।

छायावादी कविता में सहसंवेदनात्मक बिम्ब-विधान के अनेक उदाहरण मिलते हैं। जैसे, **प्रसाद** की 'प्रलय की छाया' शीर्षक कविता की निम्नलिखित पंक्तियाँ देखी जा सकती हैं—

नूपुरों की **झनकार** घुली मिली जाती थी
चरण-अलक्तक की **लाली** से।
जैसे अन्तरिक्ष की **अरुणिमा**
पी रही दिगन्तव्यापी संध्या-**संगीत** को।[२]

इन पंक्तियों में योजित मिश्र बिम्ब इन्द्रिय-बोधों के समीकरण पर निर्भर है। यहाँ 'झनकार' (श्रावण बोध) के साथी लाली (चाक्षुष बोध) और अरुणिमा (चाक्षुष बोध) के साथ संगीत (श्रावण बोध) का समीकरण उपस्थित किया गया है। नूपुरों की झनकार और चरण-अलक्तक की लाली में अधिकरणगत निकटता है। इसी तरह अन्तरिक्ष की अरुणिमा और संध्या-संगीत में भी अधिकरणगत निकटता है, क्योंकि दोनों का आश्रय-स्थल तो 'दिगन्त' ही है। इन दोनों बोधों (चाक्षुष और श्रावण) के मिश्रण की दृष्टि से भारतीय संगीत का 'दीपक राग' बहुत ही विचारणीय है। इस राग की धारणा और नामकरण में ही राग यानी स्वर-संगीत (श्रावण बोध का विषय) और 'दीपक' अर्थात् आलोक (चाक्षुष बोध का विषय) की समन्वित सृष्टि निहित है। **निराला** ने भी चाक्षुष प्रस्तुत के लिये श्रव्य अप्रस्तुत का विधान किया है। जैसे, इन्होंने 'अस्ताचल रवि' शीर्षक गीत में लिखा है—

दूर नदी पर **नौका** सुन्दर
दीखी मृदुतर बहती ज्यों स्वर।[३]

यहाँ (प्रस्तुत) 'नौका' के लिये, जो चाक्षुष प्रत्यक्ष से संबद्ध है, 'स्वर' का अप्रस्तुत, जो श्रव्य है, योजित किया गया है। इसी तरह 'बादल-राग' शीर्षक कविता में **निराला** ने 'केश' (चाक्षुष), जो गगन का द्योतक है, के लिए 'ताल' (श्रव्य) और 'तड़िद्दाम' (चाक्षुष) के लिये 'इमन' (श्रव्य) की अप्रस्तुतयोजना की है, जिससे निम्नलिखित पंक्तियों में सहसंवेदनात्मक बिम्ब का विधान हो गया है—

---

१. डा० रामकुमार वर्मा, कबीर का रहस्य, साहित्यवाद, भवन, प्रयाग, सातवां संस्करण, पृ० ८।

२. प्रसाद, लहर, भारती भण्डार, प्रयाग, पंचम संस्करण, पृ० ६०।

३. निराला, अपरा, साहित्यकार संसद, प्रयाग, चतुर्थ संस्करण, पृ० ३३।

चौंक चमक छिप जाती विद्युत
तड़िद्दाम अभिराम,
तुम्हारे कुंचित केशों में
अधीर विक्षुब्ध ताल पर
एक इमन का-सा अति मुग्ध विराम।[1]

इसी तरह **पन्त** के द्वारा प्रयुक्त 'नील झंकार'[2] और **महादेवी** के द्वारा प्रयुक्त 'सुरभित स्वप्न'[3] में भी हम सहसंवेदनात्मक बिम्ब की आयोजना पाते हैं। कुल मिलाकर, यह दृढ़तापूर्वक कहा जा सकता है कि छायावादी कविता के कला-सौष्ठव की संवर्द्धना में इस प्रकार के बिम्बों का सर्वोपरि महत्त्व है।

तदनन्तर, छायावादी कविता में उदात्त बिम्बों का भी छिटपुट आयोजन हुआ है। **निराला** ने 'उदात्त बिम्ब' के लिये 'विराट् चित्र' का प्रयोग किया है। इनके अनुसार छायवादी कविता में "विराट् चित्रों के खींचने की तरफ कवियों का उतना ध्यान नहीं, जितना छोटे-छोटे सुन्दर चित्रों की ओर है",[4] जबकि "काव्य में साहित्य के हृदय को दिगन्त-व्याप्त करने के लिए विराट् चित्रों की प्रतिष्ठा करना अत्यन्त आवश्यक है।"[5] सचमुच, छायावादी कविता में उदात्त बिम्बों का विधान पर्याप्त मात्रा में नहीं हुआ है, क्योंकि छायावादी कवियों ने छोटे-छोटे चित्रों को मणिकुट्टिम शैली में रच-रचकर गढ़ने और जड़ने का प्रयास अधिक किया है। फिर भी छायावादी कविता में कुछ उदात्त बिम्ब मिलते हैं, जो कला-सौष्ठव की दृष्टि से नगण्य नहीं है। उदाहरणार्थ, **प्रसाद** की निम्नलिखित कविता में हमें उदात्त बिम्ब मिलता है—

हे सागर संगम अरुण नील!
अतलान्त महागम्भीर जलधि—
तज कर अपनी यह नियत अवधि,

---

१. निराला, परिमल, गंगा पुस्तकमाला, लखनऊ, प्रथमावृत्ति, पृ० १५६।

२. दूर, उन खेतों के उस पार,
जहाँ तक गई नील झंकार
छिपा छाया-वन में सुकुमार
स्वर्ग की परियों का संसार।
—पन्त, गुंजन, भारती भण्डार, प्रयाग, छठा संस्करण, पृ० ७४।

३. मैं अनन्त पथ में लिखती जो
सुरभित सपनों की बातें।
—महादेवी, नीहार, साहित्य भवन, प्रयाग, चतुर्थ संस्करण, पृ० ६।

४. निराला, प्रबन्ध-पद्म, गंगा पुस्तकमाला, लखनऊ, संवत् २०११ विक्रम, पृ० १५४।

५. उपरिवत्, पृ० १५४।

लहरों के भीषण हासों में,
आकर खारे उच्छ्वासों में,
युग-युग की मधुर कामना के—
बन्धन को देता जहाँ ढील ।
... ...
आगमन अनन्त मिलन बन कर
बिखराता फेनिल तरल खील !
... ...
निस्सीम व्योम तल नील अंक में
अरुण ज्योति की झील बनेगी कब सलील ?
हे सागर संगम अरुण नील ![1]

इसमें क्षितिज के पास दिखाई पड़नेवाले समुद्र और आकाश के भव्य संगम का एक विराट् फलक पर अधिकरणगत औदात्य के साथ चित्र प्रस्तुत किया गया है। इसी उदात्त बिम्ब की आंशिक झांकी को **प्रसाद** ने 'समुद्र-सन्तरण' शीर्षक कहानी के प्रारम्भ में उपस्थित किया है।[2] **निराला** ने भी 'वनबेला' शीर्षक कविता के प्रारम्भ में ग्रीष्म ऋतु के सूर्य और पृथ्वी को नायक-नायिकावत् उपस्थित कर[3] विराट् फलक पर उदात्त बिम्ब को प्रस्तुत किया है—

वर्ष का प्रथम
पृथ्वी के उठे उरोज मंजु पर्वत निरुपम
किसलयों बंधे,
पिक-भ्रमरगुञ्ज भर मुखर प्राण रच रहे सधे
प्रणय के गान
सुन कर रहसा,
प्रखर से प्रखर तर हुआ तपन-यौवन सहसा;
ऊर्जित भास्वर
पुलकित शत-शत व्याकुल कर भर
चूमता रसा को बार-बार चुम्बित दिनकर
... ...

१. प्रसाद, लहर, भारती भण्डार, प्रयाग, पांचवाँ संस्करण, पृ० १५-१६ ।

२. प्रसाद, आकाशदीप, भारती भण्डार, प्रयाग, षष्ठ संस्करण, पृ० १०५ ।

३. कीट्स की 'To Autumn' शीर्षक कविता का प्रारम्भिक पंक्तियों से चित्रसाम्य । द्रष्टव्य—The Complete Poetry and Prose of John Keats, edited by Harold Edgar Briggs, New York, 1951, p. 383.

दाब में ग्रीष्म
भीष्म से भीष्म बढ़ रहा ताप,
प्रस्वेद, कम्प,
ज्यों ज्यों युग उर में और चाप—
और सुख-झम्प ।[1]

इन पंक्तियों में उदात्त बिम्ब के उपयुक्त विशालता और विस्मय का मंडान तभी बँध जाता है, जब कवि पर्वत को पृथ्वी के उठे हुये मंजु उरोज के रूप में चित्रित कर देता है । इन्होंने 'राम की शक्तिपूजा' शीर्षक कविता में भी पर्वत के रूप में शक्ति (पार्वती) की कल्पना कर एक उदात्त बिम्ब की योजना की है—

···सामने स्थित जो यह भूधर
शोभित शत-हरित-गुल्म-तृण से श्यामल सुन्दर,
पार्वती कल्पना हैं इसकी मकरन्द-विन्दु;
गरजता चरण-प्रान्त पर सिंह वह, नहीं सिन्धु;
दशदिक समस्त हैं हस्त, और देखो ऊपर,
अम्बर में हुए दिगम्बर अर्चित शशि-शेखर;
लख महाभाव-मंगल पदतल धँस रहा गर्व—
मानव के मन का असुर मन्द, हो रहा खर्व ।[2]

उद्धृत पंक्तियों में विन्यस्त बिम्ब-बिधान का सम्पूर्ण औदात्य रूपकात्मकता पर निर्भर है । भला, पर्वत जिसका विशाल तन हो, गर्जमान सिन्धु जिसका चरण-सेवी सिंह हो और दश दिशायें जिसकी दश भुजायें हों, उसका प्रत्यक्ष मनुष्य की साधारण इन्द्रियों के लिए अवश्य ही विस्मय और आनन्द का विषय होगा । इसी प्रकार अमा-निशा की भयंकरता[3] के निम्नलिखित चित्रण में पृष्ठभूमि की तरह एक ऐसे विशाल फलक का उपयोग किया गया है कि सम्पूर्ण बिम्ब की आयोजना उदात्त के धरातल पर पहुँच गई है—

है अमा निशा; उगलता गगन घन अन्धकार;
खो रहा दिशा का ज्ञान; स्तब्ध है पवन चार;

---

१. निराला, अनामिका, भारती भण्डार, प्रयाग, द्वितीय संस्करण, पृ० ८३-८४ ।
२. निराला, अनामिका, भारती भण्डार, प्रयाग, द्वितीय संस्करण, पृ० १६१ ।
३. महादेवी ने भी भयंकरता से उपेत एक उदात्त बिम्ब की सृष्टि इस प्रकार की है—

मेघ-रूँधा अजिर गीला—
टूटता-सा इन्दु-कन्दुक
रवि झुलसता लोल पीला !

—महादेवी सांध्यगीत, भारती भण्डार, प्रयाग, चतुर्थ संस्करण, पृ० ४७ ।

अप्रतिहत गरज रहा पीछे अम्बुधि विशाल;
भूधर ज्यों ध्यान-मग्न; केवल जलती मशाल।[1]

इस प्रसंग में यह विचारणीय है कि छायावादी कविता में कुछ ऐसे उदात्त बिम्ब भी मिलते हैं, जिनमें विशालता के साथ मसृणता है और भयंकरता की अनिवार्य स्वीकृति नहीं है। उदाहरणार्थ, **महादेवी** का यह बिम्ब-विधान देखा जा सकता है—

अवनि-अम्बर की रुपहली सीप में
तरल मोती-सा जलधि जब काँपता;
तैरते घन मृदुल हिम के पुञ्ज-से
ज्योत्स्ना के रजत पारावार में।[2]

स्पष्ट है कि इस उदात्त बिम्ब में विशालता के साथ मसृणता का समावेश है, भयंकरता का मिश्रण नहीं। यहाँ धरती और आकाश की रुपहली सीप के दो सम्पुटों में सागर का तरल मोती की तरह स्पन्दित होना या अँजोरी रात के 'रजत पारावार' में घन-खण्डों का नीहारिका की तरह तैरना कितना विशाल, किन्तु, मसृण बिम्ब-विधान है। शायद, विशालता के साथ मसृणता (भयंकरता के बदले) के मिश्रण से उदात्त बिम्बों का विधान छायावादी कवियों की कोमल प्रकृति के अधिक अनुकूल पड़ता है।

ऐन्द्रिय सम्मूर्त्तन के धरातल को छोड़कर छायावादी कविता में जिन कलात्मक बिम्बों का निर्माण हुआ है, उनमें कल्पनाश्रयी तिर्यक् बिम्ब-विधान का उल्लेखनीय स्थान है। छायावादी कवियों ने कुछ स्थलों पर भाव और वस्तु के बीच ऋजु अथवा प्रलम्बित संबंध न रखकर तिर्यक् संयोजन उपस्थित किया है। ऐसे चित्र-वृत्तों में प्रायः, इनकी कल्पना का व्यास दीर्घ रहा है। अतः भाव और वस्तु की पारस्परिक दूरी के कारण इस कोटि के बिम्बों में 'परोक्ष संकेत' के निर्वाह की सहजता रहती है। दूसरी ओर, आबर्त्तक काल्पनिक प्रेक्षणों से सृष्ट होने के कारण हमें इस प्रकार के बिम्ब-विधान में 'अनुभूत्ति के साथ कल्पना का अनुचित हस्तक्षेप' मिलता है। **महादेवी** की कविताओं में ऐसे बिम्ब-विधान का अधिक प्रयोग हुआ है। जैसे—

पिक की मधुमय वंशी बोली,
नाच उठी सुन अलिनी भोली;
अरुण सजल पाटल बरसाता
तुम पर मृदु पराग की रोली

---

१. निराला, अनामिका, भारती भण्डार, प्रयाग, द्वितीय संस्करण, पृ० १५०।
२. महादेवी, रश्मि, साहित्य भवन, प्रयाग, तृतीय संस्करण, पृ० १५-१६।

मृदुल अंक घर, दर्पण-सा सर, आँज रही निशि दृग-इन्दीवर ।[1]

यह बिम्ब-विधान पाहुन के मनुहार में प्रस्तुत किया गया है । यह बिम्ब पहली नजर में बहुत रमणीय मालूम पड़ता है, क्योंकि यहाँ पिक की वंशी का स्वर सुनकर भोली अलिनी नाच उठी है । इतना ही नहीं, यहाँ तम पर पराग की मृदुल रोली बरसने लगी है और रजनी के इन्दीवर से दृग अंजित भी हो गये हैं । किन्तु, तत्त्वत: यहाँ भावाभिव्यंजन और वस्तु-चित्रण की एकतानता का अभाव है । पन्त ने भी बाद की कविताओं में (अरविन्द-दर्शन से प्रभावित होने के उपरान्त) सूक्ष्मविभु सौंदर्य की अनुभूति को व्यक्त करने के लिये कल्पनाश्रयी तिर्यक् बिम्ब-विधान का सहारा लिया है । उदाहरण के लिये—

किरणों के वृन्तों पर खिलते
भावों के सतरँग स्वप्नोत्पल,
मनोलहरियों पर बिंबित, कर
रक्त पीत सित नील ज्योतिदल ।
नामहीन सौरभ में मज्जित
हो उठता उच्छ्वसित दिगंचल ।
रहस गुंजरण में लय होता
शब्दहीन तन्मय अन्तस्तल ।[2]

यहाँ आवर्त्तक काल्पनिक प्रेक्षणों के द्वारा बिम्ब-यष्टि निर्मित हुई है । 'भावों का सतरंग स्वप्नोत्पल किरण के वृन्तों पर खिलता है'······अर्थात् यहाँ एक कल्पना के बाद दूसरी कल्पना और दूसरी के बाद तीसरी कल्पना—एवं-प्रकारेण चक्र क्रम से आगे बढ़कर वस्तुसपृक्त आधार से काफी दूर रहने वाले बिम्बों का वृत्त पूर्ण करती है । इस प्रकार कल्पनाश्रयी तिर्यक् बिम्ब-विधान अनुभूति-स्तोक होने के साथ ही अपेक्षित वस्तुसंपृक्त आधार से दूर रहा करता है । निराला के काव्य में भी कुछ स्थलों पर ऐसे बिम्ब-विधान का उपयोग मिलता है । जैसे, इन्होंने निम्नलिखित कविता में कली, हार (माला), हृदय के तारों के स्पन्दन और गीतों की अधिकता को व्यक्त करने के लिये, आतिशय्य-बोध के लिये, कल्पनाश्रयी तिर्यक् बिम्ब का सहारा लिया है—

बादल छाये,
ये मेरे अपने सपने
आँखों से निकले, मडलाये ।

---

१. महादेवी, आधुनिक कवि, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, चतुर्थ संस्करण, पृ० ४६ ।
२. पन्त, अतिमा, भारती भण्डार, प्रयाग, प्रथम संस्करण, पृ० १२ ।

बूँदें जितनी
चुनी अधखिली कलियाँ उतनी;
बूँदों की लड़ियों के इतने
हार तुम्हें मैंने पहनाये।
गरजे सावन के घन घिर-घिर,
नाचे मोर वनों में फिर-फिर
जितनी बार
चढ़े मेरे भी तार
छन्द से तरह तरह तिर,
तुम्हें सुनाने को मैंने भी
नहीं कहीं कम गाने गाये।[1]

इन कलात्मक बिम्बों की श्रेणी में छायावादी बिम्ब-विधान का एक और प्रकार है, जिसे हम किसी उपयुक्त शब्द के अभाव में (संगीतशास्त्र का सहारा लेकर) परमेल-प्रवेशक बिम्ब-विधान कह सकते हैं। इसका प्रयोग एक अनुभूति खण्ड या भाव-दशा को छोड़कर दूसरे अनुभूति-खण्ड या भाव-दशा को ग्रहण करते समय (क्योंकि दूसरी भाव-दशा या अनुभूति को ग्रहण करते समय उसीके अनुरूप चित्र-पट भी बदलना चाहिये) उसी तरह किया जाता है, जिस तरह शास्त्रीय संगीत का पटु गायक एक थाट के रागों से अपर थाट के रागों में प्रवेश करते समय परमेल प्रवेशक राग गाता है। अर्थात्, इस बिम्ब-विधान की आवश्यकता, मुख्यतः, इसलिये होती है कि परिवर्त्तित चित्रों के सहारे कवि एक भाव-दशा को छोड़कर ('मूड' के बदलते ही) हठात् प्रस्तावित नवीन भाव-दशा को सहज रम्य, ग्राह्य एवं रसात्मक बना देता है। **महादेवी** की कविताओं में इसका सर्वाधिक प्रयोग मिलता है, क्योंकि इनकी अधिकांश कवितायें बिम्बों की शृंखला पर अवलम्बित रहती हैं। उदाहरण के लिये, इनकी 'कौन है?' शीर्षक कविता[2] के प्रारम्भ में वेदना-बिद्ध दशा को (कुमुद-दल से वेदना के दाग को, पोंछतीं जब आँसुओं से रश्मियाँ) संध्या के द्वारा और अन्त में आह्लाद की मनोदशा को (रश्मियों की कनक-धारा में नहा, मुकुल हँसते मोतियों का अर्घ्य दे) प्रभात के द्वारा दिखलाया गया है, किन्तु, इन दशा-द्वय के अनुरूप ही दोनों चित्रों (संध्या और प्रभात) के बीच मध्यम कड़ी के रूप में ज्योत्स्ना-स्नात रात्रि का उदात्त बिम्ब प्रस्तुत कर दिया गया है। इसे हम बिम्ब-विधान की चित्रोद्घात शैली भी कह सकते है।

---

१. निराला, अणिमा, युगमन्दिर, उन्नाव, १९४३, पृ० १०।
२. महादेवी, रश्मि, साहित्य भवन, प्रयाग, तृतीय संस्करण, पृ० १५-१६।

बारीक सौन्दर्य-चेतना और विकसित कला-बोध के कारण छायावादी कविता में काव्येतर कलाओं से गृहीत शब्दावली के द्वारा निर्मित बिम्बों के भी अनेकत्र प्रयोग मिलते हैं। उदाहरण के लिये, **महादेवी** ने संगीत कला से ली गई शब्दावली (जैसे—तार, स्वर-ग्राम, लय, रागिनी, इत्यादि) की सहायता से निम्नलिखित कलात्मक बिम्बों का निर्माण किया है—

आज **तार** मिला चुकी हूँ।
सुमन में संकेत-लिपि,
चंचल विहग **स्वर-ग्राम** जिसके,
वात उठता किरण के
निर्झर झुके, **लय**-भार जिसके,
वह अनामा **रागिनी** अब सांस में ठहरा चुकी हूँ।[1]

अथवा

मेरी सांस में **आरोह**,
उर **अवरोह** का संचार,
प्राणों में रही घिर घूमती चिर **मूर्च्छना सुकुमार।**
चितवन-ज्वलित **दीपक-गान**
दृग में सजल **मेघ-मलार,**
अभिनव मधुर उज्ज्वल स्वप्न शत-शत **राग** के शृंगार।
सम हर निमिष, प्रति पग **ताल,**
जीवन अमर **स्वर-विस्तार**
मिटती लहरियों ने रच दिये कितने अमिट संसार ![2]

यहाँ काव्येतर कला (अर्थात् संगीत कला) की शब्दावली के सहयोग से निर्मित होने के कारण उपरि-उद्धृत बिम्ब निश्चय ही हृदयावर्जक बन गये हैं।

छायावादी कवियों के बीच **महादेवी** का बिम्ब-विधान कई दृष्टियों से विचारणीय है। चित्रकला में नैपुण्य, मूर्त्तिकला से प्रगाढ़ प्रेम[3] और सूक्ष्म

---

१. महादेवी, दीपशिखा, भारती भण्डार, प्रयाग, चतुर्थ संस्करण, पृ० ७६।

२. उपरिवत्, पृ० १३८।

३. "व्यक्तिगत रूप से मुझे मूर्त्तिकला विशेष आकर्षित करती है, क्योंकि उसमें कलाकार के अन्तर्जगत का वैभव ही नहीं, बाह्य आभास भी अपेक्षित रहता है।...(इस प्रकार) कुछ अजन्ता के चित्रों पर विशेष अनुराग के कारण और कुछ मूर्तिकला के आकर्षण से चित्रों में यत्र तत्र मूर्त्ति की छाया आ गई है। यह गुण है या दोष, यह तो मैं नहीं बता सकती, पर इस चित्र-मूर्त्ति-सम्मिश्रण ने मेरे गीत को भार से नहीं दबा डाला है, ऐसा मेरा विश्वास है।"

—महादेवी, दीपशिखा, भारती भण्डार, प्रयाग, चतुर्थ संस्करण, भूमिका, पृ० २२।

भावनाओं की गीतात्मक अभिव्यक्ति में रुचि रखने के कारण महादेवी के बिम्ब-विधान में कुछ ऐसी विशेषताओं (या गुण-दोषों) का समावेश हो गया है, जो अन्य छायावादी कवियों के बिम्ब-विधान पर भी प्रकारान्तर से प्रकाश डालती हैं। बात यह है कि **महादेवी** के चित्र-मोह ने इनकी कविताओं में बिम्बों की प्रचुरता का रूप धारण कर लिया है। प्रत्येक अभिव्यक्ति को बिम्बों के साँचे में ढालकर उपस्थित करना इनके लिये अनिवार्य है। दूसरी ओर इनकी कविताओं में एक भाव-दशा को व्यक्त करने के लिये अनेक बिम्बों का आयोजन मिलता है अथवा एक ही कविता में छोटी-छोटी भाव-दशा के बदलते ही इनके बिम्ब भी तदनुरूप तेजी से बदलने लगते हैं। फलस्वरूप, इनकी अधिकांश कविताओं में विश्रृंखल बिम्ब मिलते हैं। ऐसे बिम्बों में सदृश प्रभावों के सातत्य का अभाव रहता है। उदाहरण के लिये, इनकी प्रसिद्ध कविता—"मैं नीर-भरी दुख की बदली"—ऐसे ही विश्रृंखल बिम्बों से निर्मित है। इस विश्रृंखलता के कारण इनकी कविताओं में प्रयुक्त बिम्ब प्रधान और गौण का संबंध-निर्वाह नहीं कर पाते हैं। किन्तु, उत्कृष्ट बिम्ब-विधान के लिये यह आवश्यक है कि एक कविता अथवा एक गीति में कोई एक बिम्ब प्रधान हो—केन्द्रीय सार्थकता की ओर अनुधावित, जिसे उपचित करने के लिये अन्य बिम्ब गौण बनकर प्रयुक्त हुये हों। इस नियम का उल्लंघन होने पर कवि के बिम्ब-विधान में वह अपेक्षित परिपाक नहीं मिलता, जो किसी बिम्ब को (विलम्बित विभावनशील उपस्थिति के द्वारा) रसानुभूति तक पहुँचाने के लिये आवश्यक हुआ करता है।

इस तथ्य की उपेक्षा के कारण **महादेवी** के बिम्ब-विधान में सुसम्बद्धता या संयोजन-सूत्रता का अभाव अन्य छायावादी कवियों की अपेक्षा अधिक मिलता है। इसलिये इनके अधिकाँश बिम्ब अन्तरावेष्टित शैली[1] में एक-दूसरे से संबद्ध रहते हैं और इनके बिम्ब-विन्यास में दो या दो से अधिक बिम्बों के बीच की मध्यस्थ शृंखला को गुप्त रखकर अग्रिम बिम्बों को संलग्न कर देने की प्रवृत्ति अधिक मिलती है। इन बातों पर गम्भीरतापूर्वक विचार करने से हमें इनके बिम्ब-बिधान में एक प्रकार का चित्रात्मक उत्प्लवन[2] मिलता है। कारण, इनके बिम्ब सुसम्बद्ध और शृंखलित न होकर अलग-अलग वृत्तों में निर्मित होते हैं। फल यह होता है कि पाठकों की भावयित्री वृत्ति को एक बिम्ब से दूसरे बिम्ब तक मण्डूक गति से उछल कर जाना पड़ता है। दूसरी कठिनाई यह है कि प्रत्येक बिम्ब की शक्ति अपने आप में अटूट और पूर्ण रहती है। अतः एक बिम्ब की सार्थकता दूसरे बिम्ब तक निर्झरिणी की तरह प्रवाहित नहीं होती,

---

१. Interlaced style.
२. Pictorial leap.

बल्कि वह मुष्टि-बद्ध या संघनिष्ठ होकर प्लुति के साथ जाती है। बिम्बों की सार्थकता की इस प्लुति के साथ जो 'सहृदय' अपनी ग्राहिका कल्पनाको भी उछाल सकता है, वही **महादेवी** की बिम्ब-संवलित कविता का आस्वादन कर सकता है। इस तरह बिम्बों की अधिकता और विश्रृंखल विविधता के कारण **महादेवी** की कविताओं का अर्थ शब्द निर्भर न रहकर बिम्ब-व्यंग्य होता है। इनका प्रत्येक बिम्ब अपने आप में यथासंभव पूर्ण रहकर कवयित्री के अभीप्सित अर्थ-वृत्त में समाहित होने के लिये निश्चित दिशा की ओर अनुधावन करता है और टेक की पंक्ति में सन्निविष्ट अर्थ का सुदूर समर्थन करता है। उदाहरण के लिये इनकी यह सम्पूर्ण कविता देखी जा सकती है—

मैं नीर भरी दुख की बदली !
...　　...　　...
विस्तृत नभ का कोई कोना,
मेरा न कभी अपना होना,
　　परिचय इतना इतिहास यही
　　उमड़ी कल थी मिट आज चली ![1]

इस कविता में प्रयुक्त बिम्ब अलग-अलग रूप-छवियों में विभक्त रहकर भी एक केन्द्रगत सार्थकता के लिये प्रयत्नशील प्रतीत होते हैं। **महादेवी** के एतादृश बिम्ब-विधान में हमें अभिव्यक्ति-लाघव या कल्पना का 'शॉर्ट हैण्ड' मिलता है तथा ऐसे बिम्ब-विधान से निर्मित इनकी कविताओं के अन्तिम बंद में हमें एक झटके के साथ मूल वक्तव्य का समापन मिलता है।

मेरी दृष्टि में **महादेवी** के बिम्बों में इस विश्रृंखलता या विलगाव का कारण प्रतिभा का दुर्भिक्ष अथवा काव्यानुभूति की सच्चाई का अभाव नहीं है। इसका कारण इनका (बिम्बपर्यवसायी) चित्र-मोह है। इनकी काव्य-कल्पना और चित्र-कल्पना सहचरी हैं, किन्तु, 'समगति' नहीं। जहाँ इनकी काव्य-कल्पना उड़कर मध्य-गगन में बिहार करने लगती है, वहाँ इनकी चित्र-कल्पना किसी क्षितिज के पास धूनी रमाकर बैठी रह जाती है। अतः इनके बिम्बों की विश्रृंखलता का कारण इस उड़ान या दौड़ में पीछे छूट जाने वाली चित्र-कल्पना के प्रति भी अतिशय मोह है। इन्होंने अपनी पगहारी चित्र-कल्पना को संकेतित करते हुये लिखा है—"मेरे गीत और चित्र दोनों के मूल में एक ही भाव का रहना जितना अनिवार्य है, उनकी अभिव्यक्तियों में अन्तर उतना ही स्वाभाविक। गीत में विविध रूप, रंग, भाव, ध्वनि सब एकत्र हैं, पर चित्र में इन सबके लिये स्थान नहीं रहता। उसमें प्रायः रंगों की विविधता और

---

१. महादेवी, सांध्यगीत, भारती भण्डार, प्रयाग, चतुर्थ संस्करण, पृ० ४६।

रेखाओं के बाहुल्य में भी एक ही भाव अंकित हो पाता है। इसी से मेरा चित्र गीत को एक मूर्त्त पीठिका दे सकता है, उसकी सम्पूर्णता बाँध लेने की क्षमता नहीं रखता।"[१] कुछ ऐसी ही दशा इनकी कविताओं में अनुस्यूत इनके भाव-चित्रों की भी है।

इनके बिम्ब-विधान की विविधता, संकुलता या विश्रृंखलता बहुत कुछ **डी० टॉमस** से मिलती-जुलती है। जिस तरह इनके बिम्ब रूप-विविध और तारतम्य-श्लथ होने पर भी कविता की केन्द्रगत सार्थकता का सुदूर समर्थन करते हैं, उसी तरह **डी० टॉमस** के बिम्ब परस्पर पृथुल विविधता रखते हुये भी एक अर्थगत समीकरण लेकर चलते हैं।[२] तथापि **डी० टॉमस** के बिम्ब-विधान की एक विशेषता यह है कि इनके बिम्बों की विविधता और विश्रृंखलता में भी एक वैज्ञानिक नियमानुरूपता या सुनिश्चित सरणि है, क्योंकि इन्होंने बिम्ब-विधान की द्वन्द्वात्मक प्रणाली अपनायी है। अत: इनके बिम्ब उस प्रथित पथ पर विकसित होते हैं, जो वाद, प्रतिवाद और समन्वय को सचेष्ट होकर स्वीकार करता है।[3] किन्तु, **महादेवी** के बिम्ब-विधान में हमें कोई सुनिर्णीत पद्धति नहीं मिलती है। उदाहरण के लिये, इनकी निम्नलिखित कविता के चित्र-विधान को देखा जा सकता है—

पुलक पुलक उर, सिहर सिहर तन,
आज नयन आते क्यों भर भर?
सकुच सलज खिलती शेफाली,
अलस मौलश्री डाली डाली;
शिथिल मधु-पवन, गिन-गिन मधुकण
हरसिंगार झरते हैं झर-झर!
... ...
तुम विद्युत बन, आओ पाहुन!
मेरी पलकों में पग धर-धर![४]

यहाँ कवयित्री ने पाहुन के मनुहार में अनेक खण्ड-चित्रों की सृष्टि की है।

---

१. महादेवी, दीपशिखा, भारती भण्डार, प्रयाग, चतुर्थ संस्करण, 'चिन्तन के कुछ क्षण', पृ० ६१।

. The Tightrope Walkers, Georgio Melchiori, Londo n, p. 213.

३. द्रष्टव्य—Dylan Thomas द्वारा हेनरी ट्रीस को लिखित एक पत्र का अंश—quoted on Page 214, The Tightrope Walkers, Georgio Melchiori, London.

४. महादेवी, आधुनिक कवि, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, चतुर्थ संस्करण, पृ० ४६।

किन्तु, इन प्रकृतिपरक खण्ड-चित्रों में विशृंखलता (ऋतुओं का विच्छिन्न क्रम भी) के दर्शन होते हैं। एक छोटी-सी कविता में कहीं हरसिंगार झरते हैं, कहीं पिक की मधुमय वंशी बजती है और कहीं कजरारे बादलों में बिजली कौंधती है। इस तरह स्पष्ट है कि **महादेवी** के बिम्ब-विधान में अपेक्षित व्यवस्था या संयोजनसूत्रता का उचित निर्वाह नहीं है।

बिम्बों की विशृंखलता का यह दोष **प्रसाद** और **निराला** की गीतियों में भी यदा-कदा पाया जाता है। इस प्रसंग में यह ध्यातव्य है कि कुल मिलाकर **पन्त** और **निराला** के बिम्बों में **प्रसाद** और **महादेवी** के बिम्बों की अपेक्षा ऐन्द्रियता अधिक है। फलस्वरूप, **निराला** और **पन्त** के बिम्बों में अपेक्षाकृत सुस्पष्टता है, साथ ही बिम्बों की योजना में सुसंबद्धता भी। यों कुछ न कुछ अस्पष्टता का विराजमान रहना छायावादी कविता का एक सामान्य गुण है।

इस तरह छायावादी कविता में प्रयुक्त बिम्बों का वर्गीकरण निम्नलिखित रूप में उपस्थित किया जा सकता है—

(क) कलात्मक अभिव्यक्ति-भंगिमा पर निर्भर बिम्ब—जैसे, शब्द-बिम्ब, वर्ण-बिम्ब, व्यंजनाप्रवण सामासिक बिम्ब, असंवेष्टित या प्रसृत बिम्ब, व्यापार-विधायक बिम्ब, विशेषण निर्भर बिम्ब, कल्पनाश्रयी तिर्यक् बिम्ब और परमेल-प्रवेशक बिम्ब।

(ख) काव्येतर कलाओं (वास्तु, मूर्ति, चित्र और संगीतकला) से गृहीत शब्दावली और रम्य बोध के द्वारा निर्मित बिम्ब।

(ग) अमिश्र ऐन्द्रिय बोधों पर निर्भर बिम्ब—चाक्षुष, श्रावण, घ्राणिक, गतिबोधक, इत्यादि। इन्हें हम संलग्न तालिका (संख्या ३) से अच्छी तरह समझ सकते हैं।

(घ) मिश्र ऐन्द्रियबोधों पर निर्भर बिम्ब—जैसे, सहसंवेदनात्मक और वेगोद्भेदक बिम्ब।

(च) उदात्त बिम्ब।

तालिका (संख्या—३)
अमिश्र ऐन्द्रिय बिम्ब
चाक्षुष
श्रावण
घ्राणज
गतिबोधक (या गत्वर)
समानुभूतिक
चतुष्क
अध्याहृत-आयाम
वर्णबोधात्मक
संकेतग्राही
उपकरणमूलक
वर्णसाम्य-निर्भर
वर्ण-व्यतिरेक-निर्भर
संस्मृत
तात्कालिक
क्रियासौष्ठव-निर्भर
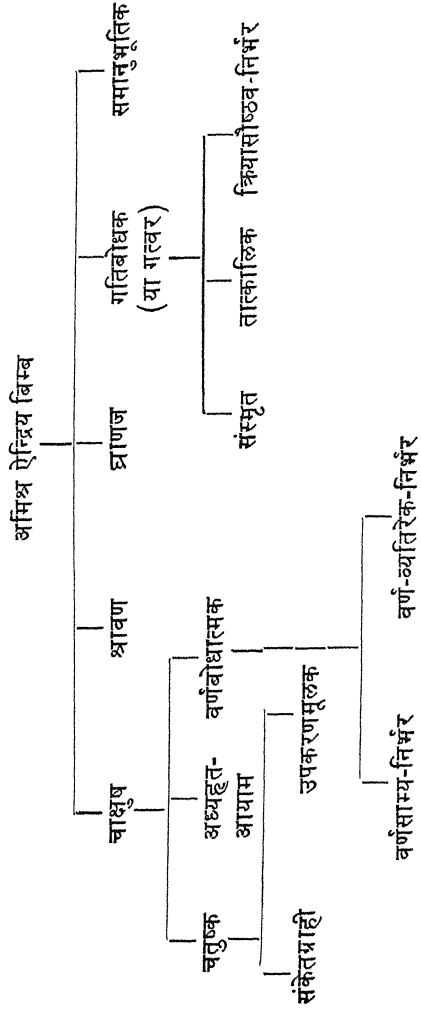
पंचम अध्याय

छायावादी कविता में प्रतीक-विधान

छायावादी कविता में प्रतीक-विधान

प्रतीक सृष्टि मनुष्य की चिन्तन-प्रणाली और क्रिया-व्यापार का एक आवश्यक अंग है। अन्य प्राणियों की तुलना में मनुष्य की कुछ श्रेष्ठ पृथकताओं अर्थात् विशिष्ट गुणों के बीच प्रतीक-सृजन की क्षमता प्रमुख है। उसमें भी कवि एवं कलाकारों का प्रतीक-सृजन के साथ संबंध सामान्य जनों की अपेक्षा अधिक घनिष्ठ होता है, क्योंकि कविगण स्वानुभूति के जिन अंशों को सामान्य अभिव्यक्ति के प्रचलित साँचों में नहीं ढाल पाते हैं, उन अंशों की व्यंजना या अभिव्यक्ति के लिए उन्हें प्रतीकों का सहारा लेना पड़ता है। इस तरह काव्य-जगत् में अनुभूति के अकथनीय अंशों को प्रतीक-विधान के द्वारा कथनीय और प्रेषणीय बनाया जाता है। अत: कविता में सूक्ष्म सौन्दर्य या उसकी अनुभूति को व्यक्त करने में प्रतीकों का अवतरण अनिवार्य है। इस दृष्टि से सूक्ष्म सौन्दर्य पर मुग्ध छायावादी कविता को भी प्रतीकों का सहारा लेना पड़ा है, क्योंकि प्रतीकों के बिना सूक्ष्म सौन्दर्य की अभिव्यक्ति असंभव है।[१] दूसरी बात यह है कि इन प्रतीकों में एक ही साथ गोपन और प्रकाशन की क्षमता रहती है, क्योंकि काव्य-जगत् के प्रतीकों का लक्ष्य कभी भी अभिप्रेत वस्तु को ज्यों का त्यों रखना अथवा पुन:

---

१. छायावादी कविता में प्राप्त भावों की सूक्ष्मता और प्रतीकात्मकता पर विचार करते हुए श्री मुकुटधर पाण्डेय ने लिखा है—"छायावाद एक ऐसी मायामय सूक्ष्म वस्तु है कि शब्दों द्वारा उसका ठीक-ठीक वर्णन करना असम्भव है। उसका एक मोटा लक्षण यह है कि उसमें शब्द और अर्थ का सामंजस्य बहुत कम रहता है। कहीं-कहीं तो इन दोनों का परस्पर कुछ भी सम्बन्ध नहीं रहता। लिखा कुछ और ही गया है; पर मतलब उसका कुछ और ही निकलता है। किन्तु, पाठक इस शब्द-अर्थ के विरोध को देख कर अलंकारशास्त्र के रूपक अथवा व्यंग का विभ्रम न होने दें। इसमें ऐसा कुछ जादू भरा है कि प्रत्येक पाठक अपनी रुचि और समझ के अनुसार इससे भिन्न-भिन्न अर्थ निकाल सकता है और भिन्न-भिन्न रीति से, परन्तु समान भाव से, उसका आनन्द अनुभव कर सकता है। कवि का अभिप्राय उसके लिखने से चाहे जो रहा हो, इससे पाठकों का सम्बन्ध कुछ भी नहीं। अतएव यदि यह कहा जाय कि ऐसी रचनाओं में शब्द अपने स्वाभाविक मूल्य को खोकर सांकेतिक चिह्न मात्र रहा करते हैं तो कोई अत्युक्ति नहीं होगी।"

—श्रीशारदा, जबलपुर, वर्ष १, खण्ड १, संख्या ६, पृ० ३४१।

कवि काव्य-निबद्ध भावों को मूर्त्तता और वस्तुमत्ता प्रदान करता है। इस मान्यता को उपस्थित करते हुए इन्होंने लिखा है—"सौन्दर्य-बोध बिना रूप के हो ही नहीं सकता। सौन्दर्य की अनुभूति के साथ ही साथ हम अपने संवेदन को आकार देने के लिए, उनका प्रतीक बनाने के लिए बाध्य हैं।"[१] प्रतीक-विधान के संबंध में इनकी तीसरी मान्यता अतिशय दार्शनिक आग्रह के कारण कुछ उलझी हुई है। इन्होंने प्रतीक-विधान के तीन प्रकारों का निरूपण करते हुए लिखा है—"स्व को कलन करने का उपयोग, आत्म-अनुभूति की व्यंजना में प्रतिभा के द्वारा तीन प्रकार से किया है—अनुकूल, प्रतिकूल और अद्‌भुत। ये तीन प्रकार के प्रतीक-विधान काव्य-जगत् में दिखाई पड़ते हैं। अनुकूल अर्थात् ऐसा हो। यह आत्मा के विज्ञात अंश का गुणनफल है। प्रतिकूल, अर्थात् ऐसा नहीं। यह आत्मा के अविज्ञात अंश की सत्ता का ज्ञान न होने के कारण हृदय के समीप नहीं। अद्‌भुत—आत्मा का विजिज्ञास्य रूप, जिसे हम पूरी तरह समझ नहीं सके हैं कि वह अनुकूल है या प्रतिकूल। इन तीन प्रकार के प्रतीक-विधानों में आदर्शवाद, यथातथ्यवाद और व्यक्तिवाद इत्यादि साहित्यिक वादों के मूल सन्निहित हैं।"[२] स्पष्ट है कि प्रतीक-विधान के ये निर्धारित प्रकार दार्शनिकता के आग्रह से इस तरह आक्रान्त हैं कि अस्पष्ट रह गये हैं। तदनन्तर, **पन्त** ने प्रतीकों का संबंध मानव-चेतना के विकास के साथ स्वीकार किया है। इन्होंने 'कला का प्रयोजन' शीर्षक निबन्ध में लिखा है कि "हमारा मन जिस प्रकार विचारों के सहारे आगे बढ़ता है, उसी प्रकार मानव-चेतना प्रतीकों के सहारे विकसित होती है। हमारे राम और कृष्ण भी इसी प्रकार के प्रतीक हैं, जिनके व्यक्तित्व में एक युग की संस्कृति मूर्तिमान हो उठी है।"[३] प्रतीकों के संबंध में इनकी एक मान्यता **प्रसाद** की उपरिविवेचित दूसरी मान्यता से पूर्णतः साम्य रखती है। इन्होंने **'वाणी'** शीर्षक कविता में अपने प्रतीक-सिद्धान्त को उपस्थित करते हुए लिखा है कि प्रतीक 'अव्यक्त' को व्यक्त करने का साधन है—

> जो अव्यक्त रहा अन्तर में,
> मुक्त, अगीत रहा ध्वनि स्वर में,
> उसे प्रतीकों ही में बिम्बित
> रहने दो, रहने दो।[४]

---

१. प्रसाद, काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध, भारती भण्डार, प्रयाग, चतुर्थ संस्करण, पृ० ३५।

२. उपरिवत्, पृ० ४३।

३. पन्त, गद्यपथ, साहित्य भवन, इलाहाबाद, १९५३, पृ० १४५।

४. पन्त, वाणी, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, १९५८, पृ० ४१।

छायावादी कवियों के बीच **डॉ० रामकुमार वर्मा** ने प्रतीकों पर किंचित् विस्तार से विचार किया है। इन्होंने प्रतीक के व्यपदेश और व्यावर्त्तक गुण-वैशिष्ट्य को निर्दिष्ट करते हुए लिखा है—"एक शब्द में ही अनेकानेक भावों की अभिव्यक्ति प्रतीक का निर्माण करती है। 'अरुण शिखा-ध्वनि' प्रभात के लिए प्रतीक बन गई है अथवा 'अशोक' पुष्प जहाँ ऋतु-सूचक है, वहाँ मुग्धा के पदाघात की व्यंजना में भी सार्थक हुआ है। प्रतीक का सम्बन्ध शब्द-शक्ति की ध्वनि-शैली से है। अतः साहित्य में अर्थ की बिपुलता के लिए प्रतीक सदैव प्रयुक्त होगा। जिस प्रकार मधु का एक बिन्दु सहस्रों पुष्पों की सुगन्धी एवं मकरन्द का संश्लिष्ट रूप है, उसी भाँति एक प्रतीक अनेकानेक मानव-जगत् और वस्तु-जगत् के कार्य-व्यापारों का संकलन है। अतः साहित्य के इतिहास में मन्त्र से लेकर आत्म-बोध की अनेकानेक भावनायें इसी प्रतीक द्वारा उद्बुद्ध हुई हैं। प्रतीक व्यष्टि में समष्टि का संपोषण है।"[1] इस तरह **डॉ० वर्मा** ने प्रतीक के सम्बन्ध में जो मुख्य बातें कही हैं, वे निम्नलिखित हैं :—

(क) प्रतीक के द्वारा एक से अधिक भावों की अभिव्यक्ति की जाती है।

(ख) अर्थ-प्रेषण की दृष्टि से प्रतीक का सम्वन्ध शब्द-शक्ति की ध्वनि-शैली से है।

(ग) अर्थगत और व्यापारगत संश्लेषणशीलता के कारण प्रतीक 'एक' में 'अनेक' का संपोषण करता है।

डॉ० वर्मा ने प्रतीकों के प्रति अपनी सैद्धान्तिक धारणा को कबीर के रहस्यवाद की विवेचना के क्रम में भी व्यक्त किया है।[2] किन्तु, ऊपर के उद्धरणों से यह स्पष्ट है कि स्वयं छायावादी कवियों के द्वारा प्रतीकों पर व्यक्त विचार इतने पर्याप्त नहीं हैं कि उनकी धारणाओं के आलोक में प्रतीक-विधान से सम्बद्ध किसी विशिष्ट सिद्धान्त का निरूपण किया जा सके।

छायावादी कवियों के द्वारा प्रतीक-विधान पर व्यक्त विचारों की इस अपर्याप्तता का एक कुफल यह हुआ है कि छायावादी कविता के प्रतीक-विधान पर विचार करने वाले अधिकांश आलोचकों ने प्रायः सभी अप्रस्तुतों को प्रतीक मान लिया है। अतः अब तक छायावादी कविता के प्रतीकों के नाम पर उसके अप्रस्तुतों या उपमानों का अध्ययन होता आया है। **आचार्य शुक्ल** ने बहुत पहले ही प्रतीकों और उपमानों के अन्तर को स्पष्ट करते हुए लिखा था—"प्रतीक

---

१. डॉ० रामकुमार वर्मा, साहित्यशास्त्र, भारतीय विद्या-भवन, इलाहाबाद, १९५६, पृ० ११८।

२. डॉ० रामकुमार वर्मा, कबीर का रहस्यवाद, साहित्य भवन, इलाहाबाद, सातवाँ संस्करण, १९५१, पृ० ७०-८६।

का आधार सादृश्य या साधर्म्य नहीं, बल्कि भावना जाग्रत करने की निहित शक्ति है। पर अलंकार में उपमान का आधार सादृश्य या साधर्म्य ही माना जाता है। अतः सब उपमान प्रतीक नहीं होते, पर जो प्रतीक होते हैं, वे काव्य की बहुत अच्छी सिद्धि करते हैं।"[1] किन्तु, शुक्लजी के अधिकांश परवर्ती आलोचकों ने इस पार्थक्य पर अच्छी तरह ध्यान नहीं दिया। फल यह हुआ कि उन्होंने प्रतीक-विधान को अप्रस्तुत-योजना या अलंकार-प्रणाली से मिला-जुलाकर उसके स्वरूप को अस्पष्ट कर दिया। अलंकार-प्रणाली में उपमा, रूपक, रूपकातिशयोक्ति तथा अन्योक्ति का प्रतीकों के साथ कुछ ऐसा सादृश्य है कि अब तक उपर्युक्त भ्रम का निरन्तर आवर्त्तन होता रहा है। किन्तु, ध्यान से विचार करने पर इन सबों का पारस्परिक अन्तर बहुत ही स्पष्ट प्रतीत होता है। उपमा और रूपक में प्रस्तुत तथा अप्रस्तुत—दोनों ही किसी न किसी रूप में अवश्य विद्यमान रहते हैं, जबकि प्रतीक में केवल अप्रस्तुत इस तरह उपस्थित रहता है कि उससे प्रस्तुत का भी प्रच्छन्न बोध हो जाता है। प्रस्तुत-अप्रस्तुत की दृष्टि से प्रतीक और रूपकातिशयोक्ति के अन्तर को समझने में थोड़ी कठिनाई अवश्य होती है, क्योंकि रूपकातिशयोक्ति में भी प्रतीक की भाँति प्रस्तुत का कथन नहीं रहता है। किन्तु, विश्लेषण करने पर दोनों में यह अन्तर दीख पड़ता है कि रूपकातिशयोक्ति में अप्रस्तुत के कथनमात्र से ही निगीर्ण प्रस्तुत का बोध साधर्म्य, कवि-प्रौढ़ोक्ति एवं रूढ़ अर्थ के कारण हो जाता है। यह प्रस्तुत-बोध मुख्यतः आकार अथवा गुण के स्थूल साम्य पर निर्भर रहता है, जब कि प्रतीक-विधान में प्रस्तुत-अप्रस्तुत के बीच कोई ऐसा स्थूल साम्य, रूढ़ अर्थ अथवा कवि-प्रौढ़ोक्ति का समावेश नहीं रहता है। इसमें (प्रतीक-विधान में) प्रस्तुत-अप्रस्तुत का साम्य, अधिकतर प्रभाव-साम्य, बहुत ही सूक्ष्म, भाव-व्यंजक एवं संकेतात्मक होता है। तदनन्तर, रूपक-काव्य और प्रतीक के अन्तर पर भी विचार कर लेना आवश्यक है। रूपक-काव्य का वैशिष्ट्य पूरी कथा पर आश्रित रहता है और उसमें प्रस्तुत तथा प्रतीयान—दोनों अर्थों का समान महत्त्व होता है। किन्तु, प्रतीक में प्रस्तुत नगण्य है। फिर भी रूपक-काव्य प्रायः प्रतीकों का सहारा लेकर सफल होता है। **'पद्मावत'** और **'कामायनी'** इसके सफल उदाहरण हैं। इन दोनों कृतियों में हम प्रतीक और रूपक-काव्य के बीच अंग और अंगी का सम्बन्ध पाते हैं। यहाँ यह स्मरणीय है कि रूपक-काव्य में प्रयुक्त प्रतीकों की अपेक्षा स्वतन्त्र प्रतीक अधिक प्रभावपूर्ण, व्यंजक और कलात्मक होते हैं। कुल मिलाकर प्रतीक और उपरिलिखित अलंकारों में मुख्य भेद यह हुआ कि अलंकारों का आधार प्रतीक की अपेक्षा

---

१. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, चिन्तामणि, भाग २, पृ० १२१।

अधिक स्थूल एवं चाक्षुष हुआ करता है। दूसरी बात यह है कि प्रतीक में अलंकारों की अपेक्षा अधिक अर्थगर्भत्व रहता है। इस तरह अर्थवत्ता, आकर्षण, प्रभाव एवं कलात्मक बोध की दृष्टि से प्रतीक अलंकारों की तुलना में श्रेष्ठ सिद्ध होते हैं। आशय यह है कि अबतक छायावादी कविता के विवेचन-विश्लेषण में आलोचकों अथवा शोध-कर्त्ताओं ने[1] प्रतीक-विधान के नाम पर (अलंकार-प्रणाली को ध्यान में रखते हुये) प्रतीकोपम अप्रस्तुत या प्रतीक-स्वरूप उपमानों का अध्ययन किया है। सच पूछा जाय तो एकदम सुनिर्णीत अर्थ में, जिसकी वकालत डॉ० एच० लारेन्स ने की है,[2] प्रतीकों का प्रयोग छायावादी कविता में कम ही हो सका है।

प्रसाद ने अपनी कविताओं में दार्शनिक प्रतिपादन के क्रम में प्रतीकात्मक भाव-प्रकाशन की शैली का अधिक प्रयोग किया है। सामान्यत: इनके प्रतीकों में मनोदशा की व्यंजकता[3] पर्याप्त मात्रा में रहती है और इनके अधिकांश प्रतीक-स्वरूप उपमान प्रकृति के विशाल क्षेत्र से गृहीत हैं। इन्होंने भाव और शिल्पगत चारुता के विधान के लिये **'कामायनी'** में भी अनेक स्थलों पर प्रकृति-क्षेत्र से गृहीत प्रतीक-स्वरूप उपमानों का प्रयोग किया है। जैसे, निम्नांकित पंक्तियों में यौवन के लिये 'वसन्त' और वय:संधि के लिये 'रजनी' के 'पिछले प्रहर' की योजना की गई है—

मधुमय बसन्त जीवन-वन के
बह अन्तरिक्ष की लहरों में

---

१. उदाहरणार्थ, डा० नित्यानन्द शर्मा ने अपने शोध-प्रबन्ध में इस बात पर बहुत बल दिया है कि 'छायावाद की प्रमुख विशेषताओं में से उसकी एक विशेषता प्रतीक-शैली भी है।' अतः इनका निष्कर्ष है कि छायावादी काव्य में प्रतीक-विधान की प्रचुरता है। किन्तु, इन्होंने भी प्रतीकों के नाम पर छायावादी कविता के अप्रस्तुतों और उपमानों का ही अधिकतर सोदाहरण विवेचन-विश्लेषण किया है।—द्रष्टव्य : श्री नित्यानन्द शर्मा, आधुनिक हिन्दी काव्य में प्रतीक-विधान, आगरा विश्वविद्यालय की पी-एच० डी० की उपाधि के लिए स्वीकृत शोध-प्रबन्ध।

२. D. H. Lawrence, Literary Symbolism, edited by Maurice Beebe, San Francisco, 1960, p. 32.

३. "प्रतीकों में मनोभावों का प्रवेश प्रसाद की प्रमुख विशेषता है। अतः उनके प्रतीक केवल बाह्य स्थूल वर्णन के लिये ही नहीं हैं, वे अन्तरतम की मनोदशा पर प्रकाश डालते हैं।"—डॉ० प्रेमशंकर, प्रसाद का काव्य, भारती भण्डार, इलाहाबाद, संवत् २०१२ विक्रम, पृ० १८८।

कब आये थे तुम चुपके से
रजनी के पिछले पहरों में।[1]

किन्तु, इन प्रतीक-स्वरूप उपमानों के अलावा **'कामायनी'** में कई विशुद्ध प्रतीक प्रयुक्त हुये हैं, क्योंकि सम्पूर्ण **'कामायनी'** की कथा में प्रस्तुतार्थ के साथ ही किसी सैद्धान्तिक अप्रस्तुतार्थ की अन्तर्धारा विद्यमान है। इस प्रसंग में **'कामायनी'** के पात्रों का प्रतीकमय सांकेतिक व्यक्तित्व विशेष ध्यातव्य है। एक ओर मनु मनोमय कोश में स्थित जीव का प्रतीक हैं, तो दूसरी ओर काम और लज्जा जैसे अशरीरी पात्र हैं, जिनकी सांकेतिकता असंदिग्ध है। इसी तरह श्रद्धा हृदय का प्रतीक है—'हृदय की अनुकृति बाह्य उदार' और इड़ा बुद्धि का प्रतीक है, जिसकी प्रतीकात्मकता इससे ध्वनित होती है—'बिखरी अलकें ज्यों तर्क-जाल'। तदनन्तर, श्रद्धा और मनु का पुत्र 'नव मानव' का प्रतीक है और असुर पुरोहित किलाताकुलि आसुरी वृत्तियों के प्रतीक हैं। इनके अतिरिक्त देव, श्रद्धा का पशु, वृषभ तथा सोमलता निश्चितरूपेण प्रतीकात्मक हैं और गहरा सांकेतिक अर्थ रखते हैं। देवगण इन्द्रियों के प्रतीक हैं, वृषभ धर्म का प्रतीक है और सोमलता में भोग की सांकेतिक प्रतीकात्मकता है।[2] तदनन्तर, जल-प्लावन उस मानव-चेतना के अन्नमय कोश में ही निमग्न होने या डूब जाने का प्रतीक है, जो निरन्तर विषय-वासना में रमे रहने से विज्ञानमय कोश और आनन्दमय कोश की ओर उन्मुख होने में असमर्थ है। इसके बाद त्रिलोक (भाव-लोक, कर्म-लोक तथा ज्ञान-लोक की तद्सम्बन्धित) तीन प्रधान वृत्तियों—भाव-वृत्ति, कर्म-वृत्ति और ज्ञान-वृत्ति के प्रतीक हैं। अन्त में, मानसरोवर समरसता की अवस्था का प्रतीक है। यह मानसरोवर

---

१. प्रसाद, कामायनी, भारती भण्डार, प्रयाग, सप्तम संस्करण, पृ० ६३।

२. था सोमलता से आवृत
वृष धवल धर्म का प्रतिनिधि,
घंटा बजता तालों में
उसकी थी मन्थर गतिविधि।
अथवा
तब वृषभ सोमवाही भी
अपनी घंटा ध्वनि करता,
बढ़ चला इड़ा के पीछे
मानव भी था डग भरता।
—प्रसाद, कामायनी, भारती भंडार, प्रयाग, अष्टम संस्करण, पृ० (क्रमशः) २७७ और २८६।

कैलास शिखर पर, जो आनन्दमय कोश का प्रतीक है, अवस्थित है। कथा-कलन में गुम्फित इन प्रमुख प्रतीकों के अलावा **'कामायनी'** में कई प्रतीक प्रसंगानुसार प्रयुक्त हुये हैं। जैसे, 'रहस्य' सर्ग में प्रयुक्त त्रिकोण, शृंग और डमरू[1] इस दृष्टि से विचारणीय हैं। ये तीनों साम्प्रदायिक प्रतीक हैं और इनका गहन संबंध शैव दर्शन के साथ है।

इसी तरह **प्रसाद** की कवितायें प्रकृति-जगत् से गृहीत उन प्रतीकों से भी भरी-पड़ी हैं, जिन्हें मैं प्रतीक-स्वरूप उपमान कहना अधिक युक्तिसंगत समझता हूँ। ऐसे उपमानों की योजना में इन्होंने प्रकृति के उपकरणों को ही व्यंजना-गर्भ बनाकर प्रतीकों की तरह प्रयुक्त कर दिया है। जैसे—

झंझा झकोर गर्जन था
बिजली थी, नीरद माला
पाकर इस शून्य हृदय को
सबने आ डेरा डाला।[2]

यहाँ तीव्र भावों की उमड़-घुमड़ के लिए 'झंझा झकोर गर्जन' का, दर्द की तीव्र उठान के लिए 'बिजली' का, उदासी के आलम के लिये 'नीरद माला' का और सूने आकाश के लिये 'शून्य हृदय' का प्रतीक-स्वरूप अप्रस्तुत-विधान किया गया है। इसी प्रकार निम्नलिखित पंक्तियों के प्रतीक-स्वरूप उपमान भी प्रकृति-जगत् से लिये गये हैं, जिनमें लक्षक पदों का प्रयोग खुलकर किया गया है—

उठ उठ री लघु-लघु लोल लहर !
करुणा की नव अँगराई-सी
मलयानिल की परछाई-सी,
इस सूखे तट पर छिटक छहर।
... ...
तू भूल न री पंकज-वन में,
जीवन के इस सूनेपन में,
ओ प्यार पुलक से भरी ढुलक !
आ चूम पुलिन के बिरस अधर।[3]

---

१. शक्ति तरंग प्रलय पावक का
उस त्रिकोण में निखर उठा-सा,
शृंग और डमरू निनाद बस
सकल विश्व में बिखर उठा-सा।
—प्रसाद, कामायनी, भारती भण्डार, प्रयाग, अष्टम संस्करण, पृ० २७३।

२. प्रसाद, आँसू, भारती भण्डार, प्रयाग, नवम संस्करण, पृ० १५।

३. प्रसाद, लहर, भारती भण्डार, प्रयाग, पंचम संस्करण, पृ० ६।

यहाँ लहर, तट और पंकज-वन प्रतीकवत् प्रयुक्त हैं। सरस और कोमल भावनाओं के लिये लहर को, शुष्क जीवन के लिये सूखे तट या पुलिन को और आपातरमणीय प्रलोभन या बाधाओं के लिये पंकज-वन को प्रतीक-स्वरूप उपमान बनाकर योजित किया गया है। **प्रसाद** की कविताओं में प्रयुक्त कुछ प्रतीक-स्वरूप उपमान ये हैं—मेघ-खण्ड, विधु, हिमालय, हिमशैल-बालिका, सौरभ, सागर, सरोवर, संगीत, शिशर, शलभ, वीणा के तार, विहग, बसन्त, वर्षा, रश्मि, यूथी, मोती, मुरली, मुकुल, माझी, मल्लिका, मलयानिल, मधुकर, मधु, मणि, मकरन्द, भ्रमर, बिजली, प्रभात, पुतली, पथिक, पतवार, पतझर, नीरदमाला, निर्झर, नलिनी, नक्षत्र, दीपक, तुहिनकण, तारे, तरी, तम, तट, झंझा, जुगनू, छिन्न पात्र, ग्रीष्म, क्षितिज, कुन्द, किरण, कमल, उषा, आकाश, अरुण किरण, इत्यादि।

प्रसाद ने अपनी कहानियों में भी प्रतीकों का प्रयोग किया है। जैसे, 'आकाशदीप' शीर्षक कहानी में आकाशदीप, 'आँधी' शीर्षक कहानी में आँधी, 'ग्रामगीत' शीर्षक कहानी में रोहिणी नक्षत्र, इत्यादि। इसी तरह इनके नाटकों में भी पात्रों की उक्तियों और कथोपकथन में प्रतीकों का प्रयोग मिलता है। उदाहरणार्थ, **'ध्रुवस्वामिनी'** नाटक के ये दो स्थल देखे जा सकते हैं—

(क) "सीधा तना हुआ, अपने प्रभुत्व की साकार कठोरता, अभ्रभेदी उन्मुक्त शिखर! और इन क्षुद्र कोमल निरीह लताओं और पौधों को इसके चरण में लोटना ही चाहिये न।"[1]

(ख) "मैंने जिसे अपने आँसुओं से सींचा, वही दुलारभरी बल्लरी, मेरे आँख बन्द कर चलने में मेरे ही पैरों से उलझ गई है। दे दूँ एक झटका—उसकी हरी-हरी पत्तियाँ कुचल जाएँ और वह छिन्न होकर धूल में लोटने लगे?"[2]

इन उद्धरणों में शिखर, लता और बल्लरी प्रतीक की तरह प्रयुक्त हुए हैं। प्रथम उद्धरण में, जो ध्रुवस्वामिनी की उक्ति है, शिखर और लता क्रमशः निष्ठुर पुरुष और पराधीन कोमल नारी के प्रतीक हैं। इसी तरह द्वितीय उद्धरण में, जो मिहिरदेव के प्रति कोमा की उक्ति है, बल्लरी का प्रयोग प्रेम (शकराज के प्रति कोमा का प्रेम) की प्रतीकात्मक व्यंजना के लिए हुआ है।

प्रतीक-विधान की दृष्टि से छायावादी कवियों के बीच **निराला** की यह एक विशेषता है कि इन्होंने प्रसंगानुसार विशेषकर 'राम की शक्तिपूजा' में, उन साधनामूलक प्रतीकों का प्रयोग किया है, जो सिद्धों और सन्तों को बहुत प्रिय

---

१. प्रसाद, ध्रुवस्वामिनी, भारती भण्डार, प्रयाग, पन्द्रहवाँ संस्करण, पृ० १२।
२. वही, पृ० ४३।

रहे हैं।[1] 'राम की शक्तिपूजा' का उत्तरार्द्ध इस दृष्टि से बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। जहाँ **निराला** ने राम के द्वारा दुर्गा के गहनतर समाराधन का वर्णन किया है, वहाँ योग-साधना के गुह्य प्रतीक खुलकर प्रयुक्त हुए हैं। जैसे—

क्रम क्रम से हुए पार राघव के पंच दिवस,
चक्र से **चक्र** मन चढ़ता गया ऊर्ध्व निरलस;
कर जप पूरा कर एक चढ़ाते इन्दीवर,
निज पुरश्चरण इस भाँति रहे हैं पूरा कर।
चढ़ षष्ठ दिवस **आज्ञा** पर हुआ समाहित मन,
प्रति जप से खिँच-खिँच होने लगा महाकर्षण;
संचित **त्रिकुटी** पर **ध्यान** द्विदल देवी-पद पर,
जप के स्वर लगा काँपने थर-थर थर अम्बर;
... ...
रह गया एक इन्दीवर, मन देखता—पार
प्राय: करने को हुआ दुर्ग जो **सहस्रार**।[2]

इन पंक्तियों में प्रयुक्त प्रतीकों पर 'योग' का पूरा प्रभाव है। योग के चार प्रकार माने जाते हैं—मंत्र योग, हठ योग, लय योग और राजयोग।[3] उद्धृत पंक्तियों में लय योग की ओर कवि का विशेष झुकाव है, जिसे 'कुण्डली योग' या कुण्डलिनी शक्ति[4] भी कहा जाता है। राम की शक्ति-पूजा का उल्लेख **कृत्तिवास रामायण** के 'श्री रामेर दुर्गोत्सव' नामक प्रकरण में भी आया है, किन्तु, उसमें शक्तिपूजा का इतना ललित, प्रतीकात्मक और योग-साधना से परिपूर्ण वर्णन नहीं है। लेकिन **निराला** ने यहाँ तक चक्र, आज्ञा, त्रिकुटी,

---

१. 'राम की शक्तिपूजा' में वर्णित हनुमान और दुर्गा को हम हीगेल के द्वारा निर्दिष्ट 'fantastic symbols' के अन्तर्गत गिन सकते हैं। हीगेल ने उन प्रतीकों को 'fantastic symbols' कहा है, जो निरपेक्ष परम (Absolute) के दृश्य (visual) संकेतक हुआ करते हैं। इन्होंने इस प्रकार के प्रतीकों से संबद्ध अपनी मान्यता को भारतीय साहित्य के प्रतीकों से उदाहृत किया है। जैसे, इन्होंने रामायण का उल्लेख करते हुए हनुमान और (विश्वामित्र की गाय) 'शवला' की प्रतीकात्मकता का बखान किया है और यह निरूपित किया है कि ये दोनों निरपेक्ष 'परम' के गोचर संकेत हैं।—Hegel, The Philosophy of Fine Art, translated by Osmaston, Volume II, London, 1920, Pages 51-52.

२. निराला, अनामिका, भारती भण्डार, प्रयाग, द्वितीय संस्करण, पृ० १६२-१६३।

३. Sir John Woodroffe, Shakti And Snakt, Madras, 1929, Pages 632-658.

४. Serpent Power.

द्विदल, ध्यान, सहस्रार इत्यादि जैसे प्रतीकात्मक शब्दों के द्वारा योग-साधना का पूरा मंडान बाँध दिया है। इन्होंने 'चक्र' जैसे प्रतीक पर अपने एक निबन्ध में भी विचार किया है—"द्रष्टा योगियों ने बतलाया है कि सात चक्र हैं—मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपूर, अनाहत, विशुद्ध, आज्ञा और सहस्रार।…… मूलाधार में आदि शक्ति का निवास है, जिसे योगियों ने अपनी परिभाषा में कुण्डलिनी शक्ति कहा है और जिसे जाग्रत कर सप्तम भूमि सहस्रार में ले जाना ही योगियों की साधना है।"[१] ये चक्र दोनों आँखों के बीच अर्थात् मध्य में अवस्थित रहते हैं। सहस्रार को छोड़कर शेष छह चक्रों में आज्ञा चक्र सर्वोपरि है। **निराला** ने 'राम की शक्तिपूजा' में इसका संकेत किया है—

चढ़ षष्ठ दिवस **आज्ञा** पर हुआ समाहित मन।[२]

आज्ञा चक्र के अलावा शेष पाँच चक्रों का सम्बन्ध भिन्न-भिन्न भूतों से है :—

विशुद्ध चक्र—आकाश
अनाहत चक्र—वायु
मणिपूर चक्र—अग्नि
स्वाधिष्ठान चक्र—अपस्
और मूलाधार चक्र—पृथ्वी।[3]

ये चक्र उस शक्ति यानी प्राण-शक्ति के केन्द्र हैं, जो प्राण-शक्ति प्राण-वायु से समीरित होती है। उपर्युक्त छह प्रधान चक्र-कमलों की पंखुड़ियाँ कुल मिलाकर पचास हैं, जिनका विभाजन इस प्रकार किया गया है—मूलाधार (चार), स्वाधिष्ठान (छह), मणिपूर (दस), अनाहत (बारह), विशुद्ध (सोलह), और आज्ञाचक्र (दो)।[४] इसी तरह उपरि-उद्धृत पंक्तियों में 'ध्यान' शब्द (संचित त्रिकुटी पर **ध्यान** द्विदल देवी पद पर) भी भूरिश: प्रतीकात्मक महत्त्व रखता है। जगत् से अनासक्त होने पर भावना-योग के सहारे ध्यान की प्राप्ति होती है और तदनन्तर क्रिया-ज्ञान के द्वारा 'समाधि' की भी उपलब्धि हो जाती है। अत: स्पष्ट है कि छायावादी कवि होकर **निराला** ने साधनात्मक प्रतीकों का जैसा नपा-तुला प्रयोग किया है, वैसा आधुनिक हिन्दी कविता में अन्यत्र दुर्लभ है। **प्रसाद** ने मनु के द्वारा अन्नमय कोष से प्राणमय कोष तक

---

१. निराला, प्रबन्ध-प्रतिमा, भारती भण्डार, प्रयाग, प्रथम संस्करण, पृ० २१५।
२. निराला, अनामिका, भारती भण्डार, प्रयाग, द्वितीय संस्करण, पृ० १६२।
३. Sir John Woodroffe, Shakti and Shakt, Madras, 1299, Pages 640-650.
४. Sir John Woodroffe, Shakti and Shakt, Madras, 1929, Page, 642.

की जो यात्रा तय करायी है और 'इड़ा' नामक सर्ग में जो साधनात्मक आसंग उपस्थित किया है, उनमें भी **निराला** की उपरि-उद्धृत पंक्तियों-जैसा गूढ़ प्रतीकोल्लेख नहीं है।

पन्त के प्रतीक मुख्यत: भावात्मक, अर्थद्योतक या ध्वन्यात्मक हैं। **'पल्लव'** और **'गुंजन'** में भावात्मक प्रतीकों की प्रचुरता है। जैसे—उषा, संध्या, इत्यादि। ये भावात्मक प्रतीक **पन्त** के कवि-स्वभाव के अधिक अनुकूल पड़ते हैं। इसलिये **'गुंजन'** की कई दार्शनिक कविताओं में भी इन्होंने प्रकृति के विशाल क्षेत्र से गृहीत इस प्रकार के भावात्मक प्रतीकों का प्रयोग किया है—मधुप, गुंजन (पृष्ठ १०), सागर, पुलिन (पृष्ठ १४), डाली (पृष्ठ १७), काँटे, पल्लव, कलियाँ (पृष्ठ २७), खग (पृष्ठ ३०), विहग (पृष्ठ ३१), हिलोर, बुद्बुद (पृष्ठ ३१), कली, लहरी (पृष्ठ ३८), इत्यादि। किन्तु, सच पूछा जाय तो **'गुंजन'** काल तक की रचनाओं में इन्होंने प्रतीक-स्वरूप उपमानों का प्रयोग अधिक किया है। अत: निर्धारित अर्थ में प्रतीकों का प्रयोग उनकी गुंजनोत्तर दार्शनिक कविताओं में ही मिल पाता है। जैसे, **'स्वर्णकिरण'** में स्वर्ण का प्रयोग 'नवीन चेतना' के प्रतीक की तरह हुआ है।[1] **'अतिमा'** नामक काव्य-संग्रह में भी इन्होंने ऐसे प्रतीकों का प्रचुर प्रयोग किया है। जैसे, 'गीतों का दर्पण' शीर्षक कविता की इन पंक्तियों—

> नि:स्वर शिखरों पर उड़ता
> गाता सोने का पाँखी।[2]

में 'शिखर' और 'पाँखी' क्रमश: 'सत्य' (सत्यों के स्मित शिखर) और 'प्राण' (प्राणों का पावक पंछी यह) के प्रतीक बनकर आये हैं। इसी तरह 'सोनजुही' शीर्षक कविता में 'सोनजुही की बेल' शुभ्र चेतना के प्रतीक की तरह प्रयुक्त हुई है।[3] **'अतिमा'** के एतादृश प्रतीक बहुत ही अर्थगर्भ हैं और उनकी प्रेषणीयता पर्याप्त नमनीय तथा व्यापक है। जैसे, 'केंचुल' शीर्षक कविता में प्रयुक्त 'केंचुल' दिव्य प्रकाश के पूर्व के अवतरणसम्पूर्ण जागतिक दूषणों और दु:स्वप्नों की छाया-स्मृतियों के वर्तमान प्रतीक हैं।[4] **पन्त** ने **'रजत शिखर'** नामक काव्य-रूपकों के संग्रह में भी कुछ प्रतीकों को गढ़ने की चेष्टा की है। जैसे, इसमें 'शुभ्र पुरुष' महात्मा गांधी के तप:पूत व्यक्तित्व का प्रतीक बनकर प्रयुक्त हुआ है और 'रजत शिखर' को मनुष्य की अन्तश्चेतना का शुभ्र प्रतीक बनाया गया

१. पन्त, गद्य-पथ, साहित्य-भवन, इलाहाबाद, १९५३, पृ० १२३।
२. पन्त, अतिमा, भारती भण्डार, प्रयाग, प्रथम संस्करण, पृ० ५।
३. पन्त, अतिमा, भारती भण्डार, प्रयाग, प्रथम संस्करण, पृ० ५१।
४. पन्त, अतिमा, भारती भण्डार, प्रयाग, प्रथम संस्करण, पृ० ६४।

है। इसी तरह पन्त ने 'सौवर्ण' को संक्रमणकालीन मानव-मूल्यों के विकास का प्रतीक बनाकर उपस्थित किया है और 'मानसी' शीर्षक कविता में 'पिक' को 'मिलन-भोग' का तथा 'पपीहे' को 'विरह-त्याग' का प्रतीक बना दिया है।[१] इन्होंने वर्ण-भेद से भी प्रतीकात्मक अर्थ-प्रेषण का काम लिया है। जैसे, निम्नलिखित पंक्तियों में एक ही प्रतीक (कमल) के साथ विशेषणवत् कई वर्णों को संश्लिष्ट कर प्रतीकात्मक अर्थ-प्रेषण में अन्तर लाने का प्रयास किया गया है—

रक्त कमल, श्वेत कमल,
खुले ज्योति पलक नवल !
रक्त कमल जीवन स्मित,
श्वेत कमल शान्ति जनित,
खोल रहे रश्मि स्फुरित,
मानस में ज्वाला दल !
नील कमल श्रद्धा नत,
स्वर्ण कमल भक्ति प्रणत,
कर्दम में खिले सतत
प्रीति मधुर अन्तस्तल।[२]

यहाँ 'कमल' का प्रयोग प्रतीक के रूप में हुआ है, किन्तु वह विभिन्न प्रकार के वर्णों से संश्लिष्ट होकर अलग-अलग अर्थों का प्रेषण करता है। जैसे—रक्त कमल प्रसन्न जीवन का प्रतीक है, श्वेत कमल शान्ति का प्रतीक है, नील कमल श्रद्धा का प्रतीक है और स्वर्ण कमल भक्ति का प्रतीक है। इसे हम एक ही प्रतीक में वर्ण-भेद के द्वारा अर्थ-भेद का आरोप कह सकते हैं। इस प्रकार पन्त के प्रतीकों में अर्थ की वह आत्मनिष्ठ नमनीयता है, जिसे कई पाश्चात्य विचारकों ने[३] प्रतीक-विधान के सैद्धान्तिक विवेचन में स्वीकार किया है।

यहाँ इसे स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि एक वर्ग के विचारकों के अनुसार, जिनके मन्तव्य का विवेचन पिछले पृष्ठों में किया जा चुका है, परम्परा-स्वीकृत सुनिर्णीत अर्थ-निर्धारण प्रतीकों का एकमात्र अनिवार्य गुण है। इस दृष्टिकोण के अनुसार प्रतीकों के निर्माण और उनके अर्थ-निर्धारण में व्यक्तिगत दृष्टि से कवियों की कोई निजी लागत नहीं रहती है, क्योंकि प्रतीक समाज के द्वारा

१. पन्त, हरी बाँसुरी सुनहली टेर, राजपाल एण्ड सन्स, दिल्ली, १९६३, पृ० १०६।
२. पन्त, सौवर्ण, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, १९५७, पृ० ४७।
३. जैसे—Hegel, W. Y. Tindall, W. B. Yeats, Kenneth Burke इत्यादि।

स्वीकृत होकर स्वयं ही पीढ़ियों की शिविका पर चलते रहते हैं और जो प्रतीक जन-समाज के बदले किसी दल या सम्प्रदाय की गुह्य विचारणाओं में सीमित रहते हैं, वे लोक-संवेदन से दूर केवल कूट प्रतीक बनकर रह जाते हैं। ऐसे परम्परा-स्वीकृत और एक अर्थ में निर्धारित प्रतीकों के विधान में केवल प्रयोग की दृष्टि से ही कवि अपनी विदग्धता या सौन्दर्य-चेतना के द्वारा अतिरिक्त चारुता उत्पन्न कर पाता है। किन्तु, दूसरे वर्ग के विचारकों के अनुसार, जिनका नामोल्लेख ऊपर की पंक्तियों में किया जा चुका है, प्रतीकों में उत्पाद्य लावण्य के साथ एकाधिक अर्थों का संश्लेष रहता है। इस दृष्टिकोण के अनुसार कवि केवल परम्परा-स्वीकृत घिसे हुये प्रतीकों का प्रयोग नहीं करता है, बल्कि वह अर्थ की अनेक संभावनाओं से भरे हुये नये प्रतीकों का अपनी मौलिक प्रतिभा से सृजन करता है और प्रयोग की आवृत्ति से जीर्ण बने प्रतीकों में परम्परा-स्वीकृत अर्थ के अलावा नवीन अर्थ-छवियों से संश्लिष्ट एक नमनीय अर्थवत्ता भर देता है। **डब्ल्यू० वाइ० टिंडल** ने प्रतीकों में अर्थ की इसी आत्म-निष्ठ नमनीयता को स्वीकार किया है और प्रतीकों के भावन में, इसी दृष्टि से पाठक या सहृदयचित्त की कल्पना के योग को भी महत्त्व दिया है।[१] इस तरह इन्होंने **कार्लाइल** की मान्यता (हाफ कन्सील्ड एण्ड हाफ रिवील्ड) को तूल देते हुए अर्थात् अर्थ की अनिश्चितता को एक निर्णायक गुण मानते हुये प्रतीक-विधान की जो रहस्यवादी व्याख्या प्रस्तुत की है, वह छायावादी कविता के प्रतीक-विधान पर बहुत लागू होती है। प्रतीकों में अर्थ की अनिश्चितता और अर्द्धस्फुटता के प्रति **डब्ल्यू० वाइ० टिंडल** को इतना आग्रह है कि इन्होंने प्रतीकवादी काव्य के आलोचक में **कीट्स** के द्वारा निरूपित 'निगेटिव कैंपेबि-लिटी' का रहना आवश्यक माना है।[२] और, **कीट्स** की इस 'निगेटिव कैंपेबि-लिटी'[3] का आशय ही है—किसी सत्य या तर्क तक पहुँचे बिना ही अनिश्चितता, रहस्य या सन्देह में रहना, तथापि इस दोलाचल स्थिति के अपूर्ण ज्ञान से ही संतुष्ट हो जाना। इस प्रकार प्रतीकों में अर्थ की आत्मनिष्ठ नमनीयता के प्रति **टिंडल** की अनुकूल धारणा स्पष्ट है। प्रसिद्ध रहस्यप्रिय प्रतीकवादी कवि **डब्ल्यू० बी० यीट्स** ने भी अनेकार्थकता को प्रतीकों का अनिवार्य गुण माना है। इनका कहना है कि श्रेष्ठ कला का शिल्पी उन पुरातन प्रतीकों से काम लेता है, जो एकाधिक अर्थ रखते हैं। किन्तु, कलाकार अपने अभिप्राय और विवक्षा के अनुसार

---

१. W.Y. Tindall, The Literary Symbol, New York, 1955, Pages 11-12-17.

२. उपरिवत्, पृ० २०।

३. Negative Capability.

उस बहुअर्थी प्रतीक के किसी एक अर्थ को विशेष प्रकाश में लाता है।[१] छायावादी कविता के प्रतीक-विधान में ऐसे अनेकार्थक प्रतीक कई स्थलों पर मिलते हैं, जिनकी विवेचना अगले पृष्ठों में प्रसंगानुसार की जायगी। इसी तरह **केनेथ बर्क** ने भी भावात्मक स्तर के प्रतीकों में कवि के अन्तर्जगत से संबद्ध अर्थातिशय या अनेकार्थकता को स्वीकार किया है। इन्होंने प्रतीकात्मक प्रक्रिया के कुछ स्तरों पर सुचिन्तित विचार किया है। इसके अनुसार प्रतीकात्मक प्रक्रिया के तीन प्रधान स्तर होते हैं[२]—(क) प्रतीकों का शारीरिक या जैव धरातल। इस धरातल पर कार्य करने वाले प्रतीक प्रायः वेगोद्‌भेदक बिम्बों[३] से उत्थित होते हैं और इसका सम्बन्ध किसी न किसी प्रकार के शारीरिक क्रिया-व्यापार (जैसे—खाना, सोना, चलना, जगना, झूमना इत्यादि) से अवश्य रहता है। इस तरह जिन बिम्बों में 'सक्रिय' ऐन्द्रियता की अधिकता रहती है, वे विकास पाकर शारीरिक या जैव स्तर के प्रतीक बन जाते हैं। (ख) प्रतीकों का सामाजिक स्तर। इस स्तर पर प्रतीक पारिवारिक या सामूहिक संबंधों के द्वारा अपना अर्थ प्रेषित करते हैं। संतों के काव्य में तिरिया, पिया, पीहर इत्यादि ऐसे ही पारिवारिक-सामाजिक स्तर से प्रतीक हैं। (ग) प्रतीकों का भावात्मक स्तर। इस स्तर पर प्रतीक व्यक्ति के अन्तर्जगत से संबद्ध रहते हैं और बाह्य जगत् की भौतिक कठोरताओं से निरपेक्ष होते हैं। उत्कृष्ट कला के अधिकांश प्रतीक इसी स्तर के होते हैं। यहाँ यह कह देना समीचीन प्रतीत होता है कि छायावादी कविता के बहुत से प्रतीक इसी भावात्मक स्तर के प्रतीक हैं, जिनमें अन्तर्जगत् की गाढ़ संबद्धता के कारण सुनिश्चित अर्थ-निर्धारण के बदले नमनीय अनेकार्थकता रहती है। प्रतीकों की इस अनिश्चित अनेकार्थकता वाली धारणा को **हीगेल** की इस मान्यता से भी बल मिलता है कि रूढ़ या परम्परित प्रतीकों को छोड़कर शेष सभी प्रकार के प्रतीकों में द्वयर्थकता या अस्पष्टता की कुछ मात्रा अवश्य रहती है।[४] **हीगेल** की इस मान्यता के आधार पर यह सहज ही कहा जा सकता है कि छायावादी कवियों के प्रतीकों की अस्पष्टता या द्वयर्थकता सर्वथा

---

१. W.B. Yeats, Essays and Introductions, Macmillan & Co., 1961, p. 87.

२. Kenneth Burke, The Philosophy of Literary Form, New York, 1957, p. 31.

३. Kinaesthetic images.

४. "...symbol is necessarily and essentially open to ambiguity."—Hegel, The Philosophy of Fine Art, translated by Osmaston, Valume II, London, 1920, p. 11.

स्वाभाविक है। यह कोई वैसा अक्षम्य दोष नहीं है, जैसा छायावाद के विरोधी आलोचक अब तक प्रचारित करते रहे हैं। किन्तु, हीगेल के प्रतीक-निरूपण के आधार पर ही छायावाद के प्रतीकों में आध्यात्मिक अर्थवत्ता[१] कम है और ऐन्द्रिय प्रत्यक्ष[२] अधिक है। रहस्यवादी कवियों और संतों के काव्य में हम जिन प्रतीकों को पाते हैं, उनमें आध्यात्मिक अर्थवत्ता अधिक रहती है और ऐन्द्रिय प्रत्यक्ष नगण्य रहता है। ठीक इसके विपरीत हम छायावादी काव्य के प्रतीकों में ऐन्द्रिय प्रत्यक्ष का प्रयास अधिक पाते हैं और उनमें आध्यात्मिक अर्थवत्ता यदा-कदा केवल कलंगी की तरह लगी रहती है, जबकि **हीगेल** के अनुसार उत्कृष्ट प्रतीकों में आध्यात्मिक संकेत और ऐन्द्रिय निवेदन के बीच समतोल रहता है अथवा आध्यात्मिक संकेत की अधिकता रहती है।[3] यहाँ मेरी दृष्टि से यह बात विशेष ध्यातव्य है कि जिन प्रतीकों में आध्यात्मिक अर्थ-वत्ता की अपेक्षा ऐन्द्रिय निवेदन की अधिकता रहती है, वे प्रतीक बिम्बधर्मी होते हैं, अर्थात् बिम्बों के समीपी होते हैं। अतः छायावादी कविता में बिम्ब-धर्मी प्रतीक, जिन्हें मैंने प्रतीक-स्वरूप उपमान कहा है, अधिक मिलते हैं। छायावादी कविता के इन प्रतीकों और प्रतीक-स्वरूप उपमानों पर **जे० चियरी** की मान्यताओं के आलोक में भी विचार किया जा सकता है। **जे० चियरी** ने प्रतीक के दो प्रकारों का निरूपण किया है—सम्मूर्त्तनशील प्रतीक (वर्टिकल सिम्बल) और तुल्यार्थक वस्तुसम्पृक्त प्रतीक (हॉरिज़ॉन्टल सिम्बल)[४]। सम्मूर्त्तनशील प्रतीक में अमूर्त्त और सूक्ष्म विचारों, संकेतों या अर्थछवियों का गोचर विधान प्रस्तुत किया जाता है तथा तुल्यार्थक वस्तुसम्पृक्त प्रतीक में ऐन्द्रिय भावों अथवा प्रतीतियों का तत्तुल्य अप्रस्तुतों की योजना के द्वारा ऐन्द्रिय सम्मूर्त्तन उपस्थित किया जाता है। अतः छायावादी काव्य के प्रतीक-स्वरूप उपमानों और प्रतीकों को हम क्रमशः 'हॉरिज़ॉन्टल सिम्बल' और 'वर्टिकल सिम्बल' कह सकते हैं।[५]

---

१. 'Spiritual significance'.

२. 'Sensuous presentation'.

३. Hegel. The Philosophy of Fine Art, London, 1920, p. 30.

४. Joseph Chiari, Symbolism from Poe to Mallarme, London, 1956, p. 97.

५. यों छायावादी काव्य के प्रतीकों पर पाश्चात्य प्रतीकवाद की दृष्टि से विचार करना बहुत समीचीन नहीं हैं, क्योंकि पश्चिमी प्रतीकवाद पर प्लेटो और पिथागोरस से लेकर स्वेडेनबर्ग, शापेनहावर और ब्रैडले के दार्शनिक विचारों का जो गहरा प्रभाव रहा है, उससे छायावादी कविता की प्रतीक-योजना का कोई ऋजु सम्बन्ध नहीं है।

इन प्रतीक-स्वरूप उपमानों और प्रतीकों के प्रयोग की दृष्टि से **महादेवी** के काव्य का अध्ययन बहुत ही रोचक सिद्ध होता है। इनका काव्य इसे उदाहृत करता है कि एक कवि अपनी प्रारम्भिक कृतियों में जिन अप्रस्तुतों का प्रयोग बिम्ब की तरह अथवा बिम्ब के धरातल पर करता है, वे ही अप्रस्तुत या बिम्ब प्रयोग का पौनःपुन्य पाकर उसी कवि की उत्तरकालीन रचनाओं में प्रतीक बन जाते हैं। इनकी प्रारम्भिक कविताओं में बिम्बवत् प्रयुक्त दीप, फूल, झंझा, निर्झर, आकाश, कंटक, नीड़ इत्यादि अप्रस्तुत इनकी बाद की रचनाओं में बार-बार प्रयुक्त होकर प्रतीकों की एकार्थ-व्यंजकता पा गये हैं। **'नीहार'** जैसी प्रारंभिक रचना की निम्नलिखित पंक्तियों में प्रयुक्त 'परिचित कूल' और 'झंझावात' ऐसे ही अप्रस्तुत हैं—

दूर छूटा वह परिचित कूल
कह रहा है यह झंझावात,
लिये जाते तरणी किस ओर
अरे मेरे नाविक नादान ![1]

जिन्हें प्रयोग की आवृत्ति से बाद की रचनाओं में प्रतीक का स्तर प्राप्त हो गया है। इस तरह के परिणत प्रतीकों में **महादेवी** के ये अप्रस्तुत उल्लेखनीय महत्त्व रखते हैं—

(क) **दीपक** (साधना का प्रतीक)

मधुर मधुर मेरे दीपक जल।[2]

अथवा

उर तिमिरमय, घर तिमिरमय, चल सजनि, दीपक बार ले।[3]

अथवा

दीप मेरे जल अकम्पित, घुल अचंचल।[4]

अथवा

यह मन्दिर का दीप इसे नीरव जलने दो।[5]

(ख) **दर्पण** (माया)

टूट गया वह दर्पण निर्मम।[6]

---

१. महादेवी, नीहार, साहित्य भवन, इलाहाबाद, चतुर्थ संस्करण, पृ० ३७।
२. महादेवी, नीरजा, भारती भण्डार, प्रयाग, प्रथम संस्करण, पृ० २६।
३. उपरिवत्, पृष्ठ ६६।
४. महादेवी, दीपशिखा, चतुर्थ संस्करण, पृ० ६७।
५. उपरिवत् पृ० ८६।
६. महादेवी, नीरजा, प्रथम संस्करण, पृ० ५८।

अथवा

तोड़ देता खीझ कर जब तक न प्रिय यह मृदुल दर्पण ।[1]

(ग) **पिंजर** (माया-बन्ध, शरीर-कंचुक)

कीर का प्रिय आज पिञ्जर खोल दो ।[2]

अथवा

सजनि! मैं ने स्वर्ण-पिंजर में प्रलय का वात पाला ।[3]

इनके अलावा वीणा या बीन,[4] शलभ[5] और पाहुन[6] भी **महादेवी** के काव्य के ऐसे प्रतीक-पर्यवसायी अप्रस्तुत हैं। ये अप्रस्तुत कवयित्री के मनोरागों से रंजित रहने के कारण बहुत प्रभावोत्पादक हो गये हैं। जैसे—

इस अचल क्षितिज रेखा-से
तुम रहो निकट जीवन के,
पर तुम्हें पकड़ पाने के—
सारे प्रयत्न हों फीके ।[7]

यहाँ अन्तर्दृष्टि-विधायिनी कल्पना के सहारे पकड़ में न आने वाले अज्ञात प्रिय के मधुर व्यक्तित्व का क्षितिज-रेखा पर आरोप कर मानव-सामर्थ्य की लाचारी को अभिव्यक्त करने के लिये लाक्षणिकता का सुन्दर उपयोग किया गया है। भला, क्षितिज-रेखा को कौन पकड़ सकता है! इतना ही नहीं, इनकी कविताओं में उन प्रतीकात्मक उपमानों की भरमार है, जो प्रस्तुत और अप्रस्तुत—दोनों का स्थान ग्रहण कर सकते हैं। उदाहरण के लिये—

ग्रास करने नौका स्वच्छन्द, घूमते फिरते जलचरवृन्द ।
देखकर काला सिन्धु अनन्त हो गया हा! साहस का अन्त ।[8]

यहाँ जीवन के लिये नौका, सांसारिक कुवासनाओं के लिये जलचरवृन्द और कलुषित संसार के लिये काला सिन्धु प्रतीकवत् प्रयुक्त हैं। इनमें घातक गुण

---

१. महादेवी, सांध्यगीत, चतुर्थ संस्करण, पृ० ४४।
२. महादेवी, सांध्यगीत, चतुर्थ संस्करण, पृ० ६१।
३. महादेवी, सांध्यगीत, चतुर्थ संस्करण, पृ० ८१।
४. 'तुम्हारी बीन में ही बज रहे हैं बेसुरे सब तार।'—दीपशिखा, चतुर्थ संस्करण, पृ० १३८।
५. 'शलभ, मैं शापमय बर हूँ, किसी का दीप निष्ठुर हूँ'।—सांध्यगीत, चतुर्थ संस्करण, पृ० ३६।
६. 'प्राणों के अन्तिम पाहुन'—महादेवी, आधुनिक कवि, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, चतुर्थ संस्करण, पृ० ४४।
७. महादेवी, रश्मि, साहित्य-भवन, प्रयाग, १९४४, पृ० ११।
८. महादेवी, आधुनिक कवि, चतुर्थ संस्करण, पृ० १२।

की समानता के कारण वासनाओं के लिये जलचरवृन्द का तथा शंकित तरणशीलता के कारण डगमगाते जीवन के लिये नौका का प्रतीक अत्यन्त अर्थवान् हो गया है ।

किन्तु, **महादेवी** के प्रतीक सर्वत्र सुबोध नहीं होते हैं । रूपक तथा अन्योक्ति-पद्धति के मोह के कारण इनके कुछ प्रतीकों ने दुहरा व्यक्तित्व धारण कर लिया है, जिसके फलस्वरूप उन प्रतीकों के भावन-काल में पाठक एक द्विधा की स्थिति में पड़ जाता है । यह सच है कि इन्होंने प्रतीकों के सहारे अतीन्द्रिय सत्य को संकेतित करने का प्रयत्न किया है और इन्होंने अपनी रचनाओं के माध्यम से जीवन-जगत् के आभ्यन्तर सौन्दर्य को उद्घाटित करने का प्रयास किया है । किन्तु, अज्ञात सौन्दर्य-लोक की आवर्त्तक कल्पना और अतीन्द्रिय सत्ता के प्रति अत्यधिक आकर्षण के कारण इनके काव्य में कहीं-कहीं निबिड़ ऐकान्तिकता के साथ ही प्रत्यक्ष यथार्थ का चिन्त्य अतिक्रमण मिलता है, जिसके फलस्वरूप इनके प्रतीक विधान में यदा-कदा भावोद्बोधन का अभाव मिलता है । तदनन्तर, इनके अनेक चित्रात्मक बिम्ब, जैसा कि पिछले पृष्ठ पर संकेतित किया गया है, प्रयोग की बहुशः आवृत्ति के कारण एक निश्चित अर्थवत्ता पाकर प्रतीक-जैसे बन गये हैं । इनकी प्रारम्भिक कविताओं में प्रयुक्त दीप, फूल, झंझा, समीर, आकाश, निर्झर इत्यादि के अप्रस्तुत-विधान बिम्बों की नानार्थ व्यंजक मूर्त्तिमत्ता के निकट थे, किन्तु बाद की रचनाओं में सदृश प्रयोगों के पौनःपुन्य से इन बिम्बों में प्रतीकोपम अर्थगत निश्चितता आ गई है । इस तरह यह निःसंकोच कहा जा सकता है कि इनके कुछ उपमान सामान्य अलंकार-प्रणाली से ऊपर उठकर प्रतीक बन गये हैं । प्रतीक और उपमान में मुख्य अन्तर यह है कि प्रतीक का आधार सादृश्य या साधर्म्य नहीं, बल्कि सूक्ष्म और गम्भीर भावना जगाने की निहित शक्ति है, जबकि उपमान का आधार सादृश्य या साधर्म्य तक ही सीमित है । अतः उत्कृष्ट कोटि के कवि उन्हीं उपमानों या अप्रस्तुतों को अधिक पसन्द करते हैं, जिनमें सूक्ष्म और गम्भीर भाव जगाने की प्रतीकवत् सम्भावना रहती है ।

महादेवी के प्रतीक मुख्यतः रहस्यात्मक और स्वप्नपरक हैं । यों इनकी कविताओं में परम्परागत प्रतीकों का भी अभाव नहीं है । परम्परागत और पौराणिक प्रतीकों का सर्वाधिक प्रयोग **प्रसाद** की रचनाओं में मिलता है । **महादेवी** ने बहुत सीमित स्थलों पर परम्परागत प्रतीकों के प्रयोग किये हैं । जैसे—

नयन में जिसके जलद वह तृषित चातक हूँ ।
शलभ जिसके प्राण में वह निठुर दीपक हूँ ।

फूल को उर में छिपाये बिकल बुलबुल हूँ ।[1]

यहाँ चातक, शलभ, दीपक और बुलबुल—सभी परम्परागत प्रतीक हैं। ऐसे प्रतीक-विधान में कवयित्री की लागत अल्पतम है, क्योंकि एक नवीन सन्दर्भ-सृष्टि तक ही उसकी मौलिकता सीमित है। किन्तु, इन प्रतीकों से पृथक् आध्यात्मिक प्रतीकों की सृष्टि में **महादेवी** ने बारीक सूझ और गहन अनुभूति का परिचय दिया है। जैसे, निम्नलिखित पंक्तियों में प्रयुक्त दर्पण या मुकुर ऐसा ही आध्यात्मिक प्रतीक है—

टूट गया वह **दर्पण** निर्मम !
उसमें हँस दी मेरी छाया,
मुझमें रो दी ममता माया,
अश्रु-हास ने विश्व सजाया,
रहे खेलते आँखमिचौनी
प्रिय ! जिसके परदे में 'मैं' 'तुम' ।[2]

अथवा

तोड़ कर वह **मुकुर** जिसमें रूप करता लास
पूछता आधार क्या प्रतिबिम्ब का आवास ?[3]

महादेवी ने भावों की बंकिम व्यंजना के लिये प्रकृति के अनेक उपकरणों से प्रतीक का काम लिया है। अतः भाव-ग्रहण की दृष्टि से इनके अधिकांश प्रतीक और प्रतीक-स्वरूप उपमान अन्योक्ति तथा रूपकातिशयोक्ति के साथ साम्य रखते हैं। इनकी रचनाओं में करुणा के लिये वर्षा, क्रोध के लिए ग्रीष्म, दुःख के लिए पतझर, आनन्द के लिए बसन्त, सुख के लिए मलय पवन, मधु और रश्मि, आँसू के लिए मकरन्द, नक्षत्र, तुहिनकण इत्यादि प्रकृति से संबद्ध उपकरणों का प्रतीकवत् प्रयोग हुआ है। इनके काव्य में प्रयुक्त मुख्य प्रतीक और प्रतीक-स्वरूप उपमान ये हैं—तमश्यामल पाहुन (बादल), नौका (जीवन) काला सिन्धु (संसार), तम (ज्ञानहीनता), प्रकाश या रश्मि (ज्ञान की ज्योति, चैतन्य आनन्द), मधुप (रागानुग साधक), मधुमास (मधुचर्या, आनन्दानुभव), तरल मनके (आँसू), आँखों का फूल (आँसू), नभ की दीपावली (तारे), प्रभात (सुख, आनन्द, जीवनोन्मेष), पतवार (सहारा, साहस), लहर या वीणा के तार (हृदय के भाव), वीणा (हृदय, आत्मा), गायक (साधक), नीरदमाला (अश्रुधारा), झंझा (विक्षोभ, संघर्ष, साधना-पथ के

---

१. महादेवी, आधुनिक कवि, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, चतुर्थ संस्करण, पृ० ५४।
२. महादेवी, आधुनिक कवि, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, चतुर्थ संस्करण, पृ० ६३।
३. महादेवी, रश्मि, साहित्य भवन, प्रयाग, १९४४, पृ० २९।

विघ्न), दीपक (निर्वाणोन्मुख भाव, साधक आत्मा), ज्योति-प्रहरी (दीपक), मोती या मकरन्द अथवा तुहिन-कण (आँसू), शलभ (मोहलिप्त व्यक्ति, आदर्श-प्रेमी), पंक (तामस भाव), मधुपभीर (लौकिक माया-जाल), मरकत सिंहासन (प्रलोभन), लौ (सुधि), निर्झर या निर्झरिणी (आनन्द-प्रवाह, चेतना-स्रोत), ज्वाला (व्यथा), शिखा (साधना), किरण (ज्ञान), उषा (जन्म), संध्या (मृत्यु, दुख), सावन (अश्रुपात), सान्त दीप (सितारे) और उजला संकेत (परोक्ष की झाँकी) । इन प्रतीकों और प्रतीक-स्वरूप उपमानों की सूची पर विचार करने से **महादेवी** के प्रतीक-विधान की निम्नलिखित विशेषतायें हमारे समक्ष उपस्थित होती हैं—

(क) **महादेवी** के अधिकांश प्रतीक और प्रतीक-स्वरूप उपमान प्रकृति के व्यापक क्षेत्र से ग्रहण किए गए हैं ।

(ख) इनकी एक ही कविता में प्रतीक की अनेक इकाइयों का प्रयोग मिलता है, जिससे कविता का अर्थ प्रतीक-सूत्र-सापेक्ष हो जाता है । उदाहरण के लिए **'नीरज'** की पहली कविता में 'नीरज' सात्विक भावनाओं, 'पंक' तामसिक भावनाओं तथा 'मधुप-भीर' लौकिक मायाजाल के प्रतीक की तरह प्रयुक्त हैं ।[1]

(ग) इनके कुछ प्रतीकों में किसी एक सुनिर्णीत अर्थ का निश्चय नहीं मिलता है । जैसे, इनकी कविताओं में प्रयुक्त 'शलभ' को देखा जा सकता है । यह (शलभ) कहीं मोहलिप्त व्यक्ति के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है और कहीं आदर्श प्रेमी के अर्थ में—

शलभ अन्य की ज्वाला से मिल
झुलस कहाँ हो पाया उज्ज्वल
कब कर पाया वह लघु तन से
नव आलोक प्रसार ![2]

अथवा

---

१. इसमें उपजा यह नीरज सित,
कोमल कोमल लज्जित मीलित,
सौरभ सी लेकर मधुर पीर !
इसमें न पंक का चिह्न शेष,
इसमें न ठहरता सलिल-लेश,
इसको न जगाती मधुप-भीर !
—महादेवी, नीरजा, भारती भण्डार, प्रयाग, प्रथम संस्करण, पृ० ।

२. महादेवी, नीरजा, भारती भण्डार, प्रयाग, प्रथम संस्करण, पृ० १७ ।

विश्व-शलभ सिर धुन कहता 'मैं
हाय न जल पाया तुझ में मिल'।[1]

इन दोनों उद्धरणों में 'शलभ' मोहाच्छन्न या साधनाविहीन व्यक्ति के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है; किन्तु, इन पंक्तियों में—

क्यों जग कहता मतवाली ?
क्यों न **शलभ** पर लुट-लुट जाऊँ,
झुलसे पंखों को चुन लाऊँ,
उन पर दीपशिखा अँकवाऊँ,
अलि ! मैंने जलने ही में जब
जीवन की निधि पा ली।[2]

अथवा

दीपकमय कर डाला जब
जलकर **पतंग** ने जीवन,
सीखा बालक मेघों ने
नभ के आँगन में रोदन;
... ...
तब से मैं ढूंढ़ रही हूँ
उनके चरणों की रेखा।[3]

'शलभ' (या 'पतंग') आदर्श प्रेमी के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। इसी तरह इनकी कविताओं में सरिता के पुलिन-द्वय कभी विरह-मिलन और कभी जीवन-मरण के अर्थ में प्रयुक्त हुए हैं। जैसे, विरह-मिलन के अर्थ में—

चिर मिलन-विरह पुलिनों की
सरिता हो मेरा जीवन।
प्रतिपल होता रहता हो
युग कूलों का आलिंगन ![4]

और जीवन-मरण के अर्थ में—

तुहिन के **पुलिनों** पर छविमान
किसी मधु दिन की लहर समान;

---

१. महादेवी, नीरजा, भारती भण्डार, प्रयाग, प्रथम संस्करण, पृ० २६।
२. महादेवी, नीरजा, भारती भण्डार, प्रयाग, प्रथम संस्करण, पृ० ५२।
३. महादेवी, नीहार, साहित्य भवन, प्रयाग, १९५५, पृ० ५१।
४. महादेवी, रश्मि, साहित्य भवन, प्रयाग, तृतीय संस्करण, पृ० ११।

स्वप्न की प्रतिमा पर अनजान
वेदना का ज्यों छाया-दान ।[१]
अथवा
शून्य काल के **पुलिनों** पर
आकर चुपके से मौन,
इसे बहा जाता लहरों में
वह रहस्यमय कौन ?[२]
अथवा
श्रृंगार कर ले री सजनि !
इस पुलिन के अणु आज हैं
भूली हुई पहचान से;
आते चले जाते निमिष
मनुहार से, वरदान से
अज्ञात पथ, है दूर प्रिय चल
भीगती मधु की रजनि ![३]

सारांश यह है कि **महादेवी** के अनेक प्रतीक सन्दर्भ-सापेक्ष अर्थ रखते हैं, अतः वे सर्वदा एकार्थक नहीं होते ।

(घ) इनकी कविताओं में एक भाव की व्यंजना के लिए अनेक प्रतीकों का ग्रहण हुआ है । जैसे, 'आँसू' के लिए मोती और मकरन्द का प्रयोग—

(मोती)— उस सोने के सपने को
देखे कितने युग बीते !
आँखों के कोष हुए हैं
मोती बरसा कर रीते ।[४]
अथवा
जग हँस कर कह देता है,
मेरी आँखें हैं निर्धन,
इनके बरसाये **मोती**
क्या वह अबतक पाया गिन ![५]

१. महादेवी, रश्मि, साहित्य-भवन, प्रयाग, तृतीय संस्करण, पृ० १७ ।
२. वही, पृ० १३ ।
३. महादेवी, नीरजा, भारती भण्डार, प्रयाग, प्रथम संस्करण, पृ० १२ ।
४. महादेवी, नीहार, साहित्य भवन, प्रयाग, चतुर्थ संस्करण, पृ० १३ ।
५. वही, पृ० २१ ।

(मकरन्द)—समीरण के पंखों में गूँथ
लुटा डाला सौरभ का भार,
दिया ढुलका मानस-मकरन्द
मधुर अपनी स्मृति का उपहार।[1]

(च) **महादेवी** के कुछ प्रतीक और प्रतीक-स्वरूप उपमान संगीत कला, चित्रकला, मूर्त्तिकला और दर्शनशास्त्र के क्षेत्र से चयन किये गये हैं। संगीत कला से गृहीत प्रतीकों में विहाग, तान, मूर्च्छना, तार, झंकार और वीणा, चित्र-कला से गृहीत प्रतीकों में चितेरा, चित्र, रंग, रेखा और तूलिका, मूर्त्तिकला से गृहीत प्रतीकों में मूर्त्तिकार एवं पाषाण तथा दर्शनशास्त्र के क्षेत्र से संकलित प्रतीकों में माया, छलना, पुरुष, प्रकृति, बिन्दु और सिन्धु प्रमुख हैं। ये प्रतीक लाक्षणिकता से वेष्टित होकर इनकी कविताओं में प्रयुक्त हुये हैं।

महादेवी के अधिकांश प्रतीकों में रहस्यात्मकता का पुट है। इसलिये प्रकृति--जगत् और ललित कलाओं के क्षेत्र से लिये गए प्रतीक इनके काव्य में सामान्य स्तर पर न रहकर रहस्यात्मक संस्पर्श से 'उन्नीत प्रतीक'[2] बन गए हैं। जैसे, 'दीप' प्राय: काम-वासना के प्रतीक की तरह प्रयुक्त होता है और अवदमित काम-वासना का प्रकाशन उसमें व्यंग्य रहता है। किन्तु, **महादेवी** के काव्य में यह 'दीपक' निर्वाणोन्मुख आत्मा अथवा मुमुक्षु साधक के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। इसी प्रकार 'घटा' मधुर भावों की भूमिका में सामान्यत: रस, स्नेह अथवा तरल प्रवाह का प्रतीक है। इस प्रतीकार्थ में भी काम-वासना प्रधान है। इसीलिए, शायद, प्राचीन साहित्य में गरजते बादल की उपमा क्षरणोत्क 'वृषभ' से दी गई है और भारतीय देवमंडल में इन्द्र 'मेघवाहन' होने के कारण अधिक कामी माने गये हैं। किन्तु, **महादेवी** की कविताओं में 'घटा' स्नेह, शान्ति अथवा करुणा के प्रतीक की तरह प्रयुक्त है। जैसे—

घन बनूँ वर दो मुझे प्रिय !
जलधि-मानस से नव जन्म पा
सुभग तेरे ही दृग-व्योम में,
सजल श्यामल मंथर मूक-सा
तरल अश्रु-विनिर्मित गात ले
नित घिरूँ झर-झर मिटूँ प्रिय !
घन बनूँ वर दो मुझे प्रिय ![3]

---

१. महादेवी, नीहार, साहित्य भवन, प्रयाग, चतुर्थ संस्करण, पृ० ४१।
२. Sublimated Symbol.
३. महादेवी, नीरजा, भारती भण्डार, प्रयाग, प्रथम संस्करण, पृ० ३८।

अथवा

लाये कौन संदेश नये घन !
अम्बर गर्वित
हो आया नत
चिर निस्पन्द हृदय में उसके
उमड़े री पलकों के सावन
लाये कौन संदेश नये घन ![1]

महादेवी के काव्य में झंझा भी ऐसे ही उन्नीत प्रतीक की तरह प्रयुक्त है, क्योंकि इन्होंने भी रहस्यवादी कवियों की तरह 'झंझा' का प्रयोग साधना-पथ के विघ्न अथवा उत्पात के अर्थ में किया है—

निर्घोष घटाओं में छिप
तड़पन चपला की सोती,
झंझा के उन्मादों में
घुलती जाती बेहोशी ।[2]

अथवा

इन उत्ताल तरंगों पर सह
झंझा के आघात,
जलना ही रहस्य है बुझना—
है नैसर्गिक बात ।[3]

'रश्मि' के रचना-काल तक 'झंझा' में अंशतः प्रतीक-स्वरूप उपमान का गुण था, किन्तु, **'दीपशिखा'** की कविताओं तक पहुँचते-पहुँचते प्रयोग की आवृत्ति से 'झंझा' में प्रतीक के लिये अपेक्षित अर्थ-निर्धारण हो गया है और उससे साधना-पथ के विघ्न अथवा उत्पात का प्रतीकात्मक प्रेषण अच्छी तरह सिद्ध हुआ है । जैसे—

यह संचारी दीप, ओट इनको **झंझा** दे
आगे बढ़, ले प्रलय, भेंट तम आज गरज ले ।[4]

अथवा

झंझा है दिग्भ्रान्त रात की मूर्च्छा गहरी
आज पुजारी बने, ज्योति का यह लघु प्रहरी,
... ...

---

१. महादेवी, नीरजा, भारती भण्डार, प्रयाग, प्रथम संस्करण, पृ० ७७ ।
२. महादेवी, नीहार, साहित्य-भवन, प्रयाग, चतुर्थ संस्करण, पृ० २८ ।
३. महादेवी, रश्मि, साहित्य-भवन, प्रयाग, तृतीय संस्करण, पृ० १४ ।
४. महादेवी, दीपशिखा, भारती-भण्डार, प्रयाग, चतुर्थ संस्करण, पृ० ८४ ।

दूत सांझ का इसे प्रभाती तक चलने दो।[1]

अथवा

उर का दीपक चिर, स्नेह अतल
सुधि-लौ शत झंझा में निश्चल,
सुख से भीनी, दुख से गीली
वर्त्ती-सी साँस अशेष रही।[2]

अथवा

ढूँढ़ती **झंझा** मुझे ले
मृत्यु का वरदान!
शेषयामा यामिनी मेरा निकट निर्वाण।[3]

अथवा

चाहो तो दृग स्नेह-तरल दो;
बर्त्ती से निश्वास विकल दो,
झंझा पर हँसनेवाले
उर में भर दीपक की झिलमिल दो![4]

अथवा

गर्जन के शंखों से हो के
आने दो **झंझा** के झोंके,
खोलो रुद्ध झरोखे, मन्दिर
के न रहो द्वारों को रोके!
इस झोंके पर प्रणत, इष्ट के धूमिल पग धोता है![5]

इस तरह **महादेवी** की कविताओं में इन चार तरह के प्रतीकों का प्रयोग हुआ है—वेद और उपनिषद् के प्राचीन प्रतीक, सन्त-साहित्य के प्रतीक, छायावादी काव्य के अतिपरिचित प्रतीक और अप्रस्तुतों के आवर्त्तक प्रयोग से बनाये गये (स्वनिर्मित) प्रतीक। प्रथम प्रकार के प्रतीकों में सूर्य, शतदल, दिवा, निशि, सम्पुट इत्यादि प्रमुख हैं। द्वितीय प्रकार के प्रतीकों में, प्रिय, पिंजर, पंछी, सेज, नदी, नाव प्रभृति उल्लेखनीय हैं। तीसरी कोटि के प्रतीकों में कली, पवन, भ्रमर, वीणा, झंकार, मेघ, वर्षा, क्षितिज, अनन्त, यामिनी इत्यादि ध्यातव्य हैं।

---

१. महादेवी, दीपशिखा, भारती भण्डार, प्रयाग, चतुर्थ संस्करण, पृ० ९० ।
२. वही, पृ० १४४ ।
३. वही, पृ० १२८ ।
४. वही, पृ० १३२ ।
५. वही, पृ० १४२ ।

चौथी कोटि के प्रतीकों में घन, झंझा, दीपक, सांध्यगगन, इन्द्रधनुष इत्यादि गिने जा सकते हैं।

रहस्यात्मकता की दृष्टि से **महादेवी** के काव्य में प्रयुक्त प्रतीकों को हम इन तीन वर्गों में बाँट सकते हैं—यात्राद्योतक प्रतीक, प्रेमद्योतक प्रतीक और यतिभावद्योतक प्रतीक। रहस्यात्मक अनुभूति के क्षणों में कवयित्री ने यात्राद्योतक प्रतीकों के सहारे अज्ञात प्रियतम के 'देश' तक पहुँचने की मनोरम कल्पना की है। हिन्दी कविता में प्रयुक्त 'पिण्ड प्रदेश' और 'उस पार' ऐसी ही यात्रा के गन्तव्य हैं। **महादेवी** को पथ, पाथेय, तरी और नाविक इस तरह के यात्राद्योतक प्रतीकों में अत्यन्त प्रिय हैं। जैसे—

मैं न यह **पथ** जानती री !
... ...
अलि विरह के **पंथ** में मैं तो न इति अथ मानती री ![1]

अथवा

कर मुझे इंगित बता किसने तुझे यह **पथ** दिखाया,
तिमिर में अज्ञातदेशी क्यों मुझे तू खोज पाया !
अग्निपंथी मैं तुझे दूँ
कौन-सा प्रतिदान ?[2]

अथवा

चिर बन्धु **पथ** आप
पग-चाप संल्लाम
दूरी क्षितिज की परिधि ही रही नाप.
हर पल मुझे छांह, हर साँस आवास।[3]

अथवा

मैं गति-विह्वल
पाथेय रहे तेरा दृग-जल
आवास मिले भू का अंचल
मैं करुणा की वाहक अभिनव ![4]

'पथ' और 'पाथेय' की तरह **महादेवी** के यात्राद्योतक प्रतीकों में 'तरी' का प्रयोग भी गिना जा सकता है—

१. महादेवी, दीपशिखा, भारती भण्डार, प्रयाग, चतुर्थ संस्करण, पृ० ६६।
२. वही, पृ० १२८।
३. वही, पृ० १४८।
४. वही, पृ० ७२।

तरी को ले जाओ मँझधार
डूबकर हो जाओगे पार,
विसर्जन ही है कर्णाधार
वही पहुँचा देगा उस पार।[1]

इस प्रसंग में 'यामा' के दो चित्र ('तूफान' और 'यात्रा का अन्त') भी स्मरणीय हैं।

प्रेमद्योतक प्रतीकों में **महादेवी** ने वर्त्ती, लौ, स्नेह, सपना, अभिसार इत्यादि का प्रयोग किया है। सामान्यतः रहस्यवादी कवियों का माधुर्यभाव इन्हीं प्रतीकों के माध्यम से व्यक्त होता रहा है। अलोकसामान्य प्रेमानुभूति को लोकगम्य बनाने तथा लौकिक संकेतों से अलौकिक के प्रति स्नेहासक्ति को दरसाने में ये प्रतीक प्रचुर सहायता करते हैं। **महादेवी** की **'दीपशिखा'** की कविताओं में प्रयुक्त वर्त्ती, लौ और स्नेह[2] को ऐसे ही प्रेमद्योतक प्रतीकों के अन्तर्गत गिना जा सकता है।

तदनन्तर, रहस्यपरक कविताओं में यतिभावद्योतक प्रतीक भी अपना महत्त्व रखते हैं। इन प्रतीकों के सहारे रहस्यवादी कवियों ने अपनी साधना, साधुता, श्रद्धा और वैराग्य की भावना को व्यक्त किया है। **महादेवी** के काव्य में भी इस कोटि के कुछ प्रतीक मिलते हैं, जिनमें मन्दिर, पुजारी, दीपक, नीराजन और प्रतिमा विशेष महत्त्वपूर्ण हैं। इस प्रकार उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि **महादेवी** की कविताओं में प्रयुक्त प्रतीक और प्रतीक-स्वरूप उपमान काव्य-वैभव के उत्कर्ष-विधान में पर्याप्त सफल हैं।

इस प्रसंग में यह ध्यातव्य है कि सभी प्रमुख छायावादी कवियों के प्रतीक-विधान की कुछ निजी विशेषतायें हैं। जैसे, प्रसाद के प्रतीकों में विविधता अधिक है। एक ओर इन्होंने चातक, चकोर, नीरद, कंटक और हंस जैसे परम्परागत प्रतीकों का प्रयोग किया है, तो दूसरी ओर इन्होंने अरुण विभा, रिक्त जलधि और कनक-किरण जैसे लाक्षणिक प्रतीकों की नवीन उद्भावना की है। इतना ही नहीं, इन्होंने अन्य छायावादी[3] कवियों की तरह मदिरा, प्याला,

---

१. महादेवी, नीहार, साहित्य भवन, प्रयाग, १९५५, पृ० २३।

२. लौ ने वर्त्ती को जाना है
वर्त्ती ने यह स्नेह, स्नेह ने
रज का अंचल पहचाना है।
—महादेवी, दीपशिखा, भारती भण्डार, प्रयाग, चतुर्थ संस्करण, पृ० ८८।

३. मैंने कब देखी मधुशाला?
कब मांगा मरकत का प्याला?
कब छलकी विद्रुम-सी हाला?

बहार इत्यादि जैसे कुछ पारसीक प्रतीकों का भी प्रयोग किया है—

लहरों में प्यास भरी है,
है भँवर पात्र भी खाली
मानस का सब रस पीकर
लुढ़का दी तुमने प्याली।[1]

छायावादी-चतुष्टय के बीच **निराला** के प्रतीकों में अधिक विविधता नहीं है। इनके अधिकांश प्रतीक प्रकृति-सौन्दर्य और दर्शनशास्त्र से संबद्ध हैं। **पन्त** के प्रतीक इनके काव्य-विकास की तीन स्थितियों (**'वीणा'**[2] से **'गुंजन'**, **'युगान्त'** से **ग्राम्या'** और **'उत्तरा'** से आज तक) में, जैसाकि **डा० नित्यानन्द शर्मा** ने भी माना है, अपनी अलग-अलग विशेषतायें रखते हैं। **'गुंजन'**-काल तक के इनके प्रतीकों में साहित्यिक चमत्कार अधिक है और ये मुख्यतः प्रकृति-सौन्दर्य से संबद्ध हैं। किन्तु, **'उत्तरा'** और उसकी परवर्त्ती रचनाओं में इन्होंने सांस्कृतिक एवं आध्यात्मिक प्रतीकों का विशेष प्रयोग किया है। राम, सीता, स्वर्ण-चेतना, रुद्र बलाहक इत्यादि इनके ऐसे ही प्रतीक हैं। तदनन्तर, **महादेवी** के प्रतीक भी इन कवियों के प्रतीक की तरह पर्याप्त महत्त्व रखते हैं, जिनका विस्तृत विवेचन पूर्व पृष्ठों में किया जा चुका है। इनके काव्य-संग्रहों के नाम तक प्रतीकात्मक हैं। जैसे, **'नीहार'** (निराशामयी अनिर्दिष्ट वेदना का प्रतीक), **'रश्मि'** (आराध्य के दर्शन की आशा का प्रतीक), **'नीरजा'** (मुद्रित वेदना के प्रस्फुटन का प्रतीक), **'सांध्यगीत'** (श्रम और शान्ति से पूरित वेदना का प्रतीक) तथा **'दीपशिखा'** (साधना का प्रतीक)। दूसरी बात, जिसका निर्देश पहले भी किया जा चुका है, यह है कि इनके प्रतीकों में व्यवस्था और सुनिश्चित अर्थ-निर्धारण का अभाव है, क्योंकि इनका एक ही प्रतीक भिन्न स्थानों पर भिन्न अर्थ रखता है। अतः इनके प्रतीकों का अर्थस्थापन प्रसंग-सापेक्ष है। उदाहरण के लिए, इनके काव्य में 'दीपक' का विभिन्न अर्थों में प्रतीकवत् प्रयोग देखा जा सकता है—

मैंने तो उसकी स्मित में
केवल आँखें धो डालीं।
—महादेवी, यामा, पृ० १६३।
अथवा
मदिरा की वह नदी बहाती आती,
थके हुये जीवों को वह सस्नेह
प्याला एक पिलाती।
—निराला, परिमल, प्रथम संस्करण, पृ० १६७।

१. प्रसाद, आँसू, भारती-भण्डार, प्रयाग, नवम् संस्करण, पृ० २८।

(क) शरीर और प्राण के लिए प्रयुक्त :

गये तबसे कितने युग बीत
हुये कितने **दीपक** निर्वाण ।[1]

(ख) सितारों के लिए प्रयुक्त :

गोधूली नभ के आंगन में
देती अगणित **दीपक** बार ।[2]

(ग) तादात्म्य-भाव के लिए प्रयुक्त :

दीपकमय कर डाला जब
जलकर पतंग ने जीवन ।[3]

(घ) साधना के लिए प्रयुक्त :

मधुर-मधुर मेरे **दीपक** जल ।[4]

(च) चिरन्तन प्रिय के लिए प्रयुक्त :

राख क्षणिक पतंग की है
अमर दीपक की निशानी ।[5]

इस तरह इन उद्धरणों से **महादेवी** के प्रतीकों का प्रसंग-सापेक्ष अर्थ-वैभिन्न्य स्पष्ट हो जाता है।

उपर्युक्त विश्लेषण के बाद अब हम छायावादी कविता में प्रयुक्त प्रतीकों का वर्गीकरण इस प्रकार उपस्थित कर सकते हैं—

सार्वभौम प्रतीक—(वह प्रतीक जिसके प्रति सभी देशों और सभी युगों में एक जैसी धारणा हो)—फूल (उल्लास), कांटा (दुख, बाधा)।

देशगत प्रतीक—कल्पवृक्ष, गंगा, कामधेनु।

परम्परागत प्रतीक—(युग-युग से एक ही अर्थ में प्रयुक्त होने वाले प्रतीक) चातक, घन, अमृत, हंस, इत्यादि।

इन्हें हम एकोन्मुखी प्रतीक भी कह सकते हैं, क्योंकि इनमें रूपकातिशयोक्ति के अप्रस्तुत-जैसी अर्थगत निश्चयात्मकता रहती है।

व्यक्तिगत प्रतीक या नवीन प्रतीक-स्वरूप उपमान—(अभिव्यक्ति की घिसी-पिटी पद्धतियों और खिरे हुये प्रतीकों को छोड़कर जब कवि अपनी रचना को अधिक मार्मिक एवं प्रभावोत्पादक बनाना चाहता है, तब व्यक्तिगत प्रतीकों

---

१. महादेवी, यामा, पृ० १०।
२. वही, पृ० ६।
३. वही, पृ० ४५।
४. वही, पृ० १४५।
५. वही पृ० १३५।

की सृष्टि होती है। इस नूतन सृजन में कवि की व्यक्तिगत अभिरुचि और युग-धारा का महत्त्वपूर्ण योग रहता है)।—**प्रसाद** के द्वारा प्रयुक्त अरुण विभा, रजनी का आपानक, नीलम की नाव; **निराला** के द्वारा प्रयुक्त स्वर्ण-प्रतिमा, हीरे की खान, मीन; **पन्त** के द्वारा प्रयुक्त मोतीवाली मछली, निस्तल जल, लहरों का तट; **महादेवी** के द्वारा प्रयुक्त दीपक, अरुण बाण, दर्पण।

युगगत प्रतीक—(छायावाद-युग की मसृण भावनाओं से संबद्ध प्रतीक)—वीणा, मधुमास, कली, सीपी।

भावात्मक प्रतीक—(भावना से आनीत और भावना को समीरित करने वाले प्रतीक)—पतझड़, फुलवारी, नवकुसुम, क्यारी, इत्यादि।

बंगला साहित्य, विशेषकर रवि बाबू के काव्य से प्रभावित प्रतीक—निर्झर, यामिनी, पाषाण, झंकार इत्यादि।

इस वर्गीकरण के अलावा छायावादी प्रतीकों का प्रकार-निर्धारण अन्य दृष्टियों से भी किया जा सकता है। उदाहरणार्थ, भावन की दृष्टि से हम छायावादी प्रतीकों को मुख्यतः इन पाँच प्रकारों में बाँट सकते हैं—एकार्थक प्रतीक, श्लिष्ट प्रतीक, अपक्व प्रतीक और गूढ़ार्थ प्रतीक। इसी तरह उद्‌भावना, वर्ण्य विषय और निर्माण की दृष्टि से छायावादी प्रतीकों का प्रकार-निर्धारण, क्रमशः, इस प्रकार उपस्थित किया जा सकता है—

(क) उद्‌भावना की दृष्टि से—
 १. सादृश्य-निर्भर प्रतीक
 २. साधर्म्य-निर्भर प्रतीक
 ३. विरोधमूलक प्रतीक।

(ख) वर्ण्य विषय की दृष्टि से—
 १. कलात्मक प्रतीक (कला-जगत् से लिए गए प्रतीक)
 २. पौराणिक या धार्मिक प्रतीक
 ३. प्राकृतिक प्रतीक
 ४. शृंगारिक प्रतीक
 ५. क्रिया-कलापमूलक प्रतीक

(ग) निर्माण की दृष्टि से—
 १. सन्दर्भयुक्त प्रतीक
 २. संघननशील प्रतीक
 ३. सर्वात्मवादी प्रतीक (जो निर्जीव होकर भी सजीव की तरह चित्रित किया गया हो।)

४. रूढ़ प्रतीक[1]

५. स्वच्छन्द प्रतीक[2]

इस विश्लेषण के उपरान्त छायावादी प्रतीकों पर वेद और उपनिषदों में प्राप्त प्रतीक-विधान की दृष्टि से भी विचार कर लेना समीचीन प्रतीत होता है, क्योंकि छायावादी प्रतीक-विधान पर यदा-कदा वेद और उपनिषद् के प्रतीकों की छाया दीख पड़ती है। जैसे, पन्त की 'ज्योति-वृषभ' शीर्षक कविता की इन पंक्तियों—

स्वर्ण शिखर से चतुश्रृंग हैं उसके शिर पर
दो उसके शुभ शीर्ष : सप्त रे ज्योति हस्त वर !

---

१. रूढ़ प्रतीकों के अन्तर्गत परम्परागत प्रतीक और साम्प्रदायिक प्रतीक आते हैं। परम्परागत प्रतीकों के क्षेत्र में हम पौराणिक तथा ऐतिहासिक प्रतीकों को गिन सकते हैं। उदाहरण :—

(क) परम्परागत प्रतीक—

नयन में जिसके जलद वह तृषित चातक हूँ।
शलभ जिसके प्राण में वह निठुर दीपक हूँ।
फूल को उर में छिपाये विकल बुलबुल हूँ।

—महादेवी, आधुनिक कवि, पृ० ५४।

(ख) साम्प्रदायिक प्रतीक—

शक्ति-तरंग प्रलय पावक का
उस त्रिकोण में निखर उठा-सा,
श्रृंग और डमरू-निनाद बस
सकल विश्व में बिखर उठा-सा।

—प्रसाद, कामायनी, भारती-भण्डार, प्रयाग, अष्टम संस्करण, पृ० २७३।

२. स्वच्छन्द प्रतीकों के अन्तर्गत आध्यात्मिक और रहस्यात्मक प्रतीक आते हैं। उदाहरण :—

(क) आध्यात्मिक प्रतीक—निराला की 'तुम और मैं' शीर्षक कविता।

(ख) रहस्यात्मक प्रतीक—(ऐसे प्रतीकों के द्वारा दृश्य वस्तुओं में अदृश्य संकेतों का आधान किया जाता है और उनकी रमणीय व्यंजना की जाती है।)

कभी उड़ते पत्तों के साथ
मुझे मिलते मेरे सुकुमार,
बढ़ाकर लहरों से निज हाथ
बुलाते, फिर मुझको उस पार !

इन पंक्तियों में पन्त ने 'मेरे सुकुमार', 'लहरों के हाथ' और 'उस पार' के द्वारा अदृश्य संकेत प्रस्तुत किया है। अतः ये रहस्यात्मक प्रतीक हैं।

तीन पाद पर खड़ा, मर्त्य इस जग में आकर
त्रिधा बद्ध वह वृषभ, रँभाता है दिग-ध्वनि भर।[१]

का पृथुल साम्य (अनुवाद रहने के कारण) **ऋग्वेद** की इन पंक्तियों के साथ है—

चत्वारि शृंगास्त्रयो अस्य पादा—
द्वे शीर्षे सप्त हस्तासो अस्या
त्रिधा बद्धो वृषभो रोरवीति
महादेवो मर्त्या आ विवेश ।[२]

इसी तरह **पन्त** की 'अश्व', 'सोमपायी', 'सन्यासी का गीत' इत्यादि कविताओं में वैदिक प्रतीकों की स्पष्ट छाया है। इतना ही नहीं, **'कामायनी'** के तीनों प्रमुख पात्र—मनु, श्रद्धा और इड़ा—वैदिक साहित्य के प्रतीकों के प्रभाव की घोषणा करते हैं। किन्तु, इन प्रभावों के बावजूद छायावादी प्रतीकों और औपनिषदिक प्रतीकों में विचारणीय अन्तर है। इन दोनों में एक प्रमुख अन्तर यह है कि छायावादी प्रतीकों में प्रकृति और परम चेतना (स्पिरिट) का भेद कुछ न कुछ अंशों में बना रह गया है, जबकि औपनिषदिक प्रतीकों में इन दोनों (प्रकृति और परम चेतना) का अभेद भी मिलता है। इस 'अभेद' को **महेन्द्रनाथ सरकार** ने औपनिषदिक प्रतीकवाद का एक विशिष्ट लक्षण माना है।[3] बात यह है कि प्रकृति और चेतना की दृष्टि से भावनाओं के दो धरातल प्रस्तुत होते हैं। एक धरातल है सर्वचेतनावाद[४] का, जिसमें चेतना के आरोप के बाद भी प्रकृति और चेतना का द्वैत—भेद—बना रह जाता है। छायावाद में हमें भावनाओं के इसी धरातल पर प्रतीकों का आनयन मिलता है। किन्तु, भावनाओं का एक दूसरा धरातल होता है, जो पार्यन्तिक होता है। इस धरातल पर प्रकृति और चेतना का द्वैत मिट जाता है और प्रकृति का अध्यात्मीकरण इस प्रकार हो जाता है कि प्रकृति और चेतना के द्वैत का कोई आभास शेष नहीं रहता है। **महेन्द्रनाथ सरकार** का मत है कि औपनिषदिक प्रतीक इसी उन्नत धरातल पर आनीत हुए हैं। इस दृष्टि से छायावादी प्रतीकों और औपनिषदिक प्रतीकों का एक ध्यातव्य अन्तर स्पष्ट है।

महेन्द्रनाथ सरकार ने औपनिषदिक प्रतीकों के दो प्रमुख प्रकार निरूपित

---

१. पन्त, स्वर्णधूलि, पृष्ठ ११४।
२. ऋग्वेद, ४। ५८। ३।
३. Mahendranath Sircar, Hindu Mysticism, London, 1934, Page 245.
४. Animism.

किये हैं—कृत्रिम प्रतीक और प्राकृतिक प्रतीक।[५] कृत्रिम प्रतीक कुछ क्षणों के लिए हमारे मनःप्रदेश को आन्दोलित करते हैं। अतः इन प्रतीकों का कोई स्थायी प्रभाव हमारे चित्त और स्वभाव पर नहीं पड़ता है। ये हमारे मनः प्रदेश की सीमा-रेखाओं का स्पर्श भर कर सकते हैं। किन्तु, इसके विपरीत प्राकृतिक प्रतीक हमारे अन्तर्मन को पूर्णतः आन्दोलित करते हैं और उस पर अपना स्थायी प्रभाव मुद्रित कर देते हैं। इनमें एक प्रकार की आध्यात्मिक गतिशीलता रहती है, जो मनुष्य और प्रकृति की चेतना का पारस्परिक संवाद प्रसारित करती है। इस प्रकार यदि **महेन्द्रनाथ सरकार** के प्रकार-निरूपण और उसकी व्याख्या को स्वीकार किया जाय, तो छायावादी कविता के अधिकांश प्रतीक कृत्रिम प्रतीक की कोटि में आयेंगे। केवल **प्रसाद** की **'कामायनी'** में कुछ ऐसे प्रतीक योजित हुए हैं, जिनकी गणना इस दृष्टि से प्राकृतिक प्रतीकों में की जा सकती है।

---

५. Mahendranath Sircar, Hindu Mysticism, London, 1934, Page 250.

शोध-निष्कर्ष :

उपसंहार

उपसंहार

पूर्ववर्त्ती अध्यायों से यह स्पष्ट हो चुका है कि इस शोध-प्रबन्ध में चार प्रमुख कला-तत्त्वों—सौन्दर्य, कल्पना, बिम्ब और प्रतीक—का सौन्दर्यशास्त्रीय अध्ययन छायावादी कविता के विशेष सन्दर्भ में उपस्थित किया गया है। इन तत्त्वों का काव्यशास्त्रीय अध्ययन उपस्थित न कर, सौन्दर्यशास्त्रीय अध्ययन इसलिये उपस्थित किया गया है कि एक व्यापक दृष्टि से समग्र ललित कलाओं के विस्तृत फलक को ध्यान में रखते हुये काव्य के अन्तर्गत समाहित कला-तत्त्वों की अधिकारपूर्ण मीमांसा हो सके। काव्य-तत्त्वों के अध्ययन में इस सौन्दर्य-शास्त्रीय दृष्टि को महत्त्व देने का प्रमुख कारण यह है कि काव्य का काव्येतर ललित कलाओं के पाथ घनिष्ठ संबंध है और काव्य भी अन्य कलाओं की तरह मनुष्य के सृजनात्मक अन्तर्मन की एक रचनात्मक क्रिया है। अतः काव्य एवं अन्य ललित कलाओं में जहां रूप, शैली और अभिव्यक्ति के माध्यम से सम्बद्ध अनेक पार्थक्य हैं तथा इन सभी कलाओं की अनेक निजी विशेषतायें हैं, वहाँ काव्य और अन्य ललित कलाओं के बीच ऐसे तात्त्विक साम्य और अन्तःसंबंध भी हैं, जिन्हें उपेक्षणीय नहीं माना जा सकता है। काव्य और अन्य ललित कलाओं के बीच इन्हीं तात्त्विक साम्य और अन्तःसंबंधों के कारण काव्य का अध्ययन केवल काव्यशास्त्रीय दृष्टि से ही नहीं, बल्कि सौन्दर्यशास्त्रीय दृष्टि से भी किया जाना चाहिये ताकि काव्य के गुणावगुणों का परीक्षण समग्र ललित कला के व्यापक निकष पर हो सके और कविता की कुछ गण्य विशेषतायें कला-जगत् के प्रतिमान के रूप में स्थापित हो सकें।

ललित कला या काव्य के प्रमुख तत्त्वों में सौन्दर्य का शीर्षस्थानीय महत्त्व है। इस सौन्दर्य-तत्त्व पर सैद्धान्तिक दृष्टि से विचार करने के बाद निम्नलिखित बातें हमारे समक्ष उपस्थित होती हैं—

(१) सौन्दर्य-सृजन और सौन्दर्य-भावन में स्रष्टा और सहृदय की स्वाद-रुचि तथा संस्कार का सापेक्ष महत्त्व है, क्योंकि स्रष्टा (कलाकार) या सहृदय की रुचि और संस्कार उसके साहचर्य, परिवेश एवं अभ्यास पर निर्भर करते हैं।

(२) सौन्दर्य-चेतना का बहुत ही ऋजु संबंध मनुष्य के भावात्मक संवेगों के साथ है।

(३) प्रायोगिक सौन्दर्यशास्त्र में विवेचित सौन्दर्य के साथ काव्य या अन्य

ललित कलाओं का कोई गहरा संबंध नहीं है ।

(४) कला-चिन्तन की दृष्टि से सौन्दर्य के प्रति भारतीय दृष्टिकोण ही सर्वोत्तम प्रतीत होता है, क्योंकि इसमें आध्यात्मिक वृत्ति, आन्तरिकता और प्रकृति-प्रेम को प्रचुर महत्त्व दिया गया है ।

(५) सौन्दर्यानुभूति का आनन्द से अनिवार्य संबंध है ।

और (६) 'उदात्त' सौन्दर्य का चरम रूप है ।

सौन्दर्य से सम्बद्ध इन तात्त्विक मान्यताओं के आलोक में छायावादी कविता की सौन्दर्य-चेतना पर विचार करने के उपरान्त हम निम्नांकित निष्कर्षों पर पहुँचते हैं—

(१) छायावादी सौन्दर्य-चेतना पूर्ववर्त्ती काव्य की तुलना में अधिक सूक्ष्म, विचारगर्भ और कलापूर्ण है ।

(२) छायावादी सौन्दर्य-दृष्टि मूलतः आत्मनिष्ठ और आध्यात्मिक है । फलस्वरूप इसमें कवि के आत्म-तत्त्व की अभिव्यक्ति अधिक हो सकी है और प्रायः सर्वत्र सौन्दर्य-विधान में भावों के आलम्बन तथा परिवेश या आवेष्टन के प्रति कौतूहल और जिज्ञासा की मनोदशा बनी रह गई है ।

(३) दिव्य और अरूप के प्रति आग्रह तथा रूढ़ियों के प्रति विद्रोह-भाव रखने के कारण छायावादी कवियों को 'निर्बन्ध', 'स्वच्छन्द' या 'उन्मुक्त' सौन्दर्य अधिक प्रिय है । सौन्दर्य के प्रति इस स्वच्छन्द और निर्बन्ध धारणा को हम छायावादी सौन्दर्य-चेतना का एक महत्त्वपूर्ण 'रोमांटिक' गुण मान सकते हैं ।

(४) छायावादी कविता में मानव-सौन्दर्य और प्रकृति-सौन्दर्य—दोनों का युगपद् निर्वाह हुआ है । एक ओर छायावादी कविताओं में मानव-सौन्दर्य को प्रकृति-सौन्दर्य की प्रतिछबि के रूप में अंकित किया गया है, तो दूसरी ओर मानवीकरण के आधिक्य के द्वारा प्रकृति-सौन्दर्य पर मानव-सौन्दर्य को मुद्रित किया गया है । इस तरह छायावादी सौन्दर्य-चेतना मानव-सौन्दर्य और प्रकृति-सौन्दर्य के आश्लेष की दृष्टि से बहुत ही महत्त्वपूर्ण है ।

(५) छायावाद-युग में कवि की सौन्दर्य-भावना का उन्मुक्त संचरण विराट् से लेकर क्षुद्र तक समान रूप में हुआ है, क्योंकि सर्वचेतनावादी दृष्टि की प्रधानता के कारण छायावादी कवि को सम्पूर्ण सृष्टि के कण-कण में लोकोत्तर परम चेतना का भास्वर प्रकाश देखने को मिला है । अतः छायावादी काव्य में सौन्दर्य को 'विभु' रूप में स्वीकार किया गया है ।

(६) रीतिकाल की वासनोन्मुख मांसल सौन्दर्य-दृष्टि के प्रति तीव्र प्रतिक्रिया के कारण छायावादी कवि 'सूक्ष्म' सौन्दर्यानुभूति की ओर झुके, किन्तु, यथार्थोन्मुख सौन्दर्य-दृष्टि के अभाव में ये अपनी धारणा पर दृढ़ नहीं रह सके । फलस्वरूप, इनकी सौन्दर्य-दृष्टि कुछ स्थलों पर सूक्ष्म और कुछ स्थलों

पर मांसल हो गई, जिस दोलाचल स्थिति का आंशिक परिष्कार इन्होंने अपनी प्रौढ़तर कृतियों में किया है ।

तदनन्तर, काव्य अथवा ललित कला के प्रमुख तत्त्वों के अन्तर्गत कल्पना पर तात्त्विक दृष्टि से विचार करके हम निम्नलिखित निष्कर्षों पर पहुँचते हैं—

(१) कल्पना कलाकार की वह मानसिक सृजन-शक्ति है, जिसमें नन्दतिक बोध के साथ सम्मूर्त्तन की क्षमता और भावोद्बोधन का गुण रहता है ।

(२) स्मृति के साथ कल्पना का निकट संबंध है, क्योंकि कल्पना की पृष्ठभूमि में ज्ञातविषयक ज्ञान (स्मृति और प्रत्यभिज्ञा) की उपस्थिति आवश्यक है। स्मृति के तीन प्रमुख उद्बोधनों—सादृश्य, अदृष्ट और चिन्ता में 'सादृश्य' के साथ कल्पना का सबसे अधिक घना संबंध है । इसी तरह कल्पना का संबंध ज्ञात-विषयक ज्ञान के दूसरे रूप—प्रत्यभिज्ञा से भी है । यह प्रत्यभिज्ञा 'तत्ता' (पूर्वदेश तथा पूर्वकाल) और 'इदन्ता' (एतद्देश तथा एतत्काल)—दोनों का अवगाहन करनेवाली प्रतीति है । इस प्रत्यभिज्ञा के तीन प्रधान भेदों—तत्सदृश प्रत्यभिज्ञा, तद्विलक्षण प्रत्यभिज्ञा और तत्प्रतियोगी प्रत्यभिज्ञा में प्रथम दो अर्थात् तत्सदृश प्रत्यभिज्ञा और तद्विलक्षण प्रत्यभिज्ञा के साथ कल्पना का अधिक मेलजोल है ।

(३) कल्पना जहाँ उस वस्तु का बोधाभास करती है, जो 'वस्तु' वास्तव में इन्द्रिय-ग्राह्य नहीं है, वहाँ उसमें अनुमान का समावेश हो जाता है। कारण, जो वस्तु या पदार्थ इन्द्रिय-ग्राह्य नहीं है, उसके ज्ञान के साधन को ही अनुमान कहते हैं । फलस्वरूप, कल्पना का संबंध अनुमान के सभी रूपों (वीत और अवीत) के साथ है ।

(४) विभिन्न कलाओं में कल्पना के विनियोग की मात्रा सर्वथा एक-सी नहीं रहती है । जिस कला का मूर्त्त आधार जितना ही स्थूल होता है, उस कला में कल्पना के विनियोग की मात्रा उतनी ही कम रहती है । इस दृष्टि से कल्पना का अल्पतम विनियोग स्थापत्य कला में और सर्वाधिक विनियोग काव्य-कला में मिलता है । तदनन्तर, दृश्यकला और श्रव्यकला के विभाजन को दृष्टि-गत रखते हुए हम कह सकते हैं कि स्थापत्यकार, मूर्त्तिकार और चित्रकार के पास सम्मूर्त्तन-प्रधान कल्पना की अधिकता रहती है, जबकि संगीतकार और कवियों के पास संवेगात्मक कल्पना की प्रधानता रहती है ।

(५) काव्य एवं अन्य ललित कलाओं के सौंदर्य-बोध की दृष्टि से कला-जगत् में अतिरंजक कल्पना या अतिकल्पना[१] की तुलना में कल्पना का निर्विवाद

---

१. Fancy.

ऊँचा स्थान है ।

कल्पना-संबंधी उपर्युक्त निष्कर्षों को दृष्टिगत रखते हुए छायावादी कविता के कल्पना-विधान पर विचार करने से हमारे समक्ष ये तथ्य उपस्थित होते हैं—

(१) छायावादी कविता कल्पना-तत्त्व की दृष्टि से बहुत समृद्ध है । सिद्धान्ततः छायावादी कवियों के बीच अनुभूति और कल्पना के प्राथमिक महत्त्व को लेकर मतैक्य नहीं है, किन्तु व्यवहारतः सभी छायावादी कवि एक बिन्दु पर हैं और इनकी रचनाओं में सर्वत्र कल्पना का अबाध महत्त्व है ।

(२) छायावादी कल्पना-विधान में आत्मनिष्ठता अधिक है । फलस्वरूप छायावादी कल्पना अस्पष्ट संकेतों के द्वारा अन्तर्जगत् के सत्यों का नवान्वेषण करने में बहुधा प्रवृत्त रही है । दूसरी ओर कल्पना-विधान में आत्मनिष्ठता की बहुलता के कारण छायावादी कविता की प्रेषणीयता एक नवीन भूमि पर प्रतिष्ठित हो गई है, जो अपने सभी पूर्ववर्त्ती रूपों से भिन्न है ।

(३) छायावादी कविता में अन्तर्जगत्, वैयक्तिकता और रहस्यप्रियता के प्रति आग्रह रहने के कारण उसके कल्पना-विधान में यदा-कदा वस्तुसम्पृक्त आधार की अवहेलना हो गई है, जिसके फलस्वरूप छायावादी कविता में अनेक स्थलों पर अतिकल्पना (फैंसी) का अवतरण हो गया है ।

(४) छायावादी कविता में कल्पना के प्रति एक विशिष्ट भंगिमा मिलती है, जिसे हम इस प्रकार उपस्थित कर सकते हैं—(क) कल्पना कवि और काव्य के लिए सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है, (ख) कल्पना में एक असाधारण शक्ति होती है और (ग) कल्पना अलीक नहीं होती, उसमें भी सत्य का अंश रहता है ।

(५) छायावादी कविता में कल्पना के दो प्रमुख प्रकार मिलते हैं—पुनर्निर्मायक कल्पना और रचनात्मक कल्पना । इन कल्पना-प्रकारों का विकास निम्नलिखित रूप में हुआ है—
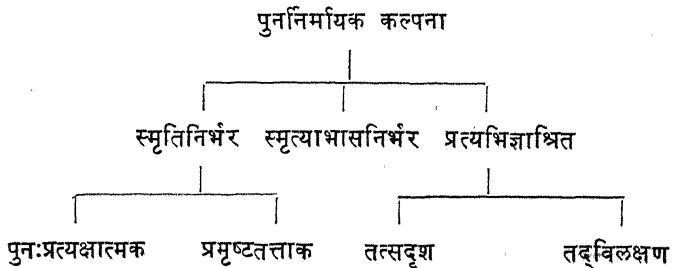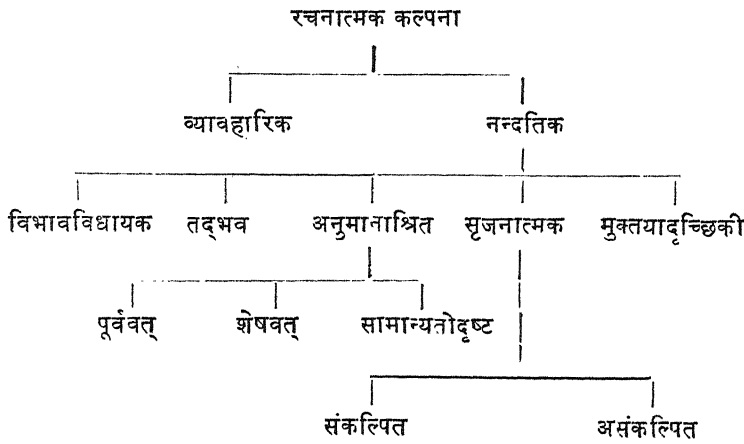
(६) उत्पादक या रचनात्मक कल्पना का विकास छायावादी कविता में रमणीय कल्पना के रूप में हुआ है, जिसके विविध प्रकार हैं—सावयव (उपकरणमूलक, निषेधात्मक, सांग और मालारूप), तिर्यक्, सादृश्य-निर्भर (साहचर्याश्रित, विस्थापित सादृश्य पर आश्रित, सूझ पर आश्रित, और पर्य-वेक्षणाश्रित), उदात्त, विभावनशील और मानवीकरण-निर्भर (सन्दर्भात्मक तथा स्फुट)। इस तरह स्पष्ट है कि छायावादी कविता में रमणीय कल्पना की ओर विशेष रुझान है।

काव्य एवं काव्येतर ललित कलाओं के क्षेत्र में कल्पना की तरह बिम्बों का भी प्रचुर महत्व है, क्योंकि कलाकार की सूक्ष्म भावनाओं या अमूर्त्त सहजानु-भूतियों को बिम्बों के द्वारा ही मूर्त्तता अथवा अभिव्यक्ति की चारुता मिलती है। तात्त्विक दृष्टि से विचार-विमर्श करके बिम्ब के संबंध में निम्नलिखित मान्यतायें निरूपित की जा सकती हैं—

(१) जब कल्पना मूर्त्त रूप धारण करती है, तब बिम्बों की सृष्टि होती है और जब बिम्ब प्रतिमित या व्युत्पन्न अथवा प्रयोग के पौन:पुन्य से किसी निश्चित अर्थ में निर्धारित हो जाते है, तब वे प्रतीकों का रूप ग्रहण कर लेते हैं।

(२) बिम्बविधान के समय कल्पना बहुत ही कार्यरत रहती है। पहले कल्पना स्मृति के क्रोड़ में सोये हुए मानसिक बिम्बों को प्रत्यक्षोपलब्ध अनु-भूतियों के स्पर्श से जगाती है और तब उन बिम्बों को अभीप्सित शिल्प के साँचे में ढालती है।

(३) बिम्ब-विधान में प्रायः मूर्त्तता, सादृश्य और ऐन्द्रिय बोध की उपस्थिति रहती है। जो बिम्ब जितना ही ऐन्द्रिय रहता है, वह उतना ही

सशक्त होता है। अतः उत्कृष्ट बिम्ब कवि या कलाकार के घनीभूत संवेगों से संश्लिष्ट रहता है।

(४) वस्तुविशेष के प्रति ऐन्द्रिय आकर्षण कलाकार को बिम्ब-विधान की ओर प्रेरित करता है। हालाँकि बिम्ब-विधान के समय कलाकार के समक्ष केवल वस्तु-बोध ही नहीं रहता, बल्कि विभिन्न प्रकार के आसंगों, संवेदनों अथवा प्रभावों का सातत्य भी रहता है। इस तरह कला-जगत् के बिम्ब इन्द्रियों के सन्निकर्ष में आई हुई वस्तुमात्र को नहीं, वस्तु के विशेष और विविध भाव-सम्बन्धों को भी मूर्त्तिमान करते हैं।

(५) सामूहिक अवचेतन से संबद्ध बिम्ब मनोविज्ञान ही नहीं, सौन्दर्यशास्त्र की दृष्टि से भी अधिक महत्त्वपूर्ण होते हैं, क्योंकि इनमें आशुग्राह्यता का गुण रहता है।

(६) जिन विचारकों ने अन्य ललित कलाओं को छोड़कर केवल काव्य की दृष्टि से बिम्बों का विवेचन किया है, उन्होंने बिम्ब को मात्र शब्दाश्रित माना है। किन्तु, बिम्बों को अलंकार-प्रणाली के अप्रस्तुतों की तरह मात्र शब्दाश्रित मान लेने से काव्येतर ललित कलाओं का पक्ष छूट जाता है। अतः समग्र ललित कलाओं की दृष्टि से बिम्बों को सौन्दर्य-बोध पर आश्रित रूप-विधान मानना अधिक समीचीन है और बिम्बों का वर्गीकरण या विभाजन इन्द्रिय-बोध के आधार पर करना अधिक युक्तिसंगत है।

छायावादी कवियों ने बिम्ब-विधान के प्रति सौन्दर्यशास्त्रीय जागरूकता का निर्वाह किया है। इन्होंने बिम्ब के लिए प्रायः 'चित्र' का प्रयोग किया है और काव्य में चित्र-विधान (अर्थात् बिम्ब-विधान) के प्रति आग्रह प्रदर्शित किया है। इन्होंने भाव, चित्र और शब्द-चयन की पारस्परिक अनुकूलता को उत्कृष्ट 'चित्र-विधान' का साधन माना है। छायावादी कविता के चित्र-विधान पर बिम्ब सम्बन्धी उपरिनिवेदित मान्यताओं के आलोक में विचार करने से हमारे समक्ष उसकी ये विशेषतायें उपस्थित होती हैं—

(१) छायावादी बिम्ब-विधान का एक उल्लेखनीय अंश पुराने बिम्बों पर कल्पना की नयी मीनाकारी से भरा-पड़ा है। छायावादी कवियों ने अपनी मौलिकता या कल्पना-वैचित्र्य के सहारे जहाँ अनेक नवीन कलात्मक बिम्बों का निर्माण किया है, वहाँ इन्होंने संस्कृत काव्य के कुछ पुराने या प्रयोग की आवृत्ति से घिसे हुए बिम्बों को नयी व्यंजना या नयी संवेदनाओं के सन्दर्भ में रखकर उन्हें नूतन अर्थछवियाँ प्रदान की हैं।

(२) छायावादी कविता में शब्द-बिम्ब, वर्ण-बिम्ब, सहसंवेदनात्मक बिम्ब, समानुभूतिक बिम्ब, व्यंजनाप्रवण सामाजिक बिम्ब, असंवेष्टित या प्रसृत बिम्ब

और कल्पनाश्रयी तिर्यक् बिम्ब कलात्मकता की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण स्थान रखते हैं।

(३) छायावादी कविता में अमिश्र ऐन्द्रिय बोध पर निर्भर बिम्बों की संख्या सर्वाधिक है। इन संख्याबहुल बिम्बों के रूप और प्रकार को हम इस तालिका से अच्छी तरह समझ सकते हैं—
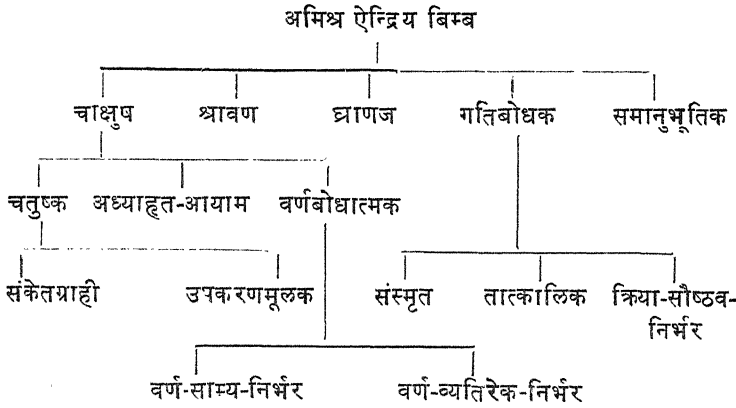
(४) छायावादी कविता में इन अमिश्र ऐन्द्रिय बोध-निर्भर बिम्बों के अन्तर्गत चाक्षुष बिम्बों की प्रधानता है और ये चाक्षुष बिम्ब अधिकतर रंग-परिज्ञान या वर्ण-बोध से युक्त हैं। इस वर्ण-बोध के समावेश से छायावादी कवियों के चाक्षुष बिम्ब-विधान में कलात्मक सौष्ठव का संवर्द्धन हो गया है। साथ ही यह वर्ण-परिज्ञान छायावादी कवियों की आन्तरिक मनोवृत्ति और कलाचेतना को परखने में सहायक का काम करता है।

(५) छायावादी कविता में वेगोद्भेदक बिम्बों का विधान मिलता है, क्योंकि इनकी सृष्टि गति और ध्वनि के विरूप मिश्रण से हुआ करती है। अतः वेगोद्भेदक बिम्बों के विरूपता या रुक्षता से संश्लिष्ट रहने के कारण छायावाद के कोमलप्राण कवि इनका अधिक उपयोग नहीं कर सके हैं।

(६) छायावादी कविता के उदात्त बिम्बों में विशालता के साथ भयंकरता की अनिवार्य स्वीकृति नहीं है। छायावादी कवियों ने अधिकांश स्थलों पर 'उदात्त' में न्यस्त भयंकरता का स्थान मसृणता को दे दिया है। इस तरह यह कहा जा सकता है कि विशालता के साथ (भयंकरता के बदले) मसृणता के मिश्रण से उदात्त बिम्बों का विधान छायावादी कवियों की कोमल प्रकृति, मृदुल कला और सुकुमार भावों के अधिक अनुकूल पड़ता है।

बिम्ब के समान प्रमुख कला-तत्त्वों में प्रतीक का भी उल्लेखनीय स्थान है। प्रतीक-सृजन मनुष्य की चिन्तन-प्रणाली और क्रिया का एक आवश्यक अंग है, क्योंकि प्रतीक-सृजन के माध्यम से मानव-समाज के सांस्कृतिक प्रयासों को अभिव्यक्ति मिलती है, जिनके लिये दृश्य और श्रव्य कलायें सर्वोत्तम अधिकरण सिद्ध होती हैं। इस तरह कला-जगत् में प्रतीकों का शीर्षस्थानीय महत्त्व है। तात्त्विक दृष्टि से प्रतीकों पर विचार-विमर्श करने के बाद हम निम्नलिखित निष्कर्षों पर पहुँचते हैं—

(१) बिम्ब और प्रतीक में मुख्य अन्तर यह है कि बिम्ब-विधान में जहाँ सम्मूर्त्तन और चित्रोपमता को प्रधानता दी जाती है, वहाँ प्रतीक-विधान में एक अभिव्यक्ति-लाघव के साथ किसी सूक्ष्म सत्य, सौन्दर्य या प्रभाव की संकेत-व्यंजना की जाती है। (यहाँ यह ध्यातव्य है कि बिम्ब भी यदा-कदा प्रयोग की आवृत्ति से किसी विशेष अर्थ में प्रतिमित होकर प्रतीक का रूप धारण कर लेते हैं।)

(२) कला-जगत् में विभु सौन्दर्य और सूक्ष्म भावों को व्यक्त करने के लिये प्रतीकों का प्रयोग किया जाता है, क्योंकि इनकी अभिव्यक्ति प्रतीकों के बिना असंभव हुआ करती है। कलाकार स्वानुभूति के जिन अंशों को सामान्य अभिव्यक्ति के प्रचलित साँचों में नहीं ढाल पाता है, उन अंशों की व्यंजना या अभिव्यक्ति के लिये ही वह प्रतीकों का सहारा लेता है। इस तरह कलाकार स्वानुभूति के 'अकथनीय' अंशों को प्रतीक-विधान के द्वारा व्यक्त और प्रेषित करता है।

(३) कला-जगत् के प्रतीकों पर सौन्दर्यशास्त्रीय विचार-विमर्श करते समय प्रतीक-सन्दर्भ[१] को पर्याप्त महत्त्व दिया जाता है।

(४) कला-जगत् के प्रतीक एवं अन्य प्रतीकों, जैसे—धर्म, दर्शन या विज्ञान के प्रतीकों में मुख्य अन्तर यह है कि धर्म, दर्शन अथवा विज्ञान के प्रतीक सर्वथा निर्धारित एवं स्वीकृत अर्थ रखते हैं। इन क्षेत्रों में प्रतीकों के निर्दिष्ट अभिप्राय के सम्बन्ध में प्रयोक्ता तथा श्रोता या पाठक अथवा द्रष्टा प्रायः एकमत रहते हैं। किन्तु, कला के प्रतीकों में प्रयोक्ता और पाठक, द्रष्टा या श्रोता के बीच किसी निर्धारित अर्थ के लिये ऐसा विश्रब्ध ऐकमत्य नहीं रहता है, बल्कि इसके विपरीत कला के प्रतीकों में अर्थ की संभावनाओं और नमनीयता का पर्याप्त महत्त्व रहता है।

(५) धार्मिक प्रतीक कला-जगत् के प्रतीक से इस अर्थ में भी भिन्न होते हैं कि धर्म के प्रतीक लौकिक मनोराग या संवेग पर नहीं, विश्वास-भावना पर निर्भर रहते हैं। इसलिये कोई धार्मिक प्रतीक तब तक प्रभाव नहीं पैदा करता

---

१. Symbolic reference.

है, जब तक सहृदय अथवा भावक के पास उसके अनुकूल विश्वास-भावना न रहती हो।

(६) इस तरह स्पष्ट है कि कला के प्रतीक कवि, कलाकार अथवा आश्रय की अनुभूति या मनोदशा के व्यंजक हुआ करते हैं। इनमें याथातथ्य या एतावत्व के बदले सामान्य सादृश्य के साथ सूक्ष्म सांकेतिक तत्त्वों को महत्त्व दिया जाता है। इसलिये कला-जगत् का एक प्रतीक अनेक स्तरों पर अपना कार्य करता है और अनेक प्रकार की मानसिक छवियाँ उत्पन्न करने में समर्थ होता है।

(७) कलात्मक प्रतीकों में एक ही साथ गोपन और प्रकाशन की क्षमता रहती है, क्योंकि इनका लक्ष्य कभी भी किसी वस्तु को ज्यों का त्यों रखना नहीं रहता है।

(८) ललित कलाओं के बीच काव्यान्तर्गत प्रतीक-विधान में शब्द-प्रतीकों का पृथक् महत्त्व है। ये शब्द-प्रतीक प्रायः व्युत्पन्न प्रतीक होते हैं। इनका उद्भव शब्द-बिम्बों से होता है। इस प्रकार के प्रतीक-विधान में मूल भाव या मूल वस्तु और व्युत्पत्ति से प्राप्त प्रतीकार्थ के सम्बन्ध-सूत्र का निगरण हो जाता है।

(९) स्पष्ट है कि प्रतीकों का सौन्दर्यशास्त्रीय अध्ययन प्रतीकों के दार्शनिक, मनोवैज्ञानिक या समाजशास्त्रीय अध्ययन से भिन्न होता है। दार्शनिक दृष्टिकोण से किये गये अध्ययन में प्रतीक इतने व्यापक अर्थ में प्रयुक्त होता है कि उसके अन्तर्गत हर तरह के शब्द, मुद्रा एवं क्रिया-व्यापार प्रतीक के क्षेत्र में पड़ जाते हैं। तदनन्तर, समाजशास्त्रीय दृष्टि से किए गए अध्ययन में प्रतीकों को रूढ़ रीति-रिवाजों, धर्म-पूजा एवं अन्य सामाजिक अनुष्ठानों से इस प्रकार संबद्ध कर दिया जाता है कि प्रतीकों का व्यक्तिगत मनोरागों से कोई सम्बन्ध ही नहीं बच पाता है। इसी तरह मनोवैज्ञानिक दृष्टि से किए गए अध्ययन में प्रतीकों को व्यक्ति के अचेतन मन, दमित इच्छाओं और मानसिक स्वतःचालन से इस प्रकार मुद्रित कर दिया जाता है कि इन आधारों को स्वीकार कर लेने पर कला-जगत् में अनेक प्रकार की भ्रान्तियों का मार्ग प्रशस्त हो जाता है। इस प्रकार प्रतीकों के सौन्दर्यशास्त्रीय अध्ययन का एक स्वतंत्र रूप है, हालाँकि सौन्दर्यशास्त्र अपने अध्ययन की परिपूर्णता के लिए दार्शनिक, मनोवैज्ञानिक या समाजशास्त्रीय अध्ययन के ग्राह्य अंशों को निःसंकोच स्वीकार करता है।

हम यह देख चुके हैं कि विभु सौन्दर्य की अनुभूति या सूक्ष्म भावों को अभिव्यक्त करने के लिए कला-जगत् में प्रतीकों का सहारा लिया जाता है। इसलिए सूक्ष्म भाव-सौन्दर्य पर प्रलुब्ध छायावादी कविता में प्रतीक-विधान की चेष्टा स्वाभाविक है। किन्तु, अब तक प्रतीकों के नाम पर छायावादी कविता के सामान्य अप्रस्तुतों या अलंकार-प्रणाली के उपमानों का ही अध्ययन होता आया है। अतः प्रतीकों से संबद्ध उक्त तात्त्विक मान्यताओं के आलोक में

छायावादी प्रतीक-विधान पर विचार करने से हमारे सामने कई रोचक बातें उपस्थित होती हैं—

(१) छायावादी कविता में प्रतीकों की अपेक्षा प्रतीकोपम अप्रस्तुतों अथवा प्रतीक-स्वरूप उपमानों का अधिक उपयोग हुआ है, जो प्राय: प्रकृति के विशाल क्षेत्र से गृहीत हैं।

(२) छायावादी कविता में साम्प्रदायिक (जैसे—त्रिकोण, डमरू, शृंग इत्यादि) और साधनामूलक (जैसे—चक्र, ध्यान, द्विदल, आज्ञा, त्रिकुटी इत्यादि) प्रतीकों का प्रयोग बहुत कम स्थलों पर हुआ है।

(३) छायावादी कविता के अनेक प्रतीकों में अर्थ की आत्मनिष्ठ नमनीयता, अत:, अनेकार्थकता है। इसीलिये छायावादी काव्य में लाक्षणिक प्रतीकों का अनेक स्थलों पर चमत्कारपूर्ण प्रयोग हुआ है और उनमें अभिव्यक्ति के नये-नये मार्गों के अन्वेषण की आकुलता व्यक्त हो सकी है।

(४) छायावादी कविता के प्रतीकों में आध्यात्मिक अर्थवत्ता कम है और ऐन्द्रिय प्रत्यक्षात्मकता[1] अधिक है, जबकि रहस्यवादी कवियों तथा सन्तों के प्रतीकों में आध्यात्मिक अर्थवत्ता अधिक है और ऐन्द्रिय प्रत्यक्षात्मकता नगण्य है।

(५) समृद्ध कला-चेतना से संवलित रहने के कारण छायावादी कविता में काव्येतर ललित कलाओं से लिये गये प्रतीकों की संख्या पर्याप्त है। जैसे—संगीत-कला से लिये गये प्रतीक (वीणा, झंकार, तार, प्रभाती, भैरवी, विहाग, मूर्च्छना, मीड़, वंशी), चित्रकला से लिये गये प्रतीक (रंग, रेखा, चित्र, चितेरा, तूलिका) और मूर्त्तिकला से लिये गये प्रतीक (मूर्त्ति, मूर्त्तिकार, पाषाण, इत्यादि)।

(६) छायावादी कविता के कुछ 'परिणत' प्रतीक इस तथ्य को समर्थित करते हैं कि एक कवि अपनी प्रारम्भिक कृतियों में जिन अप्रस्तुतों का प्रयोग बिम्ब की तरह अथवा बिम्बों के धरातल पर करता है, वे ही अप्रस्तुत या बिम्ब प्रयोग की आवृत्ति पाकर उसी कवि की प्रौढ़ या उत्तरकालीन रचनाओं में प्रतीक बन जाते हैं। **महादेवी** के काव्य में दीपक, दर्पण, पिंजर, शलभ और पाहुन ऐसे ही परिणत प्रतीक हैं। इस तरह छायावादी कविता में अनेक 'अप्रस्तुत' बिम्बों की नानार्थ-व्यंजक मूर्त्तिमत्ता छोड़कर एक जैसे प्रयोग की आवृत्ति से प्रतीकोपम अर्थगत निश्चितता पा गये हैं।

(७) छायावादी कविता के प्रतीक-विधान पर यत्र-तत्र उपनिषदों का प्रभाव है, किन्तु इस प्रभाव के बावजूद छायावादी प्रतीकों और औपनिषदिक

१. Sensuous presentation.

प्रतीकों में विचारणीय अन्तर है। छायावादी प्रतीक-विधान में (सर्वचेतनावादी प्रवृत्ति के रहते हुए भी) प्रकृति और चेतना का भेद कुछ न कुछ अंशों में बना रह गया है जबकि औपनिषदिक प्रतीकों में कहीं-कहीं इन दोनों (प्रकृति और परम चेतना) का अभेद मिलता है।

इस प्रकार प्रमुख कला-तत्त्वों के सौन्दर्यशास्त्रीय अध्ययन के आलोक में छायावादी कविता पर विचार करने से जहाँ अनेक उपरिनिर्दिष्ट स्फुट विशेषतायें परिलक्षित होती हैं, वहाँ इन सभी विशेषताओं के समीकरण से यह महत्त्वपूर्ण निष्कर्ष निकलता है कि स्वच्छन्दतावादी प्रवृत्ति से निकट पड़ने के कारण छायावादी कविता में काव्येतर ललित कलाओं के तात्त्विक समावेश की ओर विशेष रुचि है। यह तथ्य इससे भी समर्थित होता है कि छायावादी कवियों ने कविता में काव्येतर ललित कलाओं के पारस्परिक अन्त:संबंध की सिद्धान्ततः स्वीकृति अनेक रूपों में व्यक्त की है। इन कवियों ने अपने गद्य-साहित्य में ललित कलाओं के सामान्य स्वरूप तथा उनके तात्त्विक अन्त:संबंध पर गम्भीर ढंग से सोचने का प्रयास किया है। इस दृष्टि से **प्रसाद, निराला, पन्त** और **महादेवी** की भूमिकाओं तथा निबन्धों के अनेक स्थल अत्यधिक महत्त्व रखते हैं। किन्तु, छायावादी कविता में प्राप्त कला-संगम के इस समृद्ध पक्ष पर अब तक सुचिन्तित, विस्तृत और प्रामाणिक विचार नहीं किया गया है। प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध इसी दिशा में एक विनम्र प्रयास है। मेरी दृढ़ धारणा है कि किसी युग के काव्य के सौन्दर्यशास्त्रीय अध्ययन के लिए काव्येतर कलाओं के साथ उसका जो तात्त्विक अन्त:संबंध अपेक्षित है, वह छायावादी कविता में प्रभूत मात्रा में उपस्थित है, क्योंकि छायावादी युग में काव्य और काव्येतर कलाओं के तात्त्विक अन्त:संबंध की स्वीकृति सैद्धान्तिक और व्यावहारिक—दोनों ही धरातलों पर मिलती है।

इसी दिशा में विचार करने से यह बात सामने आती है कि शैली, शिल्प, अभिव्यक्ति-भंगिमा और प्रेषणीयता के माध्यम की दृष्टि से ललित कलाओं में चाहे जितनी बाह्य भिन्नता हो, परन्तु तात्त्विक दृष्टि से सभी ललित कलाओं में एक प्रच्छन्न अन्त:संबंध है। इस अन्त:संबंध का मूलाधार स्वर-बोध और वर्ण-बोध का पारस्परिक संबंध है। इतना ही नहीं, कलाओं का इतिहास भी यह बतलाता है कि प्रत्येक कला अपने चरम विकास के क्षणों में अन्य ललित कलाओं का आश्रय अधिकाधिक ग्रहण करती है। इस तात्त्विक मिश्रण की क्षमता चित्रकला, संगीत कला और काव्य कला में उत्तरोत्तर बढ़ती जाती है। केवल दो कलायें—स्थापत्य कला और मूर्तिकला—अपनी स्थूलता के कारण तात्त्विक समागम के उस उच्च धरातल पर पहुँचने में कुछ पीछे रह जाती हैं। आशय यह है कि सभी ललित कलाओं का अपना-अपना स्वतंत्र व्यक्तित्व है,

किन्तु, प्रभाववृद्धि और उत्कृष्टता के लिए विविध कला-तत्त्वों का पारस्परिक मिश्रण अनिवार्य हुआ करता है । इस तरह सभी ललित कलाओं के बीच एक तात्त्विक अन्त:संबंध रहने के कारण कविता का मात्र काव्यशास्त्रीय अध्ययन व्यापक चिन्तन और सौन्दर्य-बोध की दृष्टि से पर्याप्त नहीं प्रतीत होता, क्योंकि कविता का काव्यशास्त्रीय अध्ययन कविता को काव्येतर कलाओं के पारस्परिक अन्त:संबंध से पृथक् रखकर या उनके तात्त्विक सन्दर्भ की उपेक्षा कर किया जाता है । अत: कलाओं के पारस्परिक अन्त:संबंध की दृष्टि से कविता का वह सौन्दर्यशास्त्रीय अध्ययन अपेक्षित है, जिसमें कविता को काव्येतर ललित कलाओं के तात्त्विक सन्दर्भ में रखकर देखा-परखा जाता है ।

परिशिष्ट

सहायक ग्रन्थों तथा पत्र-पत्रिकाओं की सूची

सहायक ग्रन्थों तथा पत्र-पकत्रिाग्रों की सूची

संस्कृत

अथर्ववेद
अभिज्ञानशाकुन्तलम्
उत्तररामचरित
ऋग्वेद
ऋतुसंहार
कामसूत्र
किरातार्जुनीयम्
कुमारसंभवम्
तर्कभाषा
देवीभागवत
मालविकाग्निमित्र
मेघदूत
रघुवंशम्
शिवमहिम्नः स्तोत्र
शिशुपालवधम्
साहित्यदर्पण
स्वप्नवासवदत्तम्

हिन्दी

अणिमा, निराला, युग-मन्दिर, उन्नाव, १९४३।
अतिमा, पन्त, भारती भण्डार, प्रयाग, प्रथम संस्करण।
अनामिका, निराला, भारती भण्डार, प्रयाग, संवत् २००५।
अन्तर्जगत्, लक्ष्मी नारायण मिश्र श्याम, लहेरियासराय, प्रथम संस्करण।
अपरा, निराला, साहित्यकार संसद, प्रयाग, संवत् २०१३।
अर्चना, निराला, कला-मन्दिर, इलाहाबाद, १९५०।
अलका, निराला, गंगा पुस्तकमाला, लखनऊ, संवत् १९९३ विक्रम।
आँसू, प्रसाद, भारती भण्डार, प्रयाग, नवम संस्करण।
आकाशदीप, प्रसाद, भारती भण्डार, इलाहाबाद, षष्ठ संस्करण।

आधुनिक कवि, सुमित्रानन्दन पन्त, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, संवत् २०१२।
आधुनिक कवि, महादेवी, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, चतुर्थ संस्करण।
आधुनिक कवि, रामकुमार वर्मा, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, प्रथम संस्करण।
आधुनिक काव्यधारा का सांस्कृतिक स्रोत, डा० केसरी नारायण शुक्ल, काशी, संवत् २००४।
आधुनिक साहित्य, आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी, भारती भण्डार, प्रयाग, प्रथम संस्करण।
आधुनिक हिन्दी कविता में चित्र-विधान, रामयतन सिंह 'भ्रमर', नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, १९६५।
आधुनिक हिन्दी कविता में प्रेम और सौन्दर्य, डा० रामेश्वर लाल खण्डेलवाल, दिल्ली, प्रथम संस्करण।
आधुनिक हिन्दी काव्य में प्रतीक-विधान, श्री नित्यानन्द शर्मा आगरा विश्व-विद्यालय।
आधुनिक हिन्दी काव्य में छन्दयोजना, डा० पुत्तूलाल शुक्ल, प्रथम संस्करण।
आराधना, निराला, साहित्यकार संसद, प्रयाग, प्रथम संस्करण।
इन्द्रजाल, प्रसाद, भारती भण्डार, प्रयाग, तृतीय संस्करण।
उत्तरा, पन्त, भारती भण्डार, प्रयाग, प्रथम संस्करण।
एकतारा, वियोगी, लहेरियासराय, प्रथम संस्करण।
कंकाल, प्रसाद, भारती भण्डार, प्रयाग, अष्टम संस्करण।
कबीर का रहस्यवाद, डा० रामकुमार वर्मा, साहित्य-भवन, इलाहाबाद, १९५१।
करुणालय, प्रसाद, भारती भण्डार, बनारस सिटी, दूसरा संस्करण।
कला क्या है?—तल्स्तोय, हिन्दी रूपान्तर, हिन्दी प्रचारक पुस्तकालय, वाराणसी, १९५५।
कला-विवेचन, कुमार विमल, भारती भवन, पटना, प्रथम संस्करण।
कानन-कुसुम, प्रसाद, हिन्दी पुस्तक भण्डार, लहेरियासराय, तृतीय संस्करण।
कामना, प्रसाद, भारती भण्डार, प्रयाग, पंचम संस्करण।
कामायनी, प्रसाद, भारती भण्डार, प्रयाग, सप्तम संस्करण।
काव्य और कल्पना, डा० रामखेलावन पाण्डेय, पटना, प्रथम संस्करण।
काव्य और संगीत, लक्ष्मीधर वाजपेयी, प्रयाग, १९४६।
काव्य और संगीत का पारस्परिक सम्बन्ध, डा० उमा मिश्र, दिल्ली, १९६२।
काव्य, कला तथा अन्य निबन्ध, प्रसाद, भारती भण्डार, प्रयाग, संवत् २०१०।
काव्य में अप्रस्तुतयोजना, रामदहिन मिश्र, पटना, प्रथम संस्करण।

काव्य में अभिव्यंजनावाद, लक्ष्मी नारायण सुधांशु, तृतीय संस्करण।
क्षणदा, महादेवी वर्मा, भारती भण्डार, इलाहाबाद, संवत् २०१३।
गद्य-पथ, सुमित्रानन्दन पन्त, साहित्य-भवन, प्रयाग, १९५३।
गीत-गुँज, निराला, हिन्दी प्रचारक पुस्तकालय, वाराणसी, द्वितीय संस्करण।
गीतिका, निराला, भारती भण्डार, प्रयाग, चतुर्थ संस्करण।
गुंजन, पन्त, भारती भण्डार, प्रयाग, छठा संस्करण।
ग्रन्थि, पन्त, द्वितीय संस्करण।
ग्राम्या, पन्त, भारती भण्डार, प्रयाग, प्रथम संस्करण।
घनानन्द और स्वच्छन्द काव्यधारा, मनोहरलाल गौड़, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, संवत् २०१५।
चक्रवाल, दिनकर, पटना, १९५६।
चतुरी चमार, निराला, किताब महल, इलाहाबाद, शकाब्द १८८२।
चन्द्रगुप्त मौर्य, प्रसाद, भारती भण्डार, प्रयाग, नवम संस्करण।
चाबुक, निराला, निरुपमा प्रकाशन, प्रयाग, १९६२।
चित्तौड़ की चिता, रामकुमार वर्मा, इलाहाबाद, प्रथम संस्करण।
चित्ररेखा, रामकुमार वर्मा, प्रयाग, १९३५।
चित्राधार, प्रसाद, भारत जीवन पुस्तकालय, ज्ञानवापी, काशी, प्रथम संस्करण।
चिदम्बरा, पन्त, राजकमल प्रकाशन, १९५९।
चिन्तामणि, भाग १ और २, आचार्य शुक्ल, सरस्वती मन्दिर, काशी, संवत् २००६ विक्रम।
चोटी की पकड़, निराला, किताब महल, इलाहाबाद, १९५८।
छायावाद का पतन, डा० देवराज, प्रथम संस्करण।
छायावाद : पुनर्मूल्यांकन, सुमित्रानन्दन पन्त, लोकभारती, इलाहाबाद, १९६५।
जनमेजय का नागयज्ञ, प्रसाद, बनारस, संवत् १९८३।
जीवन के तत्त्व और काव्य के सिद्धान्त, लक्ष्मीनारायण सुधांशु, ज्ञानपीठ, पटना।
ज्योत्स्ना, पन्त, भारती भण्डार, प्रयाग, द्वितीय संस्करण।
झरना, प्रसाद, भारती भण्डार, प्रयाग, सप्तम संस्करण।
तुलसीदास, निराला, भारती भण्डार, प्रयाग, चतुर्थ संस्करण।
त्रिवेणी, आचार्य शुक्ल, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, संवत् २००६।
दीपशिखा, महादेवी, भारती भण्डार, इलाहाबाद, संवत् २०११।
देवी, निराला, श्री राष्ट्रभाषा विद्यालय, काशी, १९४८।
ध्रुवस्वामिनी, प्रसाद, भारती भण्डार, प्रयाग, पन्द्रहवाँ संस्करण।
नये पत्ते, निराला, इलाहाबाद, प्रथम संस्करण।
निरुपमा, निराला, द्वितीय संस्करण।

निर्माल्य, वियोगी, लहेरियासराय, प्रथम संस्करण।
नीरजा, महादेवी वर्मा, भारती भण्डार, प्रयाग, प्रथम संस्करण।
नीहार, महादेवी, साहित्य-भवन, प्रयाग, चतुर्थ संस्करण।
पथ के साथी, महादेवी वर्मा, भारती भण्डार, प्रयाग, प्रथम संस्करण।
परिमल, निराला, गंगा पुस्तकमाला, लखनऊ, प्रथमावृत्ति।
पल्लव, पन्त, इण्डियन प्रेस, प्रयाग, १९३१।
पल्लविनी, पन्त, भारती भण्डार, प्रयाग, तृतीय संस्करण।
प्रतिध्वनि, प्रसाद, झांसी, प्रथम संस्करण।
प्रबन्ध-प्रतिमा, निराला, भारती भण्डार, इलाहाबाद, प्रथम संस्करण।
प्रबन्ध-पद्म, निराला, गंगा पुस्तकमाला, लखनऊ, संवत् २०११ विक्रम।
प्रभावती, निराला, किताब महल, इलाहाबाद, १८८३ शकाब्द।
प्रसाद का काव्य, डा० प्रेमशंकर, भारती भण्डार, प्रयाग, संवत् २०१२ विक्रम।
प्रेम-पथिक, प्रसाद, प्रथम संस्करण।
बेला, निराला, इलाहाबाद, १९४६।
महादेवी का विवेचनात्मक गद्य, महादेवी, इण्डियन प्रेस, प्रयाग, १९४४।
महाराणा का महत्त्व, प्रसाद, भारती भण्डार, प्रयाग, संवत् २०१२, विक्रम।
यामा, महादेवी, प्रथम संस्करण।
युग-पथ, पन्त, भारती भण्डार, प्रयाग, प्रथम संस्करण।
युगवाणी, पन्त, भारती भण्डार, इलाहाबाद, प्रथम संस्करण।
युगान्त, पन्त, अल्मोड़ा, प्रथम संस्करण।
रजतशिखर, पन्त, भारती भण्डार, प्रयाग, प्रथम संस्करण।
रवीन्द्र-कविता-कानन, निराला, बनारस, १९५४।
रश्मि, महादेवी, साहित्य-भवन, प्रयाग, १९४४।
रश्मिबंध, पन्त, राजकमल प्रकाशन, १९५८।
रूपराशि, रामकुमार वर्मा, सरस्वती प्रेस, बनारस, १९३३।
लहर, प्रसाद, भारती भण्डार, प्रयाग, पंचम संस्करण।
वीणा, पन्त, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, १९५८।
विचार और अनुभूति, डा० नगेन्द्र, गौतम बुक डिपो, दिल्ली, प्रथम संस्करण।
विचार-दर्शन, रामकुमार वर्मा, साहित्य निकुंज, प्रयाग, १९४८।
विद्यापति, सम्पादक, मित्र-मजुमदार, नवीन संस्करण, २०१०।
विशाख, प्रसाद, भारती भण्डार, काशी, द्वितीय संस्करण।
वीणा, पन्त, इण्डियन प्रेस, प्रयाग, १९४२।
शिप्रा, जानकीवल्लभ शास्त्री, कला-निकेतन, पटना, १९५७।
शिल्पी, पन्त, प्रथम संस्करण।

श्रीधर पाठक तथा हिन्दी का पूर्व-स्वच्छन्दतावादी काव्य, डा० रामचन्द्र मिश्र, दिल्ली, १९५९ ।

श्री रामकृष्ण वचनामृत, द्वितीय भाग, अनुवादक, निराला, श्री रामकृष्ण आश्रम, धन्तोली, नागपुर, चतुर्थ संस्करण ।

संकेत, रामकुमार वर्मा, दिल्ली, १९४८ ।

संग्रह, निराला, सम्पादक, रामकृष्ण त्रिपाठी, निरुपमा प्रकाशन, प्रयाग, १९६३ ।

सप्तपर्णा, महादेवी, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, १९६० ।

समालोचना-समुच्चय, महावीर प्रसाद द्विवेदी, प्रयाग, १९३० ।

सांध्यगीत, महादेवी, चतुर्थ संस्करण ।

साठ वर्ष : एक रेखांकन, पन्त, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, १९६० ।

साहित्यशास्त्र, डा० रामकुमार वर्मा, भारतीय विद्याभवन, इलाहाबाद, १९५६ ।

साहित्य-सुमन, पं० बालकृष्ण भट्ट, गंगा पुस्तक-माला, लखनऊ, संवत् २०१३ वि० ।

सौवर्ण, पन्त, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, १९५७ ।

स्कन्दगुप्त विक्रमादित्य, प्रसाद, भारती भण्डार, प्रयाग, दसवाँ संस्करण ।

स्वर्णकिरण, पन्त, भारती भण्डार, इलाहाबाद, प्रथम संस्करण ।

स्वर्णधूलि, पन्त, भारती भण्डार, प्रयाग, संवत् २००४ ।

स्वतन्त्र कलाशास्त्र, डा० कान्तिचन्द्र पाण्डेय, चौखम्बा प्रकाशन, वाराणसी, १९६७ ।

हरी बाँसुरी सुनहली टेर, पन्त, राजपाल एण्ड सन्स, दिल्ली, १९६३ ।

हिन्दी काव्य पर आंग्ल प्रभाव, डा० रवीन्द्र सहाय वर्मा, पद्मजा प्रकाशन, कानपुर, प्रथम संस्करण ।

हिन्दी काव्य में अन्योक्ति, डा० संसारचन्द्र, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, १९६० ।

हिन्दी की प्राचीन और नवीन काव्य-धारा, सूर्यबली सिंह, नन्दकिशोर एण्ड ब्रदर्स, बनारस, शारदीय नवरात्र, १९९६ ।

हिन्दी साहित्य, डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी, दिल्ली, १९५२ ।

हिन्दी साहित्य का इतिहास, आचार्य शुक्ल, काशी नागरी प्रचारिणी सभा, संवत् २००३ विक्रम ।

हिन्दी साहित्य : बीसवीं शताब्दी, आचार्य नन्ददुलारे बाजपेयी, भारती भण्डार, प्रयाग, प्रथम संस्करण ।

(पत्र-पत्रिकायें)
अवन्तिका, काव्यालोचनांक, पटना, वर्ष २, अंक १, जून, १६५४।
छायावाद (मासिक), काशी, संवत् १६६६।
जागरण (पाक्षिक), काशी, वर्ष १, अंक १ और २, १६३२ ईसवी।
प्रतीक, अंक १०।
विशाल भारत, भाग २३, अंक ३, संवत् १६६६।
श्री शारदा, जबलपुर, संवत् १६७७।
समन्वय, वर्ष ४, अंक १०, सौर कार्त्तिक, संवत् १६८२।

बंगला

कृत्तिवास रामायण।
गीतांजलि, रवीन्द्रनाथ ठाकुर, विश्वभारती ग्रन्थालय, कलकत्ता।
भारते शक्तिपूजा, स्वामी सारदानन्द, उद्बोधन कार्यालय, कलकत्ता, प्रथम संस्करण।
रवीन्द्र-काव्य-प्रवाह, प्रथम खण्ड, प्रमथनाथ विशी, मित्रालय प्रकाशन, कलकत्ता।
वीर वाणी, विवेकानन्द, कलकत्ता, चतुर्दश संस्करण।
संचयिता, रवीन्द्रनाथ ठाकुर, विश्वभारती, षष्ठ संस्करण।

ENGLISH

Aesthetics And History, *Bernard Berenson*, London, 1950.
A History of Modern Philosophy, Mayer, Eurasia Publishing House, New Delhi, 1966.
A History of Political Theory, *George H. Sabine*, 1st edition.
Art and Industrial Revolution, F.D. Klingender, London, 1947.
Baudelire in 'French Symbolist Poetry' translated by C. F. MacIntyre, Berkeley, University of California Press, 1958.
Beauty and Other Forms of Values, *S. Alexander*, London, 1933.
Biographia Literaria, Coleridge, edited by Ernest Rhys, J. M. Dent & Sons, London, 1939.
Blake Studies, *Geoffrey Keynes*, Rupert Hart-Davis, London, 1949.

Literary Criticism : A Short History, Wimsatt & Cleanth Brooks, Oxford Book Company, New Delhi, 1964.

Literature And Psychology, *F. L. Lucas*, London, 1951.

Literary Essays of Ezra Pound, edited by *T. S. Eliot*, London, 1st edition.

Literary Symbolism, edited by *Maurice Beebe*, Wordsworth Publishing Company, San Francisco, 1960.

Plotinus and NeoPlatonism, Philippus Villiers Pistorius, Bowes & Bowes, Cambridge, 1952.

Principles of Literary Criticism, *I. A. Richards*, London, 1955.

Romantic Image, *Frank Kermode*, Kegan Paul, London, 1957.

Romanticism, *Lascelles Abercrombie*, London, 1963.

Rossetti, *Lucien Pissarro*, London, 1st edition.

Rousseau and Romanticism, Irving Babbitt, Meridian Books, New York, 1955.

Sadhana, *Rabindranath Tagore*, London, 1961.

Schumann and the Romantic Age, Marcel Brion, translated by Geoffrey Sainsbury, Collins, London, 1956.

Selected Prose, *T. S. Eliot*, Penguin Books, 1953.

Shakti And Shakta, *Sir John Woodroffe*, Madras, 1929.

Sound And Poetry, edited by *Northrop Frye*, New York, 1957.

Speculations, *T. E. Hulme*, Kegan Paul, London 1960.

Symbolisme : from Poe to Mallarme, *Joseph Chiari*, London, 1956.

The Achievement of T. S. Eliot. *F. O. Mathieson*, Oxford University Press, 1959.

The Art of William Blake, *Enthony Blunt*, Colembia University Press, 1959.

The Beautiful, The Sublime & The Picturesque In Eighteenth Century British Aesthetic Theory, *Walter John Hipple*, Carbondale, 1957.

The Decline and Fall of the Romantic Ideal, *F. L. Lucas*, Cambridge, 1963.

The French Revolution, *George Pernoud* and *Sabine Flaissier*, London, 1960.

The French Revolution, *Thomas Carlyle*, London, 1837.

The French Revolution and English Literature, *Edward Dowden*, London, 1916.

The Heritage of Symbolism, *S. M. Bowra*, Macmillan, London, 1st edition.

The Last Romantics, *Graham Hough*, London, 1961.

The Literary Symbol, *W. Y. Tindall*, Colembia University Press, New York, 1955.

The Mirror and The Lamp : Romantic Theory and the Critical Tradition, M. H. Abrams, Norton Library, New York, 1958.

The Modern Movement in Art, *R. H. Wilenski*, London, 1956.

The Music of Poetry, *T. S. Eliot*, Glasgow University, 1942.

The Oxford Companion to English Literature, Compiled and edited by *Sir Paul Harvey*, Oxford, 3rd edition.

The Philosophy of Fine Art, *Hegel*, translated by Osmaston, G. Bell & Sons, London, Parts 1, 2, 3 & 4, 1920.

The Philosophy of Literary Form, *Kenneth Burke*, New York, 1957.

The Poetic Image, *C. D. Lewis*, London, 1947.

The Religion of Man, *Rabindranath Tagore*, The Hibbert Lectures for 1930.

The Romantic Agony, *Mario Praz*, The Fountana Library, 1962.

The Romantic Conflict, Allan Rodway, Chatto & Windus, London, 1963.

The Romantic Imagination, *S. M. Bowra*, Oxford University Press, London, 1961.

The Romantic Revolt, *Charles Edwyn Vaughan*, London, 1907.

The Romantic Survival, *John Bayley*, London, 1957.

The Romantic Theory of Poetry, *A. E. Powell,* London, 1926.
The Romantic Triumph, *T. S. Omand,* London, 1st edition.
The Selected Poetry of Lord Byron, edited by *Leslie A. Marchand*, New York, 1951.
The Soul of Music, *R. W. S. Mendl,* London, 1950.
The Symbolist Movement in Literature, *Arthur Symons,* E. P. Dotton & Co. New York, 1958.
The Tightrope Walkers, *Georgio Melchiori,* Kegan Paul, London, 1st edition.
Traces of Oriental Mysticism in the Poetry of The English Romantic Revival, *Dr. K. P. Ambastha,* Edinburgh, 1956. (Unpublished Thesis).

Magazine

The Spectator, June and July, 1712.

अंग्रेज़ी-हिन्दी शब्दार्थ-संकेत

Absolute=निरपेक्ष परम
Absolute Beauty=परम सुन्दर
Action and Content=कार्य और विषय
Active Imagination=संकल्पित कल्पना
Adolescence=कैशोर भावना
Aesthetic=नन्दतिक
Aesthetic Creative Imagination=नन्दतिक रचनात्मक कल्पना
Aesthetic Distance=नन्दतिक ताटस्थ्य, ताटस्थ्य-सिद्धान्त
Aesthetic emancipation=नन्दतिक उन्मुक्ति
Aesthetic opposition=सौन्दर्यशास्त्रीय प्रतिपक्ष
Animism=सर्वचेतनावाद
Artistic Intuition=कलात्मक सहजज्ञान
Auditory Image=श्रावण बिम्ब
Cacophony=श्रुतिकटुता
Classicism=परम्परावाद, शास्त्रीयतावाद
Colour-contrast=वर्ण-व्यतिरेक
Common Emotions=सामान्य संवेग
Communication=प्रेषणीयता
Content=विषय
Correspondence=इन्द्रिय-बोधों का पारस्परिक संवाद
Cosmic Music=सार्वभौम संगीत
Dermal Psyche=त्वक्-चेतना
Dissonance=विस्वरता, असंगति
Emotion=संवेग, भावना
Empathic Image=समानुभूतिक बिम्ब
Esemplasy=सम्मूर्त्तन, कल्पित मूर्त्तविधान
False reality=संवृति-सत्य
Fancy=अतिकल्पना (उपकल्पना, ललित कल्पना)

Form=विधान
Harmony=संगति, सामंजस्य
Harmonic expansion=संहृतिमूलक विस्तार
Horizontal symbol=तुल्यार्थक वस्तुसम्पृक्त प्रतीक
Id=इद, कामतत्त्व
Idea=प्रत्यय
Ideated sensation=काल्पनिक संवेदन
Images of Sound=श्रावण बिम्ब
Imagism=बिम्बवाद
Inner Melody=आन्तरिक लय
Interlaced style=अन्तरावेष्टित शैली
Internalization=आन्तरीकरण
Kinaesthetic Image=वेगोद्भेदक बिम्ब
Latent=अप्रकट, अव्यक्त, प्रच्छन्न
Melic impulse=गीति-वेग
Melos=संगीतात्मकता
Metaphysics=अधिदर्शन
Mystic Aesthete=रहस्यवादी सौन्दर्यशास्त्री
Objective corelative=वस्तुसम्पृक्त आधार
Opsis=दृश्यगुण
Passion=आवेग
Performance=अनुष्ठान
Personification=मानवीकरण
Pictorial Leap=चित्रात्मक उत्प्लवन
Poetic Sense=काव्य-बोध
Practical Creative Imagination=व्यावहारिक रचनात्मक कल्पना
Precursor=पूर्वपुरुष
Primary Pleasure=प्राथमिक आनन्द
Prosaic=गद्यात्मक
Reason=तर्क
Representational Arts=प्रतिरूपणात्मक कलाएँ
Reproduction=पुन:प्रस्तुतीकरण
Reproductive Imagination=पुनर्निर्मायक कल्पना
Romanticism=स्वच्छन्दतावाद

Romantic Revolt=स्वच्छन्दतावादी क्रान्ति
Romantic Survival=स्वच्छन्दतावादी उद्वर्त्तन
Romantic Triumph=स्वच्छन्दतावादी जयघोष
Secondary Pleasure=द्वितीय आनन्द
Sensation=संवेदन
Sense of Colour=वर्ण-बोध, वर्ण-परिज्ञान
Sensuous Presentation=ऐन्द्रिय प्रत्यक्षात्मकता, ऐन्द्रिय प्रत्यक्ष, ऐन्द्रिय प्रतिरूपण
Sensuous Configuration=ऐन्द्रिय मूर्त्तता
Serpent Power=कुंडलिनी शक्ति
Sonic Terms=ध्वन्यात्मक शब्द
Spirit=परम चेतना
Spiritual Significance=आध्यात्मिक अर्थवत्ता
Static Image=स्थितिशील बिम्ब, स्थिर बिम्ब
Sublime Image=उदात्त बिम्ब
Sublimated Symbol=उन्नीत प्रतीक
Super-ego=अति अहम्
Survival=उद्वर्त्तन
Symbolic reference=प्रतीक-सन्दर्भ
Synaesthetic Image=सहसंवेदनात्मक बिम्ब, इन्द्रियसंक्रान्तिमूलक बिम्ब
Tonality=स्वर-संगति
Traditional Attitude=पारम्परीण संस्थिति
Trite Image=जीर्ण बिम्ब
Vertical symbol=सम्मूर्त्तनशील प्रतीक
Visual=चाक्षुष, दृश्य

नामानुक्रमणिका